जैनागम सूक्ति-सुधा

प्रथम भाग

संग्राहकः

जैन दिवाकर, बाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक
स्वर्गीय जैनाचार्य श्री १००८ श्री अमोलक
ऋषि जी महाराज के सुशिष्य
मुनि श्री कल्याण ऋषि जी

टीका, अनुवाद, पारिभाषिक-कोष, व्याख्या आदि के
कर्त्ता और संपादक.
रतनलाल संघवी
न्यायतीर्थ-विशारद

—:०:—

वीराब्द २४७७
अमोल सं १५

दीपमालिका २००७
ता. ९-११-१९५०

समपण

तपो निधि, बाल ब्रह्मचारी, साहित्य सेवी,

आचार्य प्रवर, पूज्य गुरु देव श्री १००८ श्री;

स्वर्गीय अमोलक ऋषि जी महाराज के

पुनीत चरण कमलों में—

परम आराध्य देव !

आप ही की सत् कृपा से मेरी यह आत्मा मोक्ष-पथ की पथिक बन सकी है, सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र की आराधना करने वाली हो सकी है, दुर्लभ मुनि पद और वीतराग-वाणी को प्राप्त कर सकी है, इस प्रकार आप जैसे महान् सन्त और गुरु देव के अनन्य उपकार और सात्विक प्रेम से आकर्षित होकर श्री संघ तथा जनता की सेवा के लिए आप के पवित्र चरण कमलों में श्रद्धा के साथ यह ग्रंथ समर्पित है ।

रायचूर
दीपमालिका २००७

लघु—सेवक.
मुनि कल्याण ऋषि.

धन्यवाद

इन प्रेमी सज्जनों ने उदारता पूर्वक ज्ञान प्रचार के लिये और धार्मिकता के विकास के लिये इस ग्रंथ के प्रकाशन के लिये निम्न प्रकार से आर्थिक सहायता प्रदान की है; जिसके लिये धन्यवाद के साथ अपना आभार प्रकट करता हूँ।

६२५) श्री बोहरा ब्रदर्स, रायचूर,
३७५) श्री. माणकचंद जी पूसालालजी, रायचूर.
३७५) श्री जैन संघ, सिंधनूर (जिला-रायचूर)
२५०) श्री बस्तीमलजी मूथा की धर्म पत्नी श्री पतासा बाई की ओर से, रायचूर.
२५०) श्री. राजमलजी खेमराजजी भंडारी; रायचूर,
२५०) ,, तेजमलजी उदयराजजी रूणवाल, रायचूर.
२५०) ,, गुलाब चन्दजी, चौथमलजी बोहरा रायचूर.
२५०) ,, जैन संघ; गजेन्द्रगढ़ (जिला धारवाड़)
२५०) श्री रवींवराजजी चौरडिया की धर्मपत्नी श्री भंवरीबाई की ओर से, मद्रास.
२५०) श्री सलहराजजी रांका की धर्मपत्नी श्री दाखाबाई की ओर से, मद्रास.
२५०) श्री जयवंतमलजी चौरडिया के सुपुत्र श्री मोहनलालजी, मद्रास
१२५) श्री कालुरामजी चाँदमलजी मूथा, रायचूर.
१२५) ,, नेमिचंद जी हीरालाल जी, रायचूर
६२॥) ,, लालचंद जी बाघमार की धर्मपत्नी श्री सूरजबाई की ओर से, रायचूर
६२॥) श्री सज्जनराजजी किशनलालजी, रायचूर.

निवेदक
संपादक.

प्रतियां—परिचय और सूचना

[जिन आगम-प्रतियों से ये सूक्तियाँ संकलित की गई हैं, उनका परिचय और तत्सम्बन्धी सूचनाएँ इस प्रकार हैं]

१—दशवैकालिक सूत्र और २ उत्तराध्ययन सूत्रः

पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज द्वारा संपादित और लाला ज्वाला प्रसाद जी तथा जैन शास्त्र माला कार्यालय लाहौर द्वारा क्रम से प्रकाशित।

३—सूयगडाङ्ग सूत्रः

स्वर्गीय आचार्य श्री जवाहिरलाल जी महाराज द्वारा संपादित और श्री संघ राजकोट द्वारा प्रकाशित।

४—आचाराङ्ग सूत्रः

सिद्ध-चक्र साहित्य प्रचारक समिति बम्बई द्वारा प्रकाशित।

५—उववाइ सूत्र, ६ ठाणांग सूत्र और ७ नंदी-सूत्रः

स्वर्गीय आचार्य श्री अमोलख ऋषि जी महाराज द्वारा अनुवादित और लाला जैन-शास्त्र भंडार हैदराबाद द्वारा प्रकाशित।

सूचनाएँ

१—सूयगडाङ्ग-सूत्र की सूक्तियाँ केवल प्रथम श्रुत स्कंध में हा उत्तराध्ययन सूत्र की सूक्तियाँ प्रथम से बतीस अध्ययन में से ही संकलित गई हैं।

२—आचारांग सूत्र की सूक्तियाँ, बम्बई की प्रति में जिस क्रम से यच दिया गया है, उसी क्रम से संख्यानुसार उद्धृत की गई हैं।

३—उववाई-सूत्र की सूक्तियाँ केवल सिद्ध---वर्णन में से ही ग्रहण की गई हैं।

४—नंदा सूत्र की केवल प्राथमिक मंगलाचरण की गाथाओं में से ही छ एक सूक्तियाँ ली हैं।

५—ठाणाङ्ग सूत्र की सूक्तियाँ स्थूल दृष्टि कोण से ही एकत्र की गई हैं।

६—इन सात सूत्रों में संग्रहित सूक्तियों के अलावा आर भी अनेक क्तयाँ हैं, जिन्हें यथा समय सुविधानुसार अन्य सूत्रों की सूक्तियों के साथ द्वितीय भाग में संकलित करने की भावना है।

संकेत-परिचय

द.	दशवैकालिक	सूत्र
उ.	उत्तराध्ययन	,,
सू.	सूयगडाङ्ग	,,
आ.	आचाराङ्ग	,,
उव.	उववाइ	,,
ठाणां.	ठाणाङ्ग	,,
नं.	नंदी	,,

"सूत्र वाचक" "अक्षर" के आगे पहली संख्या "अध्ययन" का नंबर बतलाती है और दूसरी संख्या उसी अध्ययन की गाथा का नंबर समझाता है।

उ. उद्देशा

उ. १ = उद्देशा पहला
उ २ = उद्देशा दूसरा
उ ३ = उद्देशा तीसरा
उ ४ = उद्देशा चौथा
उ ५ = उद्देशा पांचवां
उ ६ = उद्देशा छट्ठा

इसी प्रकार 'उ' के आगे "उद्देशा" के नंबर के आगे की संख्या उसी उद्देशा के उस सूत्र का क्रम नंबर समझाती है।

= गद्य

नं. संख्या = नंदी सूत्र की प्रारंभिक गाथाओं के क्रम नंबर को समझाती है।

= उववाइ सूत्र का सिद्ध वर्णन।

सिद्ध. संख्या = उववाइ सूत्र के सिद्ध-वर्णन संबंधी गाथाओं के क्रम नंबर समझना।

ठा० संख्या = ठाणांग सूत्र के ठाणों का क्रम नंबर समझना।

ठा० संख्या-संख्या= ठाणाङ्ग सूत्र के ठाणों के सूत्रों का क्रम नंबर है।

मेरा निवेदन

सम्माननीय पाठक गण !

आज आपकी सेवा में यह जैनागम सूक्ति सुधा प्रथम भाग प्रस्तुत करते हुए मुझे अपूर्व आनंद अनुभव हो रहा है।

पुस्तक का प्रमुख और सर्वोत्तम ध्येय जनता का नैतिक धरातल ऊँचा उठाना और वास्तविक आत्म-शांति का अनुभव कराना है। जिससे कि चारित्र शीलता के साथ जन साधारण की सेवा-प्रवृत्ति का विकास हो।

जैन-धर्म और जैन दर्शन की मान्यता है कि बिना चारित्र शीलता के जनता की सेवा वास्तविक अर्थ में नहीं हो सकती है। चारित्र-शीलता, अनुशासन-प्रियता, और सेवा-वृत्ति ही किसी भी राष्ट्र की स्थायी नींव होती है, जिसके आधार पर ही राष्ट्र की सभ्यता, संस्कृति, शांति और समुन्नति का सर्वतोमुखी विकास हो सकता है। नैतिक धरातल के अभाव में राष्ट्र का पतन ही होता है, उन्नति नहीं हो सकती। आज भारतवर्ष को जो नानाविध आर्थिक, सामाजिक और अन्य कठिनाइयों का गंभीर अनुभव हो रहा है, उसके मूल में नैतिकता का और सात्विकता का अभाव ही कारण है। जैन धर्म निवृत्ति का जो उपदेश देता है, उसका तात्पर्य जीवन में निष्क्रियता या अकर्मण्यता से नहीं है, बल्कि अनासक्तता और सात्विकता पूर्ण नैतिकता वाला जीवन व्यतीत करते हुए जनता की सर्व-विधि सेवा करना जैन धर्म के अनुसार सच्ची प्रवृत्ति है, और ऐसी प्रवृत्ति ही आत्म-शांति प्रदान कर सकती है। ऐसी प्रवृत्ति वाले के लिए कहा गया है कि:—

"जे आसवा ते परिस्सवा" और "समियं ति मन्नमाणस्ससमिया वा असमिया वा समिआ होई।" अर्थात् जिन्हें साधारण तौर पर आश्रव कहा जाता है और जिसे मिथ्यात्व माना जाता है, वे ही कार्य और प्रवृत्ति "अनासक्त और नैतिकता" वाले के लिये संवर तथा सम्यक्त्व बन जाया करते हैं। अतएव की निवृत्ति का अर्थ अकर्मण्यता एवं निष्क्रियता नहीं माना जाय।

महात्मा गाँधी का जीवन अनासक्त और निवृत्ति वाला होता हुआ भी महती प्रवृत्ति वाला ही था, इसी तरीके से जीवन का व्यतीत करना, जीवन में उच्च से उच्च गुणों का स्थायी रूप से विकसित करना, नैतिकता तथा सात्विकता को आधार बना कर जीवन को आदर्श बनाना, यही इस पुस्तक का तात्पर्य और उद्देश्य है। आशा है कि पाठकगण इससे समुचित लाभ उठावेंगे।

पुस्तक-रचना के समय यह दृष्टिकोण रक्खा गया है कि बालक, विद्यार्थी, अध्यापक, श्रावक, श्राविका, साधु, साध्वी, व्याख्याता, उपदेशक, लेखक और जन साधारण सभी के लिये पुस्तक उपयोगी हो। इसीलिए टीका, छाया और पारिभाषिक शब्द कोष (व्याख्या-कोष)—की रचना की गई है। प्राकृत शब्द कोष सार्थ और मूल सूक्तियों की संस्कृत—छाया भी देने का पूरा विचार था। परन्तु पुस्तक की पृष्ठ-संख्या आशा से अधिक बढ़ जाने के कारण यह विचार अभी स्थगित ही रखना पड़ा है। प्राकृत-शब्द कोष तैयार किया जाकर प्रेस में दिया ही जाने वाला था; परन्तु अन्तिम समय में उसे रोक देना पड़ा।

सभी सूक्तियां अकार आदि क्रम से—कोष पद्धति से—परिशिष्ट नं. १ में दी है जिससे कि स्वाध्याय करने वालों के लिये और अनुसंधान करने वालों के लिए सुविधा रहे।

मूल शाब्दिक स्वरूप समझाने के लिये शब्दानुलक्षी अनुवाद भी दिया है। टीका को व्यवस्थित समझाने के लिए टीका में आये हुए पारिभाषिक शब्दों का व्याख्या दी है।

इस प्रकार जन साधारणके लिये यह पुस्तक उपयोगी प्रतीत हुई तो दूसरे संस्करणमें—संस्कृत छाया और प्राकृत शब्द कोष भी जोड़ने का विचार है । सूक्तियों की प्रामाणिकता के लिये और मूल स्थान का अनुसंधान करने के लिये प्रत्येक सूक्ति के नीचे आगम-नाम, और अध्ययन का नंबर तथा गाथा का नंबर तक दे दिया गया है । जिससे कि व्याख्यान देते समय और निबन्ध-लेख आदि लिखते समय सूक्तियों का समुचित उपयोग किया जा सके ।

पुस्तक में अनेक स्थानों पर विषय का पिष्ट-पेषण सा प्रतीत होता है, इसका कारण अनेक सूक्तियों की सदृश स्थिति है; जिससे कि विवशता है ।

पुस्तक के निर्माण करने में श्री वीर वर्धमान श्रमणसंघ के प्रधान जैनाचार्य पंडितवर श्री आनन्द ऋषिजी महाराज के आज्ञानुवर्ती मुनिश्री कल्याण ऋषिजी महाराज और मुनिश्री मुलतान ऋषिजी महाराज और महासतीजी प्रवर्तिनीजी श्री सायर कुंवर महाराज का सहयोग और सहानुभूति प्राप्त रही है; अतएव इन संतों का मैं आभारी हूँ ।

यदि इनका कृपा—पूर्ण सहयोग नहीं होता तो पुस्तक इस रूप में शायद ही उपलब्ध हो सकती थी । मुनि श्री कल्याण ऋषिजी महाराज बाल ब्रह्मचारी हैं, विनयी हैं, साहित्यानुरागी हैं और भद्र प्रकृति के साधु हैं ।

इसी प्रकार मुनि श्री मुलतान ऋषिजा महाराज योग्य सलाहकार, दीर्घ-दर्शी, विवेकी और व्यवहार कुशल हैं ।

जैनाचार्य कविवर श्री नागचन्द्रजा महाराज की भी समय समय पर उत्तम सलाहें प्राप्त होती रही हैं, अतएव उन्हें भी धन्यवाद है ।

पुस्तक की छपाई सम्बन्धी सभी प्रकार की व्यवस्था करनेके "जैनप्रकाश बम्बई" के सहसंपादक श्रीयुत रत्नकुमारजी 'रत्नेश' ने काफी श्रम उठाया है, इसके लिये उनका भी आभार प्रदर्शित करता हूँ।

जिन सात आगमोंकी प्रतियों से ये सूक्तियाँ संग्रहित की गई हैं उनके संपादकों का और प्रकाशकों का भी मैं कृतज्ञ हूँ।

कलापूर्ण छपाई और शुद्धि की ओर मेरा खास ध्यान रहा है, और इसके लिये प्रयत्न तथा अपेक्षाकृत अधिक खर्च भी किया है, फिर भी त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है, इसके लिये पाठक गण क्षमा करें; और उन्हें सुधार कर पढ़नेकी कृपा करें।

पुस्तक की त्रुटियों और अशुद्धियों के संबंधमें पाठक गण मुझे लिखने की कृपा करेंगे तो मैं उनका परम कृतज्ञ रहूँगा, तथा सूचनानुसार दूसरी आवृत्ति में सुधारने का प्रयत्न करूँगा।

अन्तमें यही निवेदन है कि यदि इस पुस्तक से पाठकों को कुछ भी लाभ पहुँचा तो मैं अपना यह श्रम साध्य सारा प्रयत्न सफल समझूंगा। ॐ शान्ति !

विजयदशमी,
संवत् २००७

विनीत

—•—

विषय--सूची

(सूक्तियाँ-संबंधी)

—०—

नोट :—कुल सूक्तियों की संख्या ९२५ है।

परिशिष्ट

शुद्धि-पत्र

सूचना :—१—पुस्तक में ध्यान पूर्वक प्रुफ संशोधन करनें पर भी कई एक त्रुटियाँ रह गई हैं, अतएव कृपालु पाठक सुधार कर पढ़ने की कृपा करें।

२ :—छपते समय चलती मशीन में भूमिका भाग में और पुस्तक में "काना, मात्रा अनुस्वार, रेफ, ऋ," आदि कई एक चिह्न अत्यधिक मात्रा में अनेक स्थानों पर टूट गये हैं, यदि इन त्रुटित-मात्राओं का शुद्धि पत्र तैयार किया जाता तो बहुत बड़ा शुद्धिपत्र तैयार हो जाता, इसलिये ध्यान पूर्वक मात्राओंको यथा स्थान पर जोड़ते हुए सुधार कर पढ़ने का प्रार्थना है।

३:—शुद्धि-पत्र में नीचे पृष्ठ की पंक्तियों की गणना में " पृष्ठ संख्या, सूत्र संख्या, और संबंध निर्देश भी" एक एक पंक्ति के रूप में गिने हैं, यह बात ध्यान में रहे।

भूमिका भाग

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
२	८	वज्ञान	विज्ञान
४	२२	आसाधारण	असाधारण
५	२	बग	बर्ग
६	२	विश्क	विश्व
८	५	दाव	दान
९	२३	प्रेमा	प्रेमी
९	२३	बखूबा	बखूबी

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
१०	२७	रूपान्तर	रूपान्तर हैं
११	१२	अनंतनंत	अनंतानंत
११	२९	वकास	विकास
१२	७	अ ंत	अनंत
१२	२३	मक्त	मुक्त
१२	२५	होती	होती है
१४	१	४१	१४
१४	१८	जता	जाता
१६	१५	इम	इस
१६	२३	सहचरी	सहचारी
१६	२६	अनित्य	अनित्यत्व
१७	४	जता	जाता
२०	२०	पराक्षण	परीक्षण
२३	२	दृश्ययान	दृश्यमान
२४	२६	सा	सो
२४	२७	जावन	जीवन
२५	२४	शली	शैली
२६	३	में	में
२६	१७	२००९	२००७

———

पुस्तक-भाग

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
३	८	सट्ठे	सेट्ठे
४	१२	बधू	बंधू
४	२५	णदो	णंदो
५	२२	मुणा	मुणी
८	१३	कृति	आकृति
२८	१२	सांसार	संसार
२९	२०	लसएज्जा	लूसएज्जा
३६	२५	विइं	विरइं
३९	१०	स्थिति	स्थित
४२	१९	सिद्ध	सिद्धे
५१	१६	विदित्तणं	विदित्ताणं
५१	२३	रज्जमण	रज्जमाण
५१	२३	वरज्जइ	विरज्जइ
५५	२	अणुत्तर	अणुत्तरे
५७	३	लभज्जा	लभेज्जा
६३	११	एभूहिं	भूएहिं
६४	१६	अणयाण	अणियाण
७५	३	सं	मुसं
७७	३	आलाव	आलावे
७७	११	पोलना	बोलना
८०	८	ज०	द०
८३	११	काया	मन, वचन, काया
८४	१०	इत्थाणं	इत्थीणं

पृष्ठसंख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
८४	१८	मुवयति	मुवयंति
८५	२२	तो	तो भी
८६	१३	आहार	आहारं
८९	३	म	मे
९०	२२	निवइय	निवइयं
९३	१२	हुवन्ति	हवन्ति
९४	८	तमं	तुमं
९४	२३	अभिपत्थएज्ज	अभिपत्थएज्जा
९५	२४	कर्मण्य	कर्त्तव्य
१०६	१८	वयवी	वेयवी
१०६	२५	धम्म	धम्मं
१११	३	सविज्ज	सेविज्ज
११४	१६	अवहं	अवराहं
१२२	३	सवं	सव्वं
१२४	९	धितिम	धितिमं
१२४	१९	सवएज्जा	संवएज्जा
१२७	१९	असंसत्त	असंसत्तं
१२९	३	मव	मेव
१३२	१७	अत्तामण	अत्ताण
१३४	३	वण्ण	वण्णं
१३४	२३	नाइवट्टेज्ज	नाइ वट्टे ज्जा
१३५	११	धौर	और
१३५	१३	सणे	सेणे
१३५	२२	म	मे
१३९	१५	अभिसधए	अभिसंधए
१४१	२६	ठाण	ठाणं

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
१४२	१०	धर्म ध्यान	धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान
१४३	२२	मार्यादा	मर्यादा
१४३	२६	एगत	एगंत
१४३	२७	बज्झिज्ज	बुज्झिज्ज
१४३	२७	लायस्स	लोयस्स
१४४	१५	रीती	रीति
१४४	२४	आर्त्तध्यान	आर्त्तध्यान आर रौद्र ध्यान
१४५	३	गाच्छिज्जा	गच्छिज्जा
१४५	७	भावनाओं से	भावनाओं से से दूर रहो
१४५	१०	अप्पग	अप्पगं
१४७	२४	अणुक्कसई	अणुक्कसाई
१४८	२१	असक्ति	आसक्ति
१५४	४	समाहिपत्त	समाहि पत्ते
१५४	१८	सधए	संधए
१६०	४	सजमे	संजमे
१६५	५	अपनी	अपने
१६६	२४	हुरिमं	हिरिमं
१६६	२४	पडिसंलणे	पडिसंलीणे
१६७	१७	श्राद्धावान्	श्रद्धावान्
१६८	२२	मोहावी	मेहावी
१७०	५	रय	रयं
१७१	६	कम्मर्हि	कम्मेर्हि
१७३	२४	संया	सया

ॐ

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
१७५	२४	पडा समाणे	पडाग समाणे
१८१	२५	पणाए	पणए
१८२	१३	माहिय	माहिय
१८७	३	रूव	रूवं
१८८	२४	वचन को	वचन और काया को
१९१	२७	जा	जो
१९१	२८	अकलियं	अकालियं
१९३	१०	समहि	समाहि
११९३	१८	इदिए	इंदिए
१९३	१९	ख	खु
१९८	२०	मुल	मूल
१९८	२१	कर्त्त	कर्त्ता
२००	१०	पर	परं
२०१	१४	मध्य	मध्यम और उत्कृष्ट
२०१	२४	वदंति	वेदंति
२०४	९	अमणुन्ना	अमणुन्न
२०४	९	मह	माहु
२०४	२३	कुत्ता	वुत्ता
२०४	२५	उ, २३;	उ, २३; ५३,
२०६	३	वेराणु बधीणि	वेराणु बंधीणि
२०७	३	पडिग्घाओ	पंडिग्घाओ
२०८	३	दसी	दंसी
२०८	१४	आत्तणं	अत्ताणं
२०८	१४	समुक्कस	समुक्कसे
२१०	२२	दंसा	दंसी
२१०	२४	मी	भी

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
२१०	२६	अविना भाव	अबिना भाव
२१६	८	इम	इमे
२१९	५	काम भोगणु	काम भोगाणु
२१९	१९	इत्थसु	इत्थिसु
२२०	३	फलां	फला
२२०	२८	जंत	जंति
२२२	१९	कलुमार	कलुसाहमा
२२४	१३	थम्मा	थम्भा
२२६	१५	उ, १. ३४,	उ, १, १४,
२२८	६	पहुंचना	पहुंचाना
२२८	८	चरमणो	चरमाणो
२२९	१७	मल	मूल
२३१	१८	वभव	वैभव
२३३	७	तष्णा	तृष्णा
२३३	१२	लोभ	लोभं
२३७	७	समारंम	समारंभ
२३७	१९	भोगणं	भोगाणं
२४०	१६	परियट्टइ	परियट्टई
२४१	१३	भोगा	भोगों
२४५	३	परिभवइ	परिभवई
२४५	१०	पावया	पाविया
२४५	१७	वत्ति	वृत्ति
२४८	२५	दिट्ठो	दिट्ठी
२५२	७	महारभयाए	महारंभयाए
२५२	९	कुणिम	कुणिमा
२५४	१४	मढे	मूढे
२५५	८	लुष्पन्ति	लुप्पन्ति

पृष्ट संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
२५५	१५	नइतुट्टंति	नाइतुट्टंति
२५६	५	मढ़े	मूढ़े
२५६	१६	तिस्कार	तिरस्कार
२५६	१८	बाहरियं	बाहिरियं
२५७	२१	सू०, २१.	सू०, २, २१
२५८	४	त	तं
२५८	११	मरणहिं	मरणेहिं
२५८	२६	बद्धामो	बुद्धामो
२५९	२२	उज्जाणसि	उज्जाणंसि
२६०	२०	पकुव्वमाणे	पकुव्वमाण
२६१	२७	इन्दीय	इन्द्रिय
२६२	१३	सू, १, ११७;	सू०, १, १७,
२६२	२६	उ०, १०,	सू०, १०,
२६४	२४	सू; १, २२,	सू, १, २३;
२६५	१०	दुक्ख	दुक्खे
२६६	३	उज्झमाणं	डज्झमाणं
२६७	३	नाएसु	नरएसु
२७१	२३	असंबिभागी	असंविभागी
२७४	१३	उ, २३, ३६;	उ; २३, २६
२७९	१४	कुग्गाहिए	वुग्गाहिए
२८१	४	साध्विथों	साध्वियों
२८२	१०	विकह्याओ	विकहाओ
२८२	१७	झाण	झाणे
२८२	२२	वव्वे	कव्वे
२८५	३	लोर	लोग

भूमिका

मानव संस्कृति में

जैन-दर्शन

का

योग-दान

भूमिका की विषय सूची

मानव संस्कृति में जैन दर्शन का योग-दान

विषय–प्रवेश :

विशाल विश्व के विस्तृत साहित्यिक और सांस्कृतिक प्रांगण में आज दिन तक अनेक विचार धाराएं और विविध दार्शनिक कल्पनाएं उत्पन्न होती रही है, और पुनः काल क्रम से अनन्त के गर्भ में विलीन हो गई हैं। किन्तु कुछ ऐसी विशिष्ट, शांतिप्रद, गंभीर तथा तथ्य युक्त विचार धाराऐं भी समय समय पर प्रवाहित हुई है, जिनसे कि मानव-संस्कृति में सुख-शांति, आनंद-मंगल, कल्याण और अभ्युदय का संविकास हुआ है।

इन दार्शनिकता और तात्विकता प्रधान विचार धाराओं में जैन दर्शन तथा जैन-धर्म का अपना विशिष्ट और गौरव पूर्ण स्थान है। इस जैन-विचार धारा ने मानव-संस्कृति में और दार्शनिक जगत् में महान् कल्याणकारी और क्रांति-युक्त परिवर्तन किये हैं। जिससे मानव-इतिहास और मानव-संस्कृति के विकास की प्रवाह-दिशा ही मुड़ गई है। जैन-धर्म ने मानव-धर्मों के आचार-क्षेत्र और विचार-क्षेत्र, दोनों में ही मौलिक क्रांति की है, दोनों ही क्षेत्रों में अपनी महानता की विशिष्ट और स्थायी छाप छोड़ी है।

चौबीस तीर्थंकरों संबंधी जैन-परंपरा के अनुसार जैन धर्म की प्राचीन मीमांसा और समाक्षा नहीं करते हुए आधुनिक इतिहास और विद्वानों द्वारा मान्य दीर्घ तपस्वी भगवान महावीर स्वामी कालीन इतिहास पर विचार पूर्वक दृष्टिपात करें तो प्रामाणिक रूप से पता चलता है कि उस युग में भारत की संस्कृति वैदिक रीति-नीति प्रधान थी। उत्तर भारत

और दक्षिण भारत के अधिकांश भाग में वैदिक यज्ञ-याग करना, वेद-मंत्रों का उच्चारण करके जीवित विभिन्न पशुओं को ही अग्नि में होम देना, बलिदान किये हुए पशुओं के मांस को पका कर खाना और इसी रीति से पूर्वजों का यज्ञ के मांस द्वारा तर्पण करना ही धर्म का रूप समझा जाता था। ईश्वर के अस्तित्व को एक विशिष्ट शक्ति के रूप में कल्पना करके उसे ही सारे विश्व का नियामक, कर्त्ता, हर्त्ता और स्रष्टा मानना, वर्ण-व्यवस्था का निर्माण करके शूद्रों को पशुओं से भी गया बीता समझना, इस प्रकार की धर्म-विकृति महावीर-युग में हो चली थी।

समाज पर और राज्य पर ब्राह्मण-संस्कृति का प्राधान्य हो चला था, वेदानुयायी पुरोहित वर्ग राजा-वर्ग पर अपना वर्चस्व स्थापित कर चुका था, और इस प्रकार समाज में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय ही सर्वस्व थे। धर्म-मार्ग "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" के आधार पर कलुषित तथा उन्मार्ग गामी हो चला था। ऐसी विषम और विपरीत परिस्थितियों में दीर्घ तपस्वी महावीर स्वामी ने इस तपोपूत ऋषि-भूमि भारत पर आज से २५०६ वर्ष पूर्व जैन-धर्म को मूर्त्त रूप प्रदान किया। चूंकि वर्तमान जैन-दर्शन की धारा भगवान महावीर-काल से ही प्रवाहित हुई है, अतएव इस निबन्ध की परिधि भी इसी काल से संबंधित समझी जानी चाहिये, न कि प्राक् ऐतिहासिक काल से।

महावीर स्वामी ने इस सारी परिस्थति पर गंभीर विचार किया और उन्हें यह तथाकथित धार्मिकता विपरीत, आत्म-घातक, पाप-पंक से कलुषित और मिथ्या-प्रतीत हुई। उन्होंने अपने आसाधारण व्यक्तित्व के बल पर मानव जाति के आचार-मार्ग में और विचार क्षेत्र में आमूल चूल ऐतिहासिक क्रांति करने के लिये अपना सारा जीवन देने का और राजकीय तथा गृहस्थ संबंधी भोगोपभोग जनित सुखों का बलिदान देने का दृढ़ निश्चय किया।

इनके मार्ग में भयंकर और महती कठिनाइयाँ थीं, क्योंकि इन द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली क्रांति का विरोध करने के लिये भारत का तत्कालीन

सारा का सारा ब्राह्मण वर्ग और ब्राह्मण वर्ग का अनुयायी करोड़ों की संख्या वाला भारतीय जनता का जनमत था। राज्य-सत्ता और वैदिक अंध-विश्वासों पर आश्रित अजेय शक्ति-युक्त जन-मत इनके क्रांति मार्ग पर, पग पग पर, कांटे बिछाने के लिये तैयार खड़े थे।

निर्मम और निर्दय हिंसा प्रधान यज्ञों के स्थान पर आत्मिक, मानसिक तथा शारीरिक तप-प्रधान सहिष्णुता का उन्हें विधान करना था, मांसाहार का सर्वथा निषेध करके अहिंसा को ही मानव-इतिहास में एक विशिष्ट और सर्वोपरि सिद्धान्त के रूप में प्रस्थापित करना था। ईश्वरीय विविध कल्पनाओं के स्थान पर स्वाश्रयी आत्मा की अनंत शक्तियों का दर्शन कराकर वैदिक मान्यताओं में एवं वैदिक विधि-विधानों में क्रांति लाना था। ईश्वर और आत्मा संबंधी दार्शनिक विचार धारा को आत्मा की ही प्राकृतिक अनंतता में प्रवाहित करना था।

इस प्रकार असाधारण और विषमतम कठिनाइयों के बीच तप, तेज, और त्याग के बल पर भगवान महावीर स्वामी द्वारा प्रगति दिया हुआ विचार-मार्ग ही जैन-धर्म कहलाया।

इस प्रकार भगवान महावीर स्वामी का महान् तपस्या पूर्ण बलिदान बतलाता है कि उन्होंने अपनी तपोपूत निर्मल आत्मा में धर्म का मौलिक स्वरूप प्राप्त किया, जिस के बल पर उनका आध्यात्मिक काया-कल्प हो गया। ब्रह्मचर्य, सत्य, अहिंसा, आत्म विश्वास और भूतदया के अमूल्य तत्त्व उनकी आत्मा में परिपूर्णता को प्राप्त हो गये।

उनके महान् ज्ञान ने उन्हें संपूण ब्रह्मांड के अनादि, अनन्त और अपरिमेय एवं शाश्वत् धर्म-सिद्धान्तों के साथ संयाजित कर दिया। जहां संसार के अन्य अनेक महात्मा इतिहास में खड़े हैं, वहीं हम प्रातः स्मरणीय महावीर स्वामी को अपने अलौकिक आत्म तेज से असाधारण तेजस्वी के रूप में देखते हैं। उनका तपस्या से प्रज्वलित जीवन, सत्य और अहिंसा के दर्शन के लिये किया हुआ एक अत्यंत और असाधारण शक्तिशाली सफल प्रयत्न दिखलाई पड़ता है। सत्य और अहिंसा की समस्या को उन्होंने अपने आत्म बलिदान द्वारा सुलझाया। आज के इस वैज्ञानिकता प्रधान

विश्व में हम में से प्रत्येक को उसे अपने लिये सुलझाना है। उनका आदर्श, उनकी कष्ट सहिष्णुता, और ध्येय के प्रति उनकी अविचल दृढ़ निष्ठा हमें बल और संकेत प्रदान करती है। हमारे धैर्य को सहारा देती है, और बतलाती है कि यही मार्ग सच्चा है। इसी मार्ग द्वारा हम अवश्य सफल हो सकते हैं, बशर्ते कि हमारे प्रयत्न भी सच्चे हों। अब हमें यह देखना है कि भगवान् महावीर स्वामी ने जैन-धर्म के रूप में विश्व-संस्कृति के आचार-क्षेत्र तथा विचार-क्षेत्र को क्या २ विशेषताएँ प्रदान की है।

अहिंसा की प्रतिष्ठा

मानव—जाति का आज दिन तक जितना भी प्रामाणिक और विद्वत् मान्य इतिहास का अनुसंधान पूर्ण पता चला है, उससे यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि भगवान महावीर स्वामी द्वारा संचालित जैनधर्म के पूर्व इस पृथ्वी पर संपूर्ण मानव-जाति मांसाहारा थी, विविध पशुओं का मांस खाने में न तो पाप माना जाता था और न मांसाहार के प्रति परहेज ही था एवं न घृणा ही। ऐतिहासिक उल्लेखानुसार सर्व प्रथम "मानव-जाति में से मांसाहार को परित्याग कराने की परिपाटी और परंपरा" प्रामाणिक रूप से तथा अविचल दृढ़ श्रद्धा के साथ जैन-धर्म ने ही प्रस्थापित की।

ज्ञान-बल पर और आचार-बल पर मानव-जाति को मांसाहार से मोड़ने का सर्व-प्रथम श्रेय जैन-धर्म को ही है। इस प्रकार विश्व-धर्मों की आधार-शिला एवं प्रमुखतम सिद्धान्त अहिंसा ही है तथा अहिंसा हीं हो सकती है। ऐसी महान् और अपरिवर्तनीय मान्यता मानव-जाति में पैदा करने वाला सर्व-प्रथम धर्म जैन-धर्म ही है, इस ऐतिहासिक तत्त्व को विश्व के गण्य मान्य विद्वानों ने सर्व सम्मत सिद्धान्त मान लिया है। जैनेतर धर्म अहिंसा की इतनी सूक्ष्म, गंभीर और व्यवहार योग्य योजना प्रस्तुत नहीं करते हैं, जैसी कि जैन-धर्म करता है।

जैन धर्म ने अपने कठिन तप-प्रधान आचार-बल के आधार पर और अकाट्य तर्क संयुक्त ज्ञान-बल के आधार पर संपूर्ण हिन्दूधर्म बनाम वैदिक धर्म पर और महान् व्यक्तित्व शील बौद्ध धर्म पर ऐसी ऐतिहासिक अमिट छाप डाली

कि सदैव के लिये "अहिंसा ही धर्म की जननी है" यह सर्वोत्तम और स्थायी सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया। जैन धर्म की इस अमूल्य और सर्वोत्कृष्ट देन के कारण ही ईसाई, मुस्लिम, आदि इतर धर्मों में भी अहिंसा की प्रकाश युक्त किरणें प्रविष्ट हो सकी हैं।

जैन-संस्कृति सदैव अहिंसावादिनी, सूक्ष्म प्राणी की भी रक्षा करने वाली और मानव-जीवन के विविध क्षेत्रों में भी अहिंसा का सर्वाधिक प्रयोग करने वाली रही है। इस दृष्टिकोण से जैन-धर्म ने जीव विज्ञान का अति सूक्ष्म और गंभीर अध्ययन योग्य विवेचन किया है। जो कि विश्व.साहित्य का एक सुन्दर, रोचक तथा ज्ञान-वर्धक अध्याय है।

इस प्रकार निष्कर्ष यह है कि जैन धर्म की अहिंसा संबंधी देन की तुलना विश्व-साहित्य में और विश्व-संस्कृति में इतर सभी धर्मों की देनों के साथ नहीं की जा सकती है। क्योंकि अहिंसा संबंधी यह देन बेजोड़ है, असाधारण और मौलिक है। यह उच्च मानवता एवं सरस सात्विकता को लाने वाली है। यह देन मानव को पशुता से उठा कर देवत्व की ओर प्रगति कराती है। अतः मानव इतिहास में यह अनुपम और सर्वोत्कृष्ट देन है।

आजके युग के महापुरुष, विश्व-विभूति, राष्ट्रपिता पूज्य गांधी जी के व्यक्तित्व के पीछे भी इसी जैन-संस्कृति से उद्भूत अहिंसा की शक्ति ही छिपी हुई थी, इसे कौन नहीं जानता है?

जैन धर्म का मानव-व्यवहार

अहिंसा के महान् व्रत और असाधारण सिद्धान्त का मानव-जीवन के लिये व्यवहारिक तथा क्रियात्मक रूप देने के लिये दैनिक क्रियाओं संबंधी और जीवन संबंधी अनेकानेक नियमों तथा विधि विधानों का भी जैन-धर्म ने संस्थापन और समर्थन किया है। जिन्हें बारह व्रत एवं पंच महाव्रत भी कहते हैं। जिनका तात्पर्य यही है कि सम्पूर्ण मनुष्य जाति में अच्छी वृत्तियों का, अच्छे गुणों का और उच्च गृहस्थ धर्म का विकास हो। इस प्रकार मानव-शांति बनी रहे और सभी को अपना अपना विकास करने का सुन्दर एवं समुचित संयोग प्राप्त हो।

उपरोक्त ध्येय को परिपूर्ण करने के लिए इन्द्रियों पर निग्रह करने का, सत्य का आचरण करने का, स्वाद को जीतने का, ब्रह्मचर्य के प्रति निष्ठावान् बनने का, और पात्रता का ध्यान रख कर उदार बुद्धि के साथ विभिन्न क्षत्रों में दान आदि देने का जैन-धर्म में स्पष्ट विधान है।

श्रीं महावीर स्वामी के युग से लगाकर विक्रम कीं अठारहवा शताब्दि तक पूंजीवाद जैसी अर्थमूलक और शोषक व्यवस्था पद्धति की उत्पत्ति नहीं हुई थी, अतएव आज के युग-धर्म रूप समाजवाद जैसी विशेष अर्थ-प्रणालि की व्यवस्था जैन-धर्म में नहीं पाई जाने पर भा समाजवाद का अर्थान्तर रूप से उल्लेख और व्यवहार जैन-धर्म में अवश्य पाया जाता है, और वह पाँचवें व्रत में अपरिग्रह वाद के नाम से स्थापित किया गया है।

अपरिग्रह वाद की रूप रेखा और इसके पीछे छिपी हुई भावना का तात्पर्य भी यही है कि मानव समाज में धन वाद का प्राधान्य नहीं हो जाय। जीवन का केन्द्र-चक्र केवल धन वाद के पीछे ही नहीं घूमने लग जाय। जीवन का मूल आधार धन ही नहीं हो जाय। धन वाद द्वारा मानव-समाज में नाना विध बुराइयाँ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रविष्ट नहीं हों, बल्कि मानव-समाज धन वाद की दृष्टि से एक ऐसे स्तर पर चलता रहे कि जिससे मानव-जाति अपनी पारमार्थिकता समझ सकें और तृष्णा के जाल से दूर ही रह सकें। अतएव जैन-धर्म मानव-जाति की त्रैकालिक सुव्यवस्था की ओर सुलक्ष्य देता हुआ महान् मानवता का प्रचार करता है। इस प्रकार प्रकारान्तर से धन वाद की विशेषता को धिक्कारता हुआ समाजवाद बनाम अपरिग्रह वाद पर खास जोर देता है। उपरोक्त कथन से प्रमाणित है कि जैन-धर्म परिपूर्ण अहिंसा की आधार शिलापर, नैतिकता द्वारा जीवन में अपरिग्रह वाद की बनाम समाजवाद की स्थापना करके अपने आपको विश्व-धर्म का अधिष्ठाता घोषित कर देता है। इस प्रकार मानव को आहार में निरामिष भोजी और व्यवहार में समाज वादी एवं विचार में स्याद्वादी बनाकर यह धर्म ऐतिहासिक क्रांति करता हुआ विश्व धर्मों का केन्द्र स्थान अथवा धुरी-स्थान बन जाता है। यह है जैन-धर्म की उदात्त और समुज्ज्वल देन, जो कि अपने आप में असाधारण और आदर्श है।

जैन धर्म वर्ण व्यवस्था की विकृति को हेय-दृष्टि से देखता है, इसके विचार में मानव मात्र समान है। जन्म की दृष्टि से न तो कोई उच्च है और न कोई नीच, किन्तु अपने अपने अच्छे अथवा बुरे आचरणों द्वारा ही समाज में कोई नीच अथवा कोई उच्च हो सकता है। छूत-अछूत जैसी घृणित वर्ण-व्यवस्था का जैन-धर्म कट्टर शत्रु है। मानव-मात्र अपने आप में स्वयं एक ही हैं। मानवता एक और अखंड है। सभी प्रकार के सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक विधि-विधानों का मानव-मात्र समान अधिकारी है।

जाति, देश, रंग, लिंग, भाषा, वेश, नस्ल, वंश और काल का कृत्रिम भेद होते हुए भी मूल में मानव-मात्र एक ही है। यह है जैन-धर्म की अप्रतिम और अमर घोषणा, जो कि जैन-धर्म की महानता को सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा देती है।

जा व्यक्ति जैन-धर्म को केवल निवृत्ति-प्रधान बतलाता है, वह अपरिमार्जनीय भयंकर भूल करता है। जैन-धम सात्विक और नैतिक प्रवृत्ति का विधान करता हुआ, संस्कृति तथा जीवन के विकास के लिये विविध पुण्य के कामों का स्पष्ट उल्लेख और आदेश देता है। कुशल शासक, सफल सेनापति, योग्य व्यौपारी, कर्मण्य सेवक, और आदर्श गृहस्थ बनने के लियें जैन धर्म में कोई रुकावट नहीं है। इसीलिये विभिन्न काल और विभिन्न क्षेत्रों में समय समय पर जैन-समाज द्वारा संचालित आरोग्यालय, भोजनालय, शिक्षणालय, वाचनालय, अनाथालय, जलाशय और विश्राम-स्थल आदि आदि सत्कार्यों की प्रवृत्ति का लेखा देखा जा सकता है।

लावण्यता और रमणीयता संयुक्त भारतीय कला के संविकास में जैन संस्कृति ने अग्र भाग लिया है, जिसे इतिहास के प्रेमा पाठक बखूबा जानते हैं।

आत्म तत्व और ईश्वरवाद

इस्वा सन् एक हजार वर्ष पूर्व से लगा कर इस्वी सन् बीसवीं शताब्दि तक के युग में यानी इन तीन हजार वर्षों में भारतीय साहित्य के ज्ञान-सम्पन्न प्रांगण में आत्म तत्त्व और ईश्वरवाद के सम्बन्ध में हजारों ग्रंथों का निर्माण

किया गया। कुल मिलाकर लाखों ऋषि-मुनियों ने, तत्त्व चिंतकों और मनीषियों ने, ज्ञानियों एवं दार्शनिकों ने इस विषय पर गम्भीर अध्ययन, मनन, चिंतन और अनुसंधान किया है। इस विषयको लेकर भिन्न २ समयमें सैकड़ों राज्य-सभाओं में घन-घोर और तुमुल शास्त्रार्थ हुए हैं। इसी प्रकार इस विषय पर मत-भेद होने पर अनेक प्रगाढ़ पांडित्य संपन्न दिग्गज विद्वानों को देश निकाला भी दिया गया है। शास्त्रार्थ में तात्कालिक पराजय हो जाने पर अनेक विद्वानों को विविध रीति से मृत्यु-दंड भी दिया गया है। इस प्रकार भारतीय दर्शन-शास्त्रों का यह एक प्रमुखतम और सर्वोच्च विचारणीय विषय रहा है।

जैन दर्शन ईश्वरत्व को एक आदर्श और उत्कृष्टतम ध्येय मानता है, न कि ईश्वर को विश्व का स्रष्टा आर नियामक। अतएव इस पर अपेक्षाकृत अधिक लिखना अप्रासंगिक नहीं होगा।

जैन-दर्शन की मान्यता है कि संपूर्ण ब्रह्मांड में यानी अखिल लोक में केवल दो तत्त्व ही हैं। एक तो जड़ रूप अचेतन पुद्गल और दूसरा चेतना शील आत्म तत्त्व।

इन दो तत्त्वों के आधार से ही संपूर्ण विश्व का निर्माण हुआ है। सारे ही संसार के हर क्षेत्र, हर स्थान, और हर अंश में ये दोनों ही तत्त्व भरे पड़े हैं। कोई स्थान ऐसा नहीं है जहाँ कि ये दोनों तत्त्व घुले मिले न हों। इनकी अनेक अवस्थाएं हैं, इनके अनेक रूपान्तर और पर्यायें हैं, विविध प्रकार की स्थिति है, परन्तु फिर भी मूल में ये दो ही तत्त्व हैं। तीसरा और कोई नहीं है।

जड़ पुद्गल अनेक शक्तियों में बिखरा हुआ है, इसकी संपूर्ण शक्तियों का पता लगाना मानव-शक्ति और वैज्ञानिकों के भी बाहिर की बात है। रेडियो, वायरलेस तार, टेली विजन, रेडार, वाष्पशक्ति और विद्युत-शक्ति, अणुबम, कीटाणुबम, हाईड्रोजन बम, इथर तत्त्व, कास्मिक किरणें आदि विभिन्न शक्तियाँ इस जड़ तत्त्व की ही रूपान्तर। इस प्रकार की अनंतानंत शक्तियाँ इस जड़ तत्त्व में निहित हैं, जो कि स्वाभाविक, प्राकृतिक

और कालातीत हैं । इससे विपरीत चेतन तत्त्व है । यह भी सम्पूर्ण संसार के हर क्षेत्र, हर स्थान और हर अंश में अनंतानंत रूप से सघन लोहे के परमाणुओं के समान पिंड़ीभूत है । जैसे समुद्र के तल से लगाकर सतह तक जल ही जल भरा रहता है और तल-सतह के बीच में कोई भी स्थान जल से खाली नहीं रहता है; वैसे ही अखिल विश्व में कोई भी स्थान ऐसा खाली नहीं है, जहाँ कि चेतना तत्त्व अनंतानंत मात्रा में न हो । जैसे जल के प्रत्येक कण में जो कुछ तत्त्व और जो कुछ शक्ति है; वैसा ही तत्त्व और वैसी ही शक्ति समुद्र के सम्पूर्ण जल में है । इसी प्रकार समूह रूपेण पिंडी भूत सम्पूर्ण चेतन तत्त्व में जो जो शक्तियाँ अथवा वृत्तियाँ हैं, वे ही और उतनी ही शक्तियाँ एवं वृत्तियाँ भी एक एक चेतन कण में अथवा प्रत्येक आत्मा में हैं । ये वृत्तियाँ अनंतानंत हैं, स्वाभाविक याना प्राकृतिक हैं, अनादि हैं, अक्षय हैं, और तादात्म्य रूप है ।

ये शक्तियाँ प्रत्येक आत्मा के साथ सहजात और सहचर धर्म वाली हैं, सांसारिक अवस्था में परिभ्रमण करते समय आत्मा की इन शक्तियों के साथ पुद्‌गलों का अति सूक्ष्मतम से सूक्ष्मतम आवरण अनिष्ट वासनाओं और संस्कारों के कारण संमिश्रित रहता है । इस कारण से ये शक्तियाँ मलीन, विकृत, अविकसित, अर्ध विकसित और विपरीत विकसित आदि नाना रूपों मे प्रस्फूटित होती हुई देखी जाती है ।

चेतन तत्त्व सामुहिक पिंड में संबद्ध होने पर भी प्रत्येक चेतन कण का अपना अपना अलग अलग अस्तित्व है । समूह से अलग होकर वह अपना पूर्ण और सांगोपांग विकास कर सकता है । जैसा कि हम प्रति दिन देखते हैं कि मनुष्य, तिर्यंच आदि अवस्थाओं के रूप में विभिन्न चेतन कणों ने अपना अपना विकास कर इन अवस्थाओं को प्राप्त किया है, और यदि विकास की गति नहीं रुके तो निरन्तर विकास करता हुआ प्रत्येक चेतन कण ईश्वरत्व को प्राप्त कर सकता है, जो कि विकास और ज्ञान, पवित्रता एवं सर्वोच्चता का अंतिम श्रेणी है । "यह परम तम सर्व श्रेष्ठ विकास शील अवस्था" प्रत्येक चेतन—कण में स्वाभाविक है, परन्तु उसका विकास कर सकना अथवा विकास नहीं कर सकना यह प्रत्येक चेतन कण का अपने अपने प्रयत्न और

परिस्थिति पर निर्भर है। प्रत्येक चेतन कण में बनाम प्रत्येक आत्मा में यह स्वाभाविक शक्ति है कि वह अपने स्वरूप को ईश्वर रूप में परिणित कर सकता है, एवं अपने में विकसित अखंड परिपूर्ण और विमल ज्ञान द्वारा विश्व की सम्पूर्ण अवस्थाओं का आर उसके हर अंश को देख सकता है।

प्रत्येक आत्मा अनादि है, अक्षय है, नित्य है, शाश्वत् है, अचिन्त्य है, शब्दातीत है, अगोचर है, मूलरूप से ज्ञान स्वरूप है, निर्मल है, अन्त सुखमय है, सभी प्रकार की सांसारिक मोह माया आदि बिकृतियों से पूर्णतया रहित है। प्रत्येक आत्मा अनन्त शक्तिशाली और अनंत सात्विक सद्गुणों का पिंड मात्र है। वास्तविक दृष्टि से ईश्वरत्व और आत्मतत्त्व में कोई अन्तर नहीं है। यह जो विभिन्न प्रकार का अन्तर दिखलाई पड़ रहा है; उसका कारण वासना और संस्कार हैं, और इन्हीं से विकृति मय अन्तर अवस्था की उत्पत्ति होती है। वासना और संस्कारों के हटते ही आत्मा का मूल स्वरूप प्रगट हो जाया करता है; जैसे कि बादलों के हटते ही सूर्य का प्रकाश और धूप निकल आती है, वैसे ही यहां भा समझ लेना चाहिये। अखिल विश्व में यानी सम्पूर्ण ब्रह्मांड में अनंतानंत आत्माएँ पाई जाती हैं, इनकी गणना कर सकना ईश्वरीय ज्ञान के भी बाहिर की बात है। परन्तु गुणों की समानता के कारण जैन-दर्शन का यह दावा है कि प्रत्येक आत्मा सात्विकता और नैतिकता के बल पर ईश्वरत्व प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार आज दिन तक अनेकानेक आत्माओं ने ईश्वरत्व की प्राप्ति की है। ईश्वरत्व प्राप्ति के पश्चात् ये आत्माएं-ईश्वर में ही ज्योतिमें ज्योति के समान एकत्व आर एक रूपत्व प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार अनंतानंत काल के लिय; सदैव के लिये इस संसार से परिमुक्त हो जाती हैं। ऐसी मक्त आर ईश्वरत्व प्राप्त आत्माऐं पूर्ण वीतरागी होने से संसार के सृजन, विनाशन, रक्षण, परिवर्धन और नियमन आदि प्रवृत्तियों से सर्वथा परिमक्त हात वीतरागता के कारण सांसारिक-प्रवृत्तियों में भाग लेने का उनके लिये कोई कारण शेष नहीं रह जाता है। यह है जैन-दर्शन की "आत्मतत्त्व और ईश्वरत्व" विषयक मौलिक दार्शनिक देन; जो कि हर आत्मा में पुरुषार्थ, स्वाश्रयता, कर्मण्यता, नैतिकता, सेवा, परोपकार, एवं सात्विकता की उच्च आर उदात्त लहर पैदा करती है।

संसार में जो विभिन्न विभिन्न आत्मतत्त्व की श्रेणियाँ दिखाई दे रही हैं; उनका कारण मूल गुणों में विकृति की न्यूनाधिकता है। जिस जिस आत्मा में जितना जितना सात्विक गुणों का विकास है, वह आत्मा उतनी ही ईश्वरत्व के पास है और जिसमें जितनी जितनी विकृति की अधिकता है, उतनी उतनी ही वह ईश्वरत्व से दूर है। सांसारिक आत्माओं में परस्पर में पाई जाने वाली विभिन्नता का कारण सात्विक, तामसिक, और राजसिक वृत्तियाँ हैं, जो कि हर आत्मा के साथ कर्म रूप से, संस्कार रूप से और वासना रूप से संयुक्त हैं। वेदान्तदर्शन सम्बन्धी "ब्रह्म और माया" का विवेचन; सांख्य दर्शन सम्बन्धी "पुरुष और प्रकृति" की व्याख्या; और जैन-दर्शन सम्बन्धी "आत्मा और कर्म" का सिद्धान्त मूल में काफी समानता रखते हैं। शब्द-भेद, भाषा-भेद, और विवेचन-प्रणालि का भेद होने पर भी अर्थ में भेद प्रतीत नहीं होता है, तात्पर्य में भेद विदित नहीं होता है।

उपरोक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि जैन-दर्शन की मान्यता वैदिक धर्म के अनुसार एक ईश्वर के रूप में नहीं होकर अपने ही प्रयत्न द्वारा विकास की सर्वोच्च और अन्तिम श्रेणि प्राप्त करने वाली, निर्मलता और ज्ञान की अखंड और अक्षयधारा प्राप्त करने वाली और इस प्रकार ईश्वरत्व प्राप्त करने वाली अनेकानेक आत्माओं का ज्ञान, ज्योति के रूप में सम्मिलित होकर प्राप्त होने वाले परमात्मवाद में है।

अतएव इस सृष्टि का कर्त्ता हर्त्ता, धर्त्ता और नियामक कोई एक ईश्वर नहीं है, परन्तु इस सृष्टि की प्रक्रिया स्वाभाविक है। हर आत्मा का उत्थान और पतन अपने अपने कृत कर्मों के अनुसार ही हुआ करता है। इस प्रकार की सैद्धान्तिक और मौलिक दार्शनिक क्रांति भगवान महावीर स्वामी ने तत्कालीन वैदिक मान्यता के अधिनायक रूप प्रचंड और प्रबल प्रवाह के प्रतिकूल निडर होकर केवल अपने आत्म बल के आधार पर प्रस्थापित की, जो कि अजेय और सफल प्रमाणित हुई। वैदिक मान्यता झुकती हुई निर्बलता की ओर बढ़ती गई। तत्कालीन बड़े२ बड़े राज्य, राजा गण, जनता और मध्यम वर्ग तेजी के साथ वैदिक

मान्यताओं का परित्याग करते हुए और भगवान महावीर-स्वामी के शासन-चक्र में प्रविष्ट होते हुए देखे गये।

यज्ञ-प्रणालि में, हिंसा-अहिंसा की मान्यतामें, वर्ण-व्यवस्था में, और दार्शनिक-सिद्धान्तों में आमूल-चूल परिवर्तन देखा गया; यह सब महिमा केवल ज्ञातपुत्र, निर्ग्रंथ, श्रमण भगवान महावीर स्वामी की कड़क तपस्या, और गंभीर दर्शनिक सिद्धान्तों की है।

वैदिक सभ्यता ने मध्य-युग में भी जैन धर्म और जैन दर्शन को नष्ट करने के लिये भारी प्रयत्न किये, किन्तु वह असफल रही। इस प्रकार हर आत्मा की अखंडता का, व्यापकता का, परिपूर्णता का, स्वतंत्रता का और स्व-आश्रयता का विधान करके जैन दर्शन विश्व-साहित्य में "आत्मवाद और ईश्वरवाद" संबंधी अपनी मौलिक विचार-धारा प्रस्तुत करता है, जो कि मानव-संस्कृति को महानता की ओर बढ़ाने वाली है। अतएव यह शुभ, प्रशस्त और हितावह है।

स्याद्वाद

दार्शनिक सिद्धान्तों के इतिहास में स्याद्वाद का स्थान सर्वोपरि है। स्याद्वाद का उल्लेख सापेक्षवाद, अनेकान्तवाद अथवा सप्तभंगीवाद के नाम से भी किया जता है। विविध और परस्पर में विरोधी प्रतीत होने वाली मान्यताओं का और विपरीत तथा विघातक विचार-श्रेणियों का समन्वय करके सत्य की शोध करना, दार्शनिक संक्लेश को मिटाना, और सभी धर्मों एवं दार्शनिक सिद्धान्तों को मोतियों की माला के समान एक ही सूत्र में अनुस्यूत कर देना अर्थात् पिरो देना ही स्याद्वाद की उत्पत्ति का रहस्य है। निस्संदेह जैन-धर्म ने स्याद्वाद सिद्धान्त की व्यवस्थित रीति से स्थापना करके और युक्ति संगत विवेचना करके विश्व-साहित्य में विरोध और विनाश रूप विविधता को सर्वथा मिटा देने का स्तुत्य प्रयत्न किया है।

विश्व के मानव-समूह ने सभी देशों में, सभी कालों में और सभी परिस्थितियों में-नैतिकता तथा सुख-शांति के विकास के लिये समयानुसार

आचार-शास्त्र एवं नीति-शास्त्र के भिन्न भिन्न नियम और परंपराएं स्थापित की हैं, वे ही धर्म के रूप में विख्यात हुई और तत्कालिक परिस्थिति के अनुसार उनसे मानव-समूह ने विकास, सभ्यता एवं शांति भी प्राप्त की, किन्तु कालन्तर में वे ही परंपराएं अनुयायियों के दुराग्रह से सांप्रदायिकता के रूप में परिणित होती गई, जिससे धार्मिक-क्लेश, मतांधता, अदूरदर्शिता, हठाग्रह आदि दुर्गुण उत्पन्न होते गये और अखंड मानवता एक ही रूप में विकसित नहीं होकर खंड खंड रूप में होती गई, और इसीलिये नये नये धर्मों का, नये नये आचार-शास्त्रों की और नये नये नैतिक नियमों की आवश्यकता होती गई एवं तदनुसार इनकी उत्पत्ति भी होती गई। इस प्रकार सैकड़ों पथ और मत मतान्तर उत्पन्न होगये, और इनका परस्पर में द्वंद्व युद्ध भी होने लगा। खंडन-मन्डन के हजारों ग्रंथ बनाये गये। सैकड़ों बार शास्त्रार्थ हुए और मानवता धर्म के नाम पर कदाग्रह के कीचड़ में फंसकर संक्लेश मय हो गई। ऐसी गंभीर स्थिति में कोई भी धर्म अथवा मत-मतान्तर पूर्ण सत्य रूप नहीं हो सकता है, सापेक्ष सत्य मय हो सकता है, इस सापेक्ष सत्य को प्रकट करने वाली एक मात्र वचन-प्रणालि स्याद्वाद हो सकती है अतएव स्याद्वाददार्शनिक जगत् में और मानवता के विकास में असाधारण महत्त्व रखता है, और इसी का आश्रय लेकर पूर्ण सत्य प्राप्त करते हुए सभ्यता और संस्कृति का समुचित संविकास किया जा सकता है।

विश्व का प्रत्येक पदार्थ सत् रूप है। जो सत् रूप होता है, वह पर्याय शील होता हुआ नित्य होता है। पर्याय शीलता और नित्यता के कारण से हर पदार्थ अनन्त धर्मों वाला और अनन्त गुणों वाला है, और अनन्त धर्म गुण शीलता के कारण एक ही समय में और एक ही साथ उन सभी धर्म-गुणों का शब्दों द्वारा कथन नहीं किया जा सकता है। इसलिये स्याद्वाद मय भाषा की और भी अधिक आवश्यकता प्रमाणित हो जाती है। "स्यात्" शब्द इसीलिये लगाया जाता है, जिससे पूरा पदार्थ उसी एक अवस्था रूप नहीं समझ लिया जाय, अन्य धर्मों का भी और अन्य

अवस्थाओं का भी अस्तित्व उस पदार्थ में है, यह तात्पर्य "स्यात्" शब्द से [illegible] है।

"स्यात्" शब्द का अर्थ, "शायद है, संभवतः है, कदाचित् है" ऐसा नहीं है, क्योंकि ये सब संशयात्मक है, अतएव "स्यात्" शब्द का अर्थ "अमुक निश्चित् अपेक्षा से" ऐसा संशय रहित रूप है। यह "स्यात्" शब्द सुव्यवस्थित दृष्टिकोण को बतलाने वाला है। मतांधता के कारण दार्शनिकों ने इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया है और आज भी अनेक विद्वान् इसको बिना समझे ही कुछ का कुछ लिख दिया करते हैं।

"स्यात् रूपवान् पट" अर्थात् अमुक अपेक्षा से कपड़ा रूपवाला है। इस कथन में रूप से तात्पर्य है, और कपड़े में रहे हुए गंध, रस, स्पर्श आदि धर्मों से अभी कोई तात्पर्य नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि "कपड़ा रूप वाला ही है और अन्य धर्मों का निषेध है।" अतएव इस कथन में यह रहस्य है कि रूप की प्रधानता है और अन्य शेष की गौणता है न कि निषेधता है। इस प्रकार अनेक-विध वस्तु को क्रम से एवं मुख्यता-गौणता की शैली से बतलाने वाला वाक्य ही स्याद्वाद सिद्धान्त का अंश है। 'स्यात्' शब्द नियामक है, जो कि कथित धर्म को वर्तमान में मुख्यता प्रदान करता हुआ शेषधर्मों के अस्तित्व की भी रक्षा करता है। इस प्रकार 'स्यात्' शब्द कथित धर्म की मर्यादा की रक्षा करता हुआ शेष धर्मों का भी प्रतिनिधित्व करता है। जिस शब्द द्वारा पदार्थ को वर्तमान में प्रमुखता मिली है, वही शब्द अकेला ही सारे पदार्थत्व को घेर कर नहीं बैठ जाय, बल्कि अन्य सहचरी धर्मों की भी रक्षा हो, यह कार्य 'स्यात्' शब्द करता है।

'स्यात् कपड़ा नित्य है' यहाँ पर कपड़ा रूप पुद्गल द्रव्य की सत्ता के लिहाज से नित्यत्व का कथन है और पर्यायों के लिहाज से अनित्य की गौणता है। इस प्रकार त्रिकाल सत्य को शब्दों द्वारा प्रकट करने की एकमात्र शैली स्याद्वाद ही हो सकती है।

प्रतिदिन के दार्शनिक झगड़ों में फँसा हुआ सामान्य व्यक्ति न धर्म रहस्य को समझ सकता है और न आत्मा एवं ईश्वर संबंधी गहन तत्त्व का ही अनुभव कर सकता है। उल्टा विभ्रम में फंसकर कषाय का शिकार बन जाता है। इस दृष्टिकोण से अनेकान्तवाद मानव-साहित्य में बेजोड़ विचार-धारा है। इस विचार-धारा के बल पर जैन-धर्म विश्व-धर्मों में सर्वाधिक शांति-प्रस्थापक और सत्य के प्रदर्शक का पद प्राप्त कर लेता है।

यह अनेकान्तवाद ही सत्य को स्पष्ट कर सकता है। क्योंकि सत्य एक सापेक्ष वस्तु है।

सापेक्षिक सत्य द्वारा ही असत्य का अंश निकाला जा सकता है और इस प्रकार पूर्ण सत्य तक पहुँचा जा सकता है। इसी रीति से मानव-ज्ञान कोष की श्रीवृद्धि हो सकती है, जो कि सभी विज्ञानों की अभिवृद्धि करती है। अद्वैतवाद के महान् आचार्य शंकराचार्य और अन्य विद्वानों द्वारा समय समय पर किये जाने वाले प्रचंड प्रचार और प्रबल शास्त्रार्थ के कारण बौद्ध दर्शन सरीखा महान् दर्शन तो भारत से निर्वासित हो गया और लंका, ब्रह्मा, (बर्मा) चीन, जापान एवं तिब्बत आदि देशों में ही जाकर विशेष रूप से पल्लवित हुआ, जब कि जैन-दर्शन प्रबलतम साहित्यिक और प्रचंड तार्किक आक्रमणों के सामने भी टिका रहा, इसका कारण केवल "स्याद्वाद" सिद्धान्त ही है। जिसका आश्रय लेकर जैन विद्वानों ने प्रत्येक सैद्धान्तिक-विवेचना में इसको मूल आधार बनाया।

स्याद्वाद जैन-सिद्धान्त रूपी आत्मा का प्रखर प्रतिभा सपन्न मस्तिष्क है, जिसकी प्रगति पर यह जैन-धर्म जीवित है और जिसके अभाव में यह जैन धर्म समाप्त हो सकता है।

मध्य-युग में भारतीय क्षितिज पर होने वाले राजनैतिक तूफानों में और विभिन्न धर्मों द्वारा प्रेरित साहित्यिक—आंधियों में भी जैन-दर्शन का हिमालय के समान अडोल और अचल बने रहना केवल स्याद्वाद सिद्धान्त का ही प्रताप है। जिन जैनेतर दार्शनिकों ने इसे संशयवाद अथवा अनिश्चयवाद कहा है, निश्चय ही उन्होंने इसका गंभीर अध्ययन किये बिना ही ऐसा लिख

दिया है। आश्चर्य तो इस बात का है कि प्रसिद्ध सभी दार्शनिकों ने एवं महामति मीमांसकाचार्य कुमारिल भट्ट आदि भारतीय धुरंधर विद्वानों ने इस सिद्धान्त का शब्द रूप से खंडन करते हुए भी प्रकारान्तर से और भावान्तर से अपने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों में विरोधों के उत्पन्न होने पर उनकी विविधताओं का समन्वय करने के लिये इसी सिद्धान्त का आश्रय लिया है।

दीर्घ तपस्वी भगवान महावीर स्वामी ने इस सिद्धान्त को "सिया अत्थि' सिया नत्थि, सिया अवत्तव्वं' के रूप में फरमाया है, जिसका यह तात्पर्य है कि प्रत्येक वस्तु-तत्त्व किसी अपेक्षा से वर्त्तमान रूप होता है, और किसी दूसरी अपेक्षा से वही नाश रूप भी हो जाता है। इसी प्रकार किसी तीसरी अपेक्षा विशेष से वही तत्त्व त्रिकाल सत्ता रूप होता हुआ भी शब्दों द्वारा अवाच्य अथवा अकथनीय रूपवाला भी हो सकता है।

जैन तीर्थंकरों ने और पूज्य भगवान अरिहंतों ने इसी सिद्धान्त को "उप्पन्ने वा, विगए वा, धुवे वा." इन तीन शब्दों द्वारा "त्रिपदी" के रूप में संग्रंथित कर दिया है। इस त्रिपदी का जैन-आगमों मे इतना अधिक महत्त्व और सर्वोच्चशीलता बतलाई है कि इनके श्रवण—मात्र से ही गणधरों को चौदह पूर्वों का संपूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाया करता है। द्वादशांगी रूप वीतराग-वाणी का यह हृदय-स्थान कहा जाता है।

भारतीय साहित्य के सूत्र-युग में निर्मित महान् ग्रंथ तत्त्वार्थ-सूत्र में इसी सिद्धान्त का 'उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्' इस सूत्र रूप से उल्लेख किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि जो सत् यानी द्रव्य रूप अथवा भाव रूप है, उसमें प्रत्येक क्षण नवीन नवीन पर्यायों की उत्पत्ति होती रहती है, एवं पूर्व पर्यायों का नाश होता रहता है, परन्तु फिर भी मूल द्रव्य की द्रव्यता, मूल सत् की सत्ता पर्यायों के परिवर्तन होते रहने पर भी ध्रौव्य रूप से बराबर कायम रहती है। विश्व का कोई भी पदार्थ इस स्थिति से वंचित नहीं है।

भारतीय साहित्य के मध्य युग में तर्क-जाल—संगुफित घनघोर शास्त्रार्थ रूप संघर्ष मय समय में जैन साहित्यकारों ने इसी सिद्धान्त को "स्याद्

अस्ति, स्यान्नास्ति और स्यादवक्तव्यं" इन तीन शब्द-समूहों के आधार पर सप्तभंगी के रूप में संस्थापित किया है।

इस प्रकार:--

(१) "उपन्ने वा, विगए वा, धुवे वा," नामक अरिहंत प्रवचन,

(२) "सिया अत्थि, सिया नत्थि, सिया अवत्तव्व" नामक आगम वाक्य,

(३) "उत्पाद व्ययध्रौव्य युक्तं सत्" नामक सूत्र,

(४) "स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्यं" नामक संस्कृत वाक्य, ये सब स्याद्वाद-सिद्धन्त के मूर्त्त वाचक रूप है, शब्द रूप कथानक हैं और भाषा रूप शरीर हैं। स्याद्वाद का यही बाह्य रूप है।

स्याद्वाद के संबंध में विस्तृत लिखने का यहाँ पर अवसर नहीं है, अतएव विस्तृत जानने के इच्छुक अन्य ग्रंथों से इस विषयक ज्ञान-प्राप्त करें। इस प्रकार विश्व-साहित्य में जैन-दर्शन द्वारा प्रस्तुत अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद एक अमूल्य और विशिष्ट योगदान हैं, जो कि सदैव उज्ज्वल नक्षत्र के समान विश्व साहित्याकाश में अतिज्वलंत ज्योति के रूप में प्रकाशमान होता रहेगा, और विश्व धर्मों के संघर्ष में चीफ जस्टिस यानी सौम्य प्रधान न्याय मूर्त्ति के रूप में अपना गौरव शील स्थायी स्थान बनाये रक्खेगा।

कर्मवाद और गुणस्थान

जैन-दर्शन ईश्वरीय शक्ति को विश्व के कर्ता, हर्त्ता, और धर्त्ता के रूप में नहीं मानता है, जिसका तात्पर्य ईश्वरीय सत्ता का विरोध करना नहीं है। अपितु आत्मा ही कर्ता है और आत्मा ही भोक्ता है, इसमें नियामक का कार्य स्वकृत कर्म ही करते है। कर्म का उल्लेख वासना शब्द से, संस्कार शब्द से और प्रारब्ध शब्द से एवं ऐसे ही अन्य शब्दों द्वारा भी किया जा सकता है। ये कर्म अचेतन हैं, रूपी है, पुद्गलों के अति सूक्ष्मतम से सूक्ष्मतम अंश से निर्मित होते हैं। ये विश्व-व्यापी होते हैं। कर्म-समूह अचेतन

और जड़ होने पर भी प्रत्येक आत्मा में रहे हुए विकारों और कषायों के बलपर "औषधि के गुण दोषानुसार" अपना फल यथा समय में और यथा रूप में दिया करते हैं।

इस कर्म-सिद्धान्त का विशेष स्वरूप कर्म-बाद के ग्रंथों से जानना चाहिए। यहाँ तो इतना ही पर्याप्त होगा कि कर्म-वाद के बलपर जैन-धर्म ने पाप-पुण्य की व्यवस्था का प्रामाणिक और वास्तविक सिद्धान्त कायम किया है। पुनर्जन्म, मृत्यु, मोक्ष आदि स्वाभाविक घटनाओं की संगति कर्म-सिद्धान्त के आधार पर प्रतिपादित की है। सांसारिक अवस्था में आत्मा संबंधी सभी दशाओं और सभी परिस्थितियों में कर्म-शक्ति को ही सब कुछ बतलाया है। फिर भी आत्मा यदि सचेत हो जाय तो कर्म-शक्ति को परास्त करके अपना विकास करन में स्वयं समर्थ हो सकती है।

कर्म-सिद्धान्त जनता को ईश्वर-कर्तृत्व और ईश्वर-प्रेरणा जैसे अंध-विश्वास से मुक्त करता है और इसके स्थान पर आत्मा की स्वतंत्रता का, स्व-पुरुषार्थ का, सर्व-शक्ति संपन्नता का, और आत्मा की परिपूर्णता का ध्यान दिलाता हुआ इस रहस्य का उल्लेख करता है कि प्रत्येक आत्मा का अन्तिम ध्येय और अंतिमतम विकास इश्वरत्व प्राप्ति ही है।

जैन-धर्म ने प्रत्येक सांसारिक आत्मा की दोष-गुण संबंधी और ह्रास-विकास संबंधी आध्यात्मिक-स्थिति को जानने के लिये, निरीक्षण के लिए और पराक्षण के लिए "गुणस्थान" के रूप में एक आध्यात्मिक जाँच प्रणालि अथवा माप प्रणालि भी स्थापित की है, जिसका सहायता से समीक्षा करने पर और मीमांसा करने पर यह पता चल सकता है कि कौनसी सांसारिक आत्मा कषाय आदि की दृष्टि से कितनी अविकास-शील है और कौनसी आत्मा चारित्र आदि की दृष्टि से कितनी विकास शील है ?

यह भी जाना जा सकता है कि प्रत्यक सांसारिक आत्मा में मोह की, माया की, ममता की, तृष्णा की, क्रोध की, मान की और लोभ आदि वृत्तियों का क्या स्थिति है ? ये दुर्वृत्तियाँ कम मात्रा में हैं अथवा अधिक मात्रा में ? ये उदय अवस्था में हैं ? अथवा उपशम अवस्था में हैं ? इन वृत्तियों का क्षय

हो रहा है ? अथवा क्षयोपशम हो रहा है ? इन वृत्तियों का परस्पर में उदीरणा और संक्रमण भी हो रहा है अथवा नहीं ? सत्ता रूप से इन वृत्तियों का खजाना कितना और कैसा है ? कौन आत्मा सात्विक है ? और कौन तामसिक है ? इसी प्रकार कौनसी आत्मा राजस् प्रकृति की है ? अथवा अमुक आत्मा में इन तीनों प्रकृतियों की संमिश्रित स्थिति कैसी क्या है ? कौनसी आत्मा देवत्व और मानवता के उच्च गुणों के न दीक है ? और कौन आत्मा इन से दूर है ?

इस अति गंभार आध्यात्मिक समस्या के अध्ययन के लिये जैन-दर्शन ने 'गुणस्थान' बनाम आध्यात्मिक क्रमिक विकास शील श्रेणियाँ भी निर्धारित की हैं, जिनकी कुल संख्या चौदह है। यह अध्ययन योग्य, चिंतन-योग्य आर मनन योग्य सुन्दर एवं सात्विक एक विशिष्ट विचार-धारा है जो कि मनोवैज्ञानिक पद्धति के आधार पर मानस वृत्तियों का उपादेय और हितावह चित्रण है।

इस विचार धारा का वैदिक दर्शन में भूमिकाओं के नाम से और बौद्ध-दर्शन में अवस्थाओं के नाम से उल्लेख और वर्णन पाया जाता है, किन्तु जैन-धर्म में इसका जैसा सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन सुसंयत और सुव्यवस्थित पद्धति से पाया जाता है, उसका अपना एक विशेष स्थान है, जो कि विद्वानों के लिये और विश्व-साहित्य के लिये अध्ययन और अनुसंधान का विषय है।

भौतिक विज्ञान और जैन खगोल आदि

जैन साहित्य में खगोल-विषय के संबंध में भी इस ढंग का वर्णन पाया जाता है कि जो आज के वैज्ञानिक खगोल ज्ञान के साथ वर्णन का भेद, भाषा का भेद, और, रूपक का भेद होने पर भी अर्थान्तर से तथा प्रकारान्तर से बहुत कुछ सदृश ही प्रतीत होता है।

आज के विज्ञान ने सिद्ध करके बतलाया है कि प्रकाश की चाल प्रत्येक सेकिंड में एक लाख छीयासी हजार (१८६०००) माईल का है, इस हिसाब से (३६५¼ दिन ×२४ घंटा ×६० मिनट ×६० सेकिंड ×१८६००० माईल) इतनी महती और विस्तृत दूरी को माप के लिहाज से 'एक आलोक वर्ष'

ऐसा संज्ञा वैज्ञानिकों ने दी है। इनका कहना है कि इस आकाश में ऐसे ऐसे तारे हैं, जिनका प्रकाश यदि यहां तक आसके तो उस प्रकाश को यहां तक आने में सैकड़ों 'आलोक-वर्ष' तक का समय लग सकता है। ऐसे ताराओं की संख्या लौकिक भाषा में अरबों खरबों तक की खगोल-विज्ञान बतलाता है। आकाश-गंगा बनाम निहारिका नाम से ताराओं की जो अति सूक्ष्म झांकी एक लाइन रूप से आकाश में रात्रि के नौ बजे के बाद से दिखाई देती है, उन ताराओं की दूरी यहां से सैकड़ों 'आलोक-वर्ष' जितनी वैज्ञानिक लोग कहा करते हैं।

जैन-दर्शन का कथन है कि (३८११२९७० मन×१०००) इतने मन वजन का एक गोला पूरी शक्ति से फेंका जाने पर छः महीने, छः दिन, छः पहर, छः घड़ी और छः पल में जितनी दूरी वह गोला पार करे, उतनी दूरी का माप "एक राजू" कहलाता है। इस प्रकार यह संपूर्ण ब्रह्मांड यानी अखिल लोक केवल चौदह राजू जितनी लम्बाई का है। और चाड़ाई में केवल सात राजू जितना है।

अब विचार कीजिएगा कि वैज्ञानिक सैकड़ों और हजारों आलाक वर्ष नामक दूरी परिमाण में और जैन-दर्शन सम्मत राजू का दूरी परिमाण में कितनी सादृश्यता है ?

इसी प्रकार सैकड़ों और हजारों आलोक वर्ष जितनी दूरी पर स्थित जो तारे हैं, वे परस्पर में एक दूसरे की दूरी के लिहाज से-करोड़ों और अरबों माइल जितने अन्तर वाले हैं और इनका क्षेत्रफल भी करोड़ों और अरबों माइल जितना है, इस वैज्ञानिक कथन की तुलना जैन-दशन सम्मत वैमानिक देवताओ के विमानों की पारस्परिक दूरी आर उनके क्षेत्रफल के साथ कीजियेगा, तो पता चलता है कि क्षेत्रफल के लिहाज से, परस्पर में कितना वर्णन साम्य है।

वैमानिक देवताओं के विमान रूप क्षेत्र परस्पर की स्थिति की दृष्टि से एक दूसरे से अरबों माइल दूर होने पर भी मूल यानी मुख्य इन्द्र के विमान में आवश्यकता के समय "घंटा" की तुमुल घोषणा होने पर प्रत्येक

संबंधित लाखों विमानों में उसी समय बिना किसी भी दृश्ययान आधार के और किसी भी पदार्थ द्वारा सबंध रहित होने पर भी तुमुल घोषणा एवं घंटा निनाद शुरु हो जाता है, यह कथन "रेडियो और टेलीविजन तथा संपर्क साधक विद्युत-शक्ति" का ही समर्थन करता है। ऐसा यह "रेडियो संबन्धी" शक्ति-सिद्धान्त जैन-दर्शन हजारों वर्ष पहिले ही कह चुका है।

शब्द रूपी हैं, पौद्गलिक हैं, और क्षण मात्र में सारे लोक में फैल जाने की शक्ति रखते हैं, ऐसा विज्ञान जैन-दर्शन ने हजारों वर्ष पहले ही चिन्तन और मनन द्वारा बतला दिया था, और इस सिद्धान्त को जैन-दर्शन के सिवाय आज दिन तक विश्व का कोई भी दर्शन मानने को तैयार नहीं हुआ था, वही जैन दर्शन द्वारा प्रदर्शित सिद्धान्त अब "रेडियो-युग" मे एक स्वयं सिद्ध और निर्विवाद विषय बन सका है।

पुद्गल के हर परमाणु में और अणु अणु में महान् सृजनात्मक और स्थिति तथा संयोग अनुसार अति भयंकर विनाशक शक्ति स्वभावतः रही हुई है, ऐसा सिद्धान्त भी जैन दर्शन हजारों वर्ष पहले ही समझा चुका है। वही सिद्धान्त अब "एटम बम, कीटाण बम और हाइड्रोजन एलेक्ट्रीक बम" बनने पर विश्वसनीय समझा जाने लगा है।

आज का विज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाणों के आधार पर अनन्त ताराओं की कल्पनातीत विस्तीर्ण वलयाकारता का, अनुमानातीत विपुल क्षेत्रफल का और अनन्त दूरी का जैसा वर्णन करता है और ब्रह्मांड की अनन्तता का जैसा बयान करता है, उस सब की तुलना जैन-दर्शन में वर्णित चौदह राजू प्रमाण लोक-स्थिति से और लोक के क्षेत्र फल से भाषा-भेद, रूपक-भेद और वर्णन-भेद होने पर भी ठीक ठीक रीति से की जा सकती है।

आज के भूगर्भ वेत्ताओं और खगोल वेत्ताओं का कथन है कि पृथ्वी किसी समय यानी अरबों और खरबों वर्ष पहले सूर्य का ही सम्मिलित भाग थी। "नीलों और पद्मों" वर्षों पहले इस ब्रह्मांड में किसी अज्ञात शक्ति से अथवा कारणों से खगोल वस्तुओं में आकर्षण और प्रत्याकर्षण हुआ, इस कारण से

भयंकर से भयंकर अकल्पनीय प्रचंड विस्फोट हुआ, जिससे सूर्य के कई एक बड़े बड़े भीमकाय टुकड़े छिटक पड़े। वे ही टुकड़े अरबों और खरबों वर्षों तक सूर्य के चारों ओर अनंतानंत पर्यायों में परिवर्त्तित होते हुए चक्कर लगाते रहे, और वे ही टुकड़े आज बुध, मंगल, गुरु, शुक्र, शनि, चन्द्र और पृथ्वी के रूप में हमारे सामने हैं। पृथ्वी भी सूर्य का ही टुकड़ा है और यह भी किसी समय आग का ही गोला थी, जो कि असंख्य वर्षों में नाना पर्यायों तथा प्रक्रियाओं में परिवर्त्तित होती हुई आज इस रूप में उपस्थित है। उपरोक्त बयान जैन-साहित्य में वर्णित "आरा परिवर्तन" के समय की भयंकर अग्नि वर्षा, पत्थर वर्षा, अंधड वर्षा, असहनीय और कल्पनातीत सतत् जलधारा वर्षा, एवं अन्य कर्कश पदार्थों की कठोर तथा शब्दातीत रूप से अति भयंकर वर्षा के वर्णन के साथ विवेचना की दृष्टि से कैसी समानता रखता है? यह विचारणीय है।

ऐतिहासिक विद्वानों द्वारा वर्णित प्राक्ऐतिहासिक युग के, तथा प्रकृति के साथ प्राकृतिक वस्तुओं द्वारा ही जीवन-व्यवहार चलाने वाले, मानव-जीवन का चित्रण और जैन साहित्य में वर्णित प्रथम तीन आराओं से सम्बन्धित युगल-जोड़ी के जीवन का चित्रण शब्दान्तर और रूपान्तर के साथ कितना और किस रूप में मिलता जुलता है? यह एक खोज का विषय है।

जैन दर्शन हजारों वर्षों से वनस्पति आदि में भी चेतनता और आत्म तत्त्व मानता आ रहा है, साधारण जनता और अन्य दर्शन इस बात को नहीं मानते थे; परन्तु श्री जगदीश चन्द्र बोस ने अपने वैज्ञानिक तरीकों से प्रमाणित कर दिया है कि वनस्पति में भी चेतनता और आत्म तत्त्व है। अब विश्वका सारा विद्वान् वर्ग इस बात को मानने लगा है।

साहित्य और कला

भगवान महावीर स्वामी के युग से लेकर आज दिन तक इन पच्चीस सौ वर्षों में प्रत्येक समय जैन-समाज में उच्च कोटि के ग्रंथ लेखकों का विपुल वर्ग और विद्वानों का समूह रहा है, जिनका सारा जीवन चिंतन में, मनन

में, अध्ययन में, अध्यापन में, और विविध विषयों में उच्च से उच्च कोटि के ग्रंथों का निर्माण करने में ही व्यतीत हुआ है। खास तौर पर जैन-साधुओं का बहुत बड़ा भाग प्रत्येक समय इस कार्य में संलग्न रहा है। इसलिये अध्यात्म, दर्शन, वैद्यक, ज्योतिष, मंत्र-तंत्र, संगीत, सामुद्रिक, लाक्षणिक शास्त्र भाषा-शास्त्र, छंद, काव्य, नाटक, चंपू, पुराण, अलंकार, कथा, कला, स्थापत्य कला, गणित, नीति, जीवन-चारित्र, तर्क-शास्त्र, तात्विक शास्त्र, आचार-शास्त्र, एवं सर्वदर्शन सम्बन्धी विविध और रोचक ग्रंथों का हजारों की संख्या में निर्माण हुआ है।

प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, तामिल, तेलगु, कन्नड, गुजराती, हिन्दी, महाराष्ट्रीय, एवं इतर भारतीय और विदेशी भाषाओं में भी जैन-ग्रंथों का निर्माण हुआ है।

जैन-साहित्य का निर्माण अविछिन्न धारा के साथ मौलिकता पूर्वक विपुल मात्रा में प्रत्येक समय होता रहा है और इसी लिये जैन-वाङ्मय में "विविध भाषाओं का इतिहास," "लिपियों का इतिहास," भारतीय साहित्य का इतिहास" "भारतीय संस्कृति का इतिहास" "भारतीय राजनीतिक इतिहास," एवं "व्यक्तिगत जीवन चरित्र" आदि विभिन्न इतिहासों की प्रामाणिक सामग्री भरी पड़ी है। जिसका अनुसंधान करने पर भारतीय संस्कृति पर उज्ज्वल एवं प्रमाण पूर्ण प्रकाश पड़ सकता है।

जैन साहित्य के हजारों ग्रंथों के विनष्ट हो जाने के बावजूद भी आज भी अप्रकाशित ग्रंथों की संख्या हजारों तक पहुँच जाती है। जोकि विविध भंडारों में संग्रहीत है।

जैन दर्शन कर्म-कर्त्तावादी और पुनर्जन्मवादी होंने से इसका कथा-साहित्य विलक्षण-मनोवैज्ञानिक शली वाला है, और आत्माकी वृत्तियों का विविध शैली से बिश्लेषण करने वाला है। अतएव इसका कथा-कोश विश्व साहित्य का अमूल्य धन है। जो कि प्रकाश में आने पर ही ज्ञात हो सकता है।

जैन-कला का ध्येय "सत्यं, शिवं, और सुन्दरं" की साधना करना ही रहा है और इस दृष्टि से "कला केवल कला के लिए ही है" इस आदर्श का जैन-कलाकारों ने पूरी तरह से पालन किया है।

युग-कर्त्तव्य और उपसंहार

आज जैन समाज में सैकड़ों करोड़पति और हजारों लखपति हैं, उनका नैतिक कर्त्तव्य है कि ये सज्जन आजके युग में जैनधर्म, जैन-दर्शन जैन-साहित्य और जैन-संस्कृति के प्रचार के लिये, विकास के लिये और कल्याण के लिये जैन साहित्य के प्रकाशन की व्यवस्था विपुल मात्रा में करें। यही युग कर्त्तव्य है।

आनेवाला युग साहित्य का प्रचार और साहित्य प्रकाशन ही चाहेगा, और इसी कार्य द्वारा ही जैन-दर्शन टिक सकेगा।

अनन्त गुणों के प्रतीक, मंगलमय वीतराग देव से आज अक्षय तृतीया के शुभ दिवस पर यही पुनीत प्रार्थना है कि अहिंसा प्रधान आचार द्वारा और स्याद्वाद प्रधान विचारों द्वारा विश्व में शांति की परिपूर्ण स्थापना हो. एवं अखंड मानवता "सत्यं, शिवं, सुन्दरं" की ओर प्रशस्त प्रगति करे।

संघवी कुटीर,
छोटी सादड़ी,
अक्षय तृतीया,
विक्रम सं. २००९

विनीत
रतनलाल संघवी

णमो तित्थस्स

जै ना ग म सू क्ति सु धा

प्र थ म भा ग

सूक्ति-सुधा

प्रार्थना-मंगल-सूत्र

(१)

णमो तित्थयराणं ।

आवश्यक

टीका—श्री साधु, साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप तीर्थ की स्थापना करने वाले एवं धर्म—चक्र के प्रवर्त्तक महापुरुष तीर्थंकरों को हमारा नमस्कार हो ।

(२)

णमो सिद्धाणं ।

महामन्त्र

टीका—जिन्होंने आठ कर्मों का क्षय कर, अनन्त ज्ञान-दर्शन चारित्र-बल वीर्य को प्राप्त किया है, और जिन्होंने नित्य, शाश्वत, अक्षय मोक्ष-स्थान प्राप्त किया है, ऐसे अनन्त-सिद्ध-मुक्त आत्माओं को हमारा नमस्कार हो ।

(३)

सन्ती सन्तिकरो लोए ।

उ०, १८, ३८

टीका—भगवान शान्तिनाथजी इस संसार में महान् शान्ति के करने वाले हैं ! द्रव्य-शांति और भाव-शांति, दोनों प्रकार की शांति को फैलाने वाले हैं । आप में यथा नाम तथा गुण हैं ।

(४)

नमो ते संसयातीत ।

उ०, २३, ८५

टीका—हे संशयातीत ! हे निर्मल ज्ञान वाले ! हे पूर्ण यथाख्यात चारित्र वाले ! हे अप्रतिपाती दर्शन वाले ! हे अनन्त गुणशील महात्मन् ! तुम्हें नमस्कार है । अनन्तशः प्रणाम है ।

(५)

लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते ।

सू०, ६, २३

टीका—लोक में सर्वोत्तम महापुरुष केवल महावीर स्वामी ही हैं । क्योंकि इनका ज्ञान, दर्शन, शील, शक्ति, तपस्या, अनासक्ति, चारित्र, निष्परिग्रहीत्व, अकषायत्व और आत्मबल असाधारण एवं आदर्श था ।

(६)

अभयं करे वीरे अणंतचक्खू ।

सू०, ६, २५

टीका— भगवान महावीर स्वामी प्राणियों को अभयदान देनेवाले, कल्याण का मार्ग बताने वाले, अनन्त ज्ञानी और निर्भय थे । वे महापुरुष थे ! उनका आत्मबल, तपोबल, चारित्र बल और कर्मण्यता बल आदर्श तथा महान् था ।

(७)

निव्वाणवादी णिह णायपुत्ते ।

सू०, ६, २१

टीका--निर्वाण वादियों में यानी विश्व के धर्म-प्रवर्तकों में ज्ञातपुत्र भगवान महावीर स्वामी ही सर्व श्रेष्ठ हैं ।

(८)

इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे ।

सू०, ६, २२

टीका---ऋषियों में, विश्व के सभी संतों में श्री वर्धमान महावीर स्वामी ही सर्वोत्तम हैं, प्रधान हैं ।

(९)

जयइ गुरू-लोगाणं,
जयइ महप्पा महावीरो ।

नं०, २

टीका---जो सम्पूर्ण लोक के गुरु हैं, जो सारे संसार को ज्ञान का दान देने वाले हैं, जो सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र में सर्वोत्तम होने से महात्मा हैं, ऐसे श्री वीर-प्रभु महावीर स्वामी की जय हो !

(१०)

जयइ सुआणं पभवो,
तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ ।

नं०, २

टीका---जिन देवाधिदेव पूज्य भगवान के मुख-कमल से श्रुत ज्ञान की धारा बही है; जो सभी तीर्थंकरों में अंतिम तीर्थंकर हैं; ऐसे ज्ञातपुत्र निर्ग्रन्थ प्रभु वर्धमान-महावीर स्वामी की जय हो-विजय हो ।

(११)

भद्दं सुरासुर नमंसियस्स,

भद्दं धुयरयस्स ।

नं०, ३

टीका—जिन देवाधिदेव चरम तीर्थंकर की सुर और असुर सभी देवी देवताओं ने, इन्द्रों और महेन्द्रों ने वन्दना की है, भक्ति की है, और जिन्होंने सभी कर्मों को क्षय कर दिया है, जिनके कर्म रूपी रज शेष नहीं रह गई है, ऐसे चौबीसवें तीर्थंकर भगवान] महावीर स्वामी कल्याण रूप हों, आपका सदैव जय जय कार हो ।

(१२)

जगणाहो जग बधू,

जयइ जगप्पियामहो भयवं ।

नं०, १

टीका—भगवान महावीर स्वामी संसार में अनाथ रूप से घूमने वाले जीवों को मोक्ष मार्ग के दर्शक होने से नाथ समान हैं । संसार के दुःखों से पीड़ित भव्य जीवों को मोक्ष-सुख देने वाले होने से ये जगत-बन्धु हैं । ससार में अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, निष्परिग्रह व्रत और अनासक्ति आदि रूप धर्म-मार्ग प्रचारित कर सर्व शक्तिमान् दीर्घ तपस्वी महावीर स्वामी ने संसारी जीवों की संसार समुद्र से रक्षा की है, अतएव ये संसार के लिए माता पिता के समान हैं, ऐसे जगतपति महावीर स्वामी की जय हो ।

(१३)

जयइ जग-जीव-जोणी-वियाणओ,

जग गुरू, जगाणन्दो ।

नं०, १

टीका—जिन शासन के चरम-तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी की जय हो । प्रभु महावीर ससार के सभी जीवों को मोक्ष-मार्ग बताने

में नेता रूप हैं, विश्व की सभी जीव योनियों के ये ज्ञाता हैं, ये जगत के गुरु हैं, अज्ञान रूप अन्धकार का नाश कर ज्ञान-रूप प्रकाश के करने वाले हैं, तथा संसार में शांति, सुख और आनन्द की पवित्र त्रिवेणी बहाने वाले हैं ।

(१४)

खेयन्नए से कुसलासुपन्ने,
अणंतनाणी य अणंतदंसी ।

सू०, ६, ३

टीका—भगवान महावीर स्वामी संसार के प्राणियों का दुःख जानने वाले थे, आठ प्रकार के कर्मों का छेदन करने वाले थे, सदा सर्वत्र उपयोग रखने वाले थे, एवं अनन्त ज्ञानी और अनन्त दर्शी थे ।

(१५)

अणुत्तरे सव्व जगंसि विज्जं,
गंथा अतीते अभए अणाऊ ।

सू०, ६, ५

टीका—वे दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीर स्वामी सबसे उत्तम विद्वान् महापुरुष थे । बाह्य और आभ्यंतर दोनों प्रकार की ग्रंथियों से रहित थे । निर्भय थे, और चरम शरीरी थे ।

(१६)

अणुत्तरं धम्म मिणं जिणाणं,
णेया मुणी कासव आसुपन्ने ।

सू०, ६, ७

टीका— राग और द्वेष को आत्यंतिक रूप से जीतने वाले महापुरुषों का—जिनेन्द्रों का यह धर्म है, जो कि श्रेष्ठ है । इसके नेता प्रभु महावीर स्वामी हैं, जो कि निर्ग्रन्थ हैं, अनासक्त हैं, इन्द्रिय-विजयी हैं और सतत अनन्त ज्ञानशाली हैं ।

(१७)

भद्दं सव्व जगुज्जोयगस्स,
भद्दं जिणस्स वीरस्स ।

नं०, ३

टीका—जिन्होंने तीनों लोक में अशांति मिटाकर शांति की, अज्ञान का नाश कर ज्ञान का प्रकाश किया, मिथ्यात्व के स्थान पर सम्यक्त्व धर्म की स्थापना की, हिंसा, झूठ, भोग, तृष्णा आदि दुर्गुणों के स्थान पर अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति आदि रूप संयम मार्ग को प्रदर्शित किया, ऐसे श्री जिनेन्द्र देव भगवान महावीर स्वामी की जय हो, आपका महान् कल्याणकारी शासन सदैव अजेय हो ।

(१८)

संघ नगर ! भद्दं, ते !!
अखंड चारित्त पागारा ।

नं०, ४

टीका—हे चतुर्विध संघ रूप रमणीय नगर ! आप कल्याण रूप हैं । आपकी महती महिमा है । आप अवर्णनीय यशवाले हैं । आपके चारों ओर चारित्ररूप–संयम रूप अखण्ड प्रकोट है । यही अचल और अभेद्य गढ़ है ।

(१९)

संजम-तव-तुंबारयस्स,
नमो सम्मत्त पारियल्लस्स ।

नं०, ५

टीका—विषय और कषाय को काटने में जिसके पास संयम और तप रूपी पवित्र चक्रायुध हैं, सम्यक्त्व रूपी सुन्दर धारा है, ऐसे अनन्त शक्ति सम्पन्न श्री संघ को नमस्कार हो ।

(२०)

अप्पडि चक्कस्स जओ,
होउ, सया संघ चक्कस्स ।

नं०, ५

टीका—जिनके चक्र को—शासन-व्यवस्था को और पवित्र सिद्धान्तों को कोई काट नहीं सकता है, कोई चल-विचल नहीं कर सकता है। ऐसे चक्र शील और निरन्तर प्रगति शील--श्री संघ की सदा जय हो, नित्य विजय हो ।

(२१)

भद्दं सील पडागुसियस्स,
तव नियम तुरय जुत्तस्स ॥

नं०, ६

टींका—चतुर्विध श्री संघ एक अनुपम रथ के समान है, जिसके ऊपर शील रत्न रूप सुन्दर पताका-ध्वजा-फहरा रही है। जिसमें तप, नियम, संयम रूप सुन्दर घोड़े जुते हुए हैं। ऐसा श्री संघ रूप यह सर्वोत्तम रथ हमारे लिये आध्यात्मिक कल्याण करने वाला हो।

★

आत्मवाद सूत्र

(१)

एगे आया।

ठाणा०, १ ला. ठा० १

टीका—सम्पूर्ण लोकाकाश में रहे हुए सभी जीव या सभी आत्माएँ गुणों की अपेक्षा से—अपने मूल स्वभाव और स्वरूप की अपेक्षासे, मूलभूत लक्षणोंकी अपेक्षासे समान हैं। विशुद्ध दृष्टि से सभी आत्माओं में परस्पर में कोई भिन्नता नहीं है। इसलिए इस अपेक्षासे, इस नय की दृष्टि से सारे विश्व में–सारे ब्रह्मांड में एक ही आत्मा है। चेतन द्रव्य एक ही है। अनन्तानन्त, अपरिमित, संख्यातीत आत्माओं के होने पर भी मूल गुण, धर्म, लक्षण, स्वभाव, स्वरूप, प्रकृति आदि समान हैं, एक जैसे ही हैं। अतएव यह कहने में कोई शास्त्रीय बाधा नहीं है कि अपेक्षा विशेष से आत्मा एक ही है, जो कि विश्व-व्यापी है और अनन्तशक्तियों का पुञ्ज है।

(२)

नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्त भावा,
अमुत्त भावा वि य होइ निच्चो।

उ०, १४, १९

टीका—आत्मा अमूर्त्त है, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से रहित है, इसलिए आत्मा इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य है, यानी जानने योग्य नहीं है। तथा अमूर्त्त यानी अरूपी होने से ही यह नित्य है, अक्षय है, शाश्वत् है। पर्यायें पलटने पर भी-विभिन्न गतियों में विभिन्न शरीर धारण करने पर भी इसका एकान्त नाश नहीं होता है।

(३)

जेण विजाणइ से आया।

आ०, ५, १६६, उ, ५

टीका—जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है, जो ज्ञान-प्राप्ति में असाधारण रूप से साधक-तम कारण है, उसे ही आत्मा कहते हैं। ज्ञान का मूल स्थान, ज्ञानका मूल कारण, ज्ञान का मूल आधार आत्मा ही है। जहाँ २ आत्मा है, वहाँ २ ज्ञान है। और जहाँ २ ज्ञान है, वहाँ २ आत्मा है। ज्ञान और आत्मा का अग्नि एवं उष्णता के समान आधार-आधेय सम्बन्ध है। अंग-अंगी सम्बन्ध है।

(४)

अरूवी सत्ता अपयस्स पयं नत्थि।

आ०, ५, १७१–१७२, उ, ६

टीका—मोक्ष में आत्मा का मूल स्वरूप अरूपी है। आत्मा वर्ण से, गन्ध से, रस से, और स्पर्श धर्म से रहित है। अशब्द रूप है। उसके लिए कोई भी शब्द नहीं जोड़ा जा सकता है। व्यवहार-दृष्टि से भले ही कोई शब्द जोड़कर उसका ज्ञान कराया जाय, परंतु उसका वास्तविक स्वरूप पूर्ण निर्मलता प्राप्त होनेपर ही अनुभव किया जा सकता है। अमुक्ति-अवस्था में, संसार अवस्थामें, राग-द्वेष से युक्त अवस्था में, कषाय-अवस्था में, उसका वास्तविक अनु-भव नहीं किया जा सकता है।

(५)

जे आया से विन्नाया,
जे विन्नाया से आया।

आ०, ५, १६६, उ, ५,

टीका—जो आत्मा है, वही ज्ञाता है, जो ज्ञाता है, वही आत्मा है। ज्ञान और आत्मा का अभिन्न सम्बन्ध है, गुण-गुणी सम्बन्ध है,

धर्म-धर्मी सम्बन्ध है। यह त्रिकाल, सर्वत्र और सर्वदा साथ २ रहने वाला तादात्म्य सम्बन्ध है। कभी भी इनमें जुदाई नहीं होती है। यदि गुण-गुणी सम्बन्ध वाले पदार्थों में से गुणों के पृथक् होने का सिद्धान्त मान लिया जायगा तो अस्ति रूप द्रव्यों को नास्ति रूप होने का प्रसंग आ जायगा।

(६)

जे अज्झत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ।
जे बहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ।

आ०, १, ५७, उ, ७

टीका—जो आत्मा अपना मूल स्वरूप जानता है,—अपने आपको अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द का स्थायी अधिकारी मानता है, वह संसार के सभी पुद्गलों का स्वरूप भी जानता है और जो बाह्य पुद्गलों को जानता है, वही अपने आंतरिक आध्यात्मिक स्वरूप को भी जानता है। तात्पर्य यह है कि जो आत्मा को जानता है, वह बाह्य संसार को भी जानता है; और जो बाह्य संसार को जानता है, वह आत्मा को भी जानता है।

(७)

एगं जिणेज्ज अप्पाणं।
एस से परमो जओ॥

उ०, ९, ३४,

टीका—जो अपनी आत्मा को विषय से, विकार से, वासना से, कषाय से, जीत लेता है, यही विजय सर्वश्रेष्ठ विजय है। और ऐसी आत्मा ही सभी वीरों में सर्व श्रेष्ठ वीर है।

(८)

अप्पाणमेव जुज्झाहि,
किं ते जुज्झेण बज्झओ।

उ०, ९, ३५

टीका—अपनी आत्मा में स्थित कषाय-विषय, विकार, वासना से ही युद्ध करो, बाह्य-युद्ध में क्या रखा है ? बाह्य युद्ध तो और भी अधिक कषाय, वैर-विरोध और हिंसा एवं प्रतिहिंसा को ही बढ़ाने वाला होता है ।

(९)

अप्पाणं जइत्ता सुह मेहए ।

उ०, ९, ३५

टीका—अपनी आत्मा को सांसारिक भोगों से हटाकर, राजस् और तामसिक दुर्गुणों पर विजय प्राप्त कर, सात्विकता प्राप्त करने पर ही सुखी बन सकते हैं ।

(०१)

सव्वं अप्पे जिए जियं ।

उ०, ९, ३६

टीका—केवल एक आत्मा को जीत लेने पर ही यानी कषायों पर विजय प्राप्त कर लेने से ही सब कुछ जीत लिया जाता है, इसके बाद कुछ भी जीतना शेष नहीं रहता है ।

(११)

अप्पा मित्त ममित्तं च,
दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ।

उ०, २०, ३७

टीका—अपने आपको दुःखमय स्थान में पहुंचाने वाला अथवा सुखमय स्थान में पहुंचानेवाला यह स्वयं आत्मा ही है । यह आत्मा ही स्व का शत्रु भी हैं और मित्र भी है । सन्मार्ग गामी हो तो मित्र है और उन्मार्ग गामी हो तो शत्रु है ।

(१२)

अप्पा कत्ता विकत्ता य,
दुहाण य सुहाण य।

उ०, २०, ३७

टीका—यह आत्मा ही अपने लिये स्वयं सुख का और दुख का कर्ता है-कर्मों का बांधने वाला है और कर्मों को काटने वाला भी यही है।

(१३)

अप्पा कामदुहा धेणू,
अप्पा मे नन्दणं वणं ॥

उ०, २०, ३६

टीका—सन्मार्ग में प्रवृत्ति करने की दशा में यह आत्मा स्वयं-खुद के लिये कामदुग्ध धेनु–यानी इच्छा पूर्ति करने वाली आदर्श देव-गाय के समान है। नैतिक और आध्यात्मिक मार्ग पर चलने की दशा में यह आत्मा स्वयं नंदन वन के समान है। पवित्र और सेवा मय कार्य करने से यह आत्मा स्वयं मनोवांछित फल देने वाली हो जाती है। स्वर्ग और मोक्ष के सुखों को प्राप्त कराने वाली स्वयं यही है।

(१४)

अप्पा नई वेयरणी,
अप्पा मे कूड सामली।

उ०, २०, ३६

टीका—यह आत्मा ही स्वयं-खुद के लिये अनीति पूर्ण मार्ग पर चलने से वेतरणी नदी के समान है, और पाप पूर्ण कार्यों में फंसे रहने की दशा में कूट शालमली वृक्ष के समान है। उन्मार्ग गामी होने की दशा में आत्मा स्वयं अपने लिये वेतरणी और कूट शालमली वृक्ष के जैसे नानाविध दुःखों को पैदा कर लेती है।

(१५)

न तं अरी कंठ छित्ता करेइ,
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ।

उ०, २०, ४८

टीका—दुराचार में प्रवृत्त हुआ यह आत्मा स्वयं का जैसा और जितना अनर्थ करता है, वैसा अनर्थ तो कंठ को छेदने वाला या काटने वाला शत्रु भी नहीं करता है । अनर्थमय प्रवृत्ति शत्रु की प्रतिक्रिया से भी भयंकर होती है और अनेक जन्मों में दुःख देने वाली होती है ।

(१६)

कप्पिओ फालिओ छिन्नो,
उक्कित्तो अ अणेगसो ।

उ०, १९, ६३

टीका—यह पापी आत्मा अनेक बार काटा गया, कतरा गया, फाड़ा गया, चीरा गया, छेदन किया गया, टुकड़े २ किया गया, और उत्कर्त्तन किया गया यानी चमड़ी उतार दी गई ।

(१७)

दड्ढो पक्को अ अवसो,
पाव कम्मेहिं पाविओ ।

उ०, १९, ५८

टीका—यह पापी आत्मा पाप कर्मों के कारण से अनेक बार आग से जलाया गया, पकाया गया और दुःख झेलने के लिये विवश किया गया है ।

१८)

पाडिओ फालिओ छिन्नो,
विप्फुरन्तो अणेगसो ।

उ०, १९, ५५

टीका—यह आत्मा अनंत बार इस संसार में विभिन्न स्थानों पर विभिन्न जन्मों में पटका गया, गिराया गया, फाड़ा गया, चीरा गया, काटा गया, टुकड़े २ किया गया और शरण के लिये भागते हुए को नाना प्रकार के कष्टों से दुःखी किया गया है।

दुर्लभांग-शिक्षा सूत्र

(१)

उत्तम धम्म सुई हु दुल्लहा ।

उ०, १०, १८

टीका—उत्तम, श्रेष्ठ धर्म को-दान, शील, तप और भावनामय चारित्र को सुनने का प्रसंग मिलना अत्यंत दुर्लभ है । अतएव सुयोग से प्राप्त संयोग का लाभ उठाने में जरा भी भूल नहीं करना चाहिये ।

(२)

सुई धम्मस्स दुल्लहा ।

उ०, ३, ८

टीका—धर्म की, मोक्ष मार्ग के कारणों की, आत्मोन्नति के गुणों की, ज्ञान-दर्शन-चारित्र के स्वरूप की बातें सुनने का, उपदेश सुनने का अवसर प्राप्त होना अत्यंत कठिन है। पुण्य का उदय होने पर ही धर्म के सुनने का प्रसंग मिला करता है ।

(३)

सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा ।।

उ०, १०, १९

टीका—श्रेष्ठ धर्म को सुनने का प्रसंग मिल जाने पर भी उसके प्रति श्रद्धा होना, उसपर विश्वास आना अत्यन्त कठिन है । इसलिये अहिंसा प्रधान धर्म से कभी भी विचलित नहीं होना चाहिए !

(४)

सद्धा परम दुल्लहा ।

उ०, ३, ९

टीका—यदि सौभाग्य से ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्ष मार्ग की बातें सुनने का मौका मिल जाय, तो भी उनपर श्रद्धा आना-आत्म विश्वास का पैदा होना अत्यन्त कठिन है ! दुर्लभ है !

(५)

णो सुलभं बोहिं च आहियं ।

सू०, २, १९, उ, ३

टीका—सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन मिलना अत्यन्त कठिन है। अनेक जन्मों में संचित पुण्य के उदय से ही ज्ञान और दर्शन की प्राप्ति होती है। इसलिए जीवन को प्रमादमय नहीं बनाकर पर-सेवामय ही बनाना चाहिए।

(६)

संबोही खलु दुल्लहा ।

सू०, २, १, उ, १

टीका—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है ! आत्मा में कषायों की शांति होने पर और पुण्य के उदय होने पर ही सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन की प्राप्ति होती है। इसलिये जीवन में प्रमाद को स्थान नहीं देना चाहिये।

(७)

दुल्लहया काएण फासया ।

उ०, १०, २०

टीका—श्रेष्ठ धर्म का, अहिंसा प्रधान धर्म का और स्याद्वाद प्रधान सिद्धान्त का काया द्वारा आचरण किया जाना तो अत्यन्त

दुर्लभ है। अतएव प्रमाद से सदैव सावधान रहना चाहिये और मन, वचन तथा काया को धर्म-मार्ग में प्रवृत्त करना चाहिये।

(८)

दुल्लहाओ तहच्चाओ।

सू०, १५, १८

टीका—सम्यग्-दर्शन की प्राप्ति के अनुरूप हृदय के शुद्ध परिणाम होना, निर्दोष अन्तःकरण का होना अत्यन्त कठिन है। शुभ कर्मों का उदय होने पर ही सम्यग्-दर्शन के अनुसार हृदय में सरलता, प्रशस्यता, शुभ ध्यान और शुभ-लेश्या पैदा हो सकती है।

(९)

आयरिअत्तं पुणरावि दुल्लहं।

उ०, १०, १६

टीका—यदि दैवयोग से मनुष्य-शरीर मिल जाय, तो भी आर्य-धर्म की व अहिंसा प्रधान धर्म की प्राप्ति होना तो बहुत ही दुर्लभ है, इसलिए क्षण-मात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिये।

(१०)

दुल्लभेऽयं समुस्सए।

सू०, १५, १७

टीका—मनुष्यभव प्राप्त करना बहुत ही कठिन है, इसलिये इससे जितना भी फायदा उठाया जा सके, उतना उठा लेना चाहिये। अन्यथा पछताना होगा।

(११)

अहीण पंचेंदियया हु दुल्लहा।

उ०, १०, १७

टीका— पांचों इंद्रियां सर्वाङ्ग सुन्दर और स्वस्थ मिलना अत्यन्त दुर्लभ है, इसलिये क्षणमात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिये !

(१२)

नो सुलभं पुणरावि जीवियं ।

सू०, २, १, उ, १

टीका—संयम जीवन बार-बार सुलभ नहीं है, इसलिये प्रमाद मत करो। अशुभ-मार्गमें प्रवृत्ति मत करो !

(१३)

जुद्धारिहं खलु दुल्लहं ।

आ०, ५, १५५, उ, ३

टीका—संयम मार्ग पर चलते हुए-कर्त्तव्य-मार्ग पर चलते हुए आनेवाले परिषहों को-उपसर्गों को, जो कि आर्य-शत्रु हैं, ऐसे आर्य शत्रुओं पर विजय-प्राप्त करके इनको जीतना ही आदर्श काम है। इसीलिये कहा गया है कि आर्य-युद्ध बहुत कठिनाई से प्राप्त होता है। इस आर्य-युद्ध में ही वीरता बतलाओ।

(१४)

इओ विद्धंसमाणस्स,
पुणो संबोहि दुल्लभा ।

सू० १५, १८

टीका—जो जीव इस मनुष्य शरीर से भ्रष्ट हो जाता है, उसको फिर बोध-प्राप्त होना दुर्लभ है। मनुष्य जन्म प्राप्त करके जो केवल सारा समय विषय-भोगों में ही पूरा कर देता है, एवं दान, शील, तप, और भावना से खाली हाथ जाता है, उसे सम्यग्-दर्शन पुनः प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है, इसलिये समय का सदुपयोग धर्माराधन में ही रहा हुआ है।

(१५)

बहु कम्म लेव लित्ताणं,
बोही होइ सुदुल्लहा ।

उ० ८, १५

टीका—भारी कर्मों में लिप्त जीवों को, भोगों में फंसे हुए जीवों को, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र और नीति मार्ग की प्राप्ति बहुत ही कठिनाई से होती है।

(१६)

सुदुल्लहं लहिउं बोहि लाभं विहरेज्ज।

उ०, १७, १

टीका—सुदुर्लभ सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन की प्राप्ति करके, आत्म-कल्याण के मार्ग पर आरूढ़ होकर आनन्द पूर्वक निर्लेपता के साथ और निश्चितता के साथ विचरो। इसी रीति से जीवन-काल व्यतीत करो।

(१७)

माणुस्सं खु सुदुल्लहं।

उ०, २०, ११

टीका—मनुष्य-जीवन मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। अनेक जन्मों में महान् पुण्य कर्मों का संचय होने पर ही मनुष्य-जन्म की प्राप्ति होती है। इसलिए बहुमूल्य समय को व्यर्थ, और अनुपयोगी कामों में खर्च मत करो।

(१८)

मायाहिं पियाहिं लुप्पइ,
नो सुलहा सुगई य पेच्चओ।

सू०, २, ३, उ, १

टीका—जो पुरुष अपना कर्त्तव्य भूलकर माता-पिता के मोह में फंस जाता है-मोह-ग्रस्त हो जाता है, उसकी मरने पर सुगति नहीं हो सकती है।

★

ज्ञान-सूत्र

(१)

एगे नाणे ।

ठाणांग, १ ला, ठा, ४२

टीका—आत्मा का लक्षण ज्ञान बताया गया है । आत्मा एक अखंड द्रव्य है, स्वतंत्र सत्ता वाला अरूपी द्रव्य है, । तदनुसार उसका लक्षण यानी धर्म भी अखंड और स्वतन्त्र ही है. । ज्ञान-शक्ति प्रत्येक आत्मा में अखंड रूप से और अपने आपमें परिपूर्ण रूप से व्याप्त है ।

संसार में विभिन्न जीवों में जो ज्ञान के भेद या परस्पर में जो ज्ञान की विभिन्नता पाई जाती है, उसका मूल कारण आत्मा में संलग्न कर्म परमाणु हैं, जैसे सूर्य के प्रकाश में बादलों के कारण से छाया और प्रकाश की तारतम्यता देखी जाती है; उसी तरह से कर्मों के भेद से या कर्मों की विषमता से संसारी आत्माओं के ज्ञान में भी भेद पाया जाता है । परन्तु मूल में सभी आत्माओं में समान, परिपूर्ण, अखंड और एक ही ज्ञान अवस्थित है, किसी में भी कम या अधिक नहीं है, अतएव यह कहना कि "ज्ञान एक ही है" सत्य है ।

(२)

पढमं नाणं तओ दया ।

द०, ४, १०

टीका—प्रथम सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । इसके बाद की जाने वाली क्रिया सम्यक् है, ठीक है । यही मोक्ष-मार्ग को

देने वाली हो सकेगी। अतएव ज्ञान होना सर्व प्रथम आवश्यक है। आदि में ज्ञान और तत्पश्चात् दया को स्थान दिया गया है।

(३)

दुविहा बोही,

णाण बोही चेव दंसण बोही चेव।

ठाणा०, २ रा, ठा०, ३, ४, ११

टीका—समझ दो प्रकार की है—१ ज्ञान समझ और २ दर्शन समझ।

वस्तुओं को जानना-पहिचानना ज्ञान-समझ है और उन पर उसी रीति से विश्वास करना दर्शन समझ है।

(४)

नाणेण जाणई भावे।

उ०, २८, ३५

टीका—सम्यक् ज्ञान होने पर ही, सभी द्रव्यों का और उनकी पर्यायों का, उनके गुणों का और उनके धर्मों का भली भांति ज्ञान हो सकता है।

(५)

नाणेण विना न हुन्ति चरणगुणा।

उ०, २८, ३०

टीका—जिस आत्मा में सम्यक् ज्ञान नहीं है, उस आत्मा का चारित्र भी ऐसी अवस्था में सम्यक् चारित्र नहीं कहा जा सकता है।

(६)

दुविहे नाणे पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव।

ठाणा०, २रा, ठा, १ला, उ०, २४,

टीका—प्रमुख रूप से ज्ञान दो प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष और

परोक्ष । इन्हीं दो ज्ञान-भेदों में ज्ञान के अवशिष्ट सभी भेदों का समावेश किया जा सकता है ।

आत्म-शक्ति के आधार से उत्पन्न होने वाले अवधिज्ञान, मनः-पर्याय ज्ञान और केवल ज्ञान का समावेश तो प्रत्यक्ष ज्ञानमें किया जा सकता है; और मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम, स्मृति, प्रत्यभि ज्ञान, बुद्धि ज्ञान, कल्पना ज्ञान, और विभिन्न साहित्यिक ज्ञान का समावेश परोक्ष में किया जा सकता है । परोक्ष इन्द्रिय और मन जनित होता है ।

(७)

नाण संपन्नयाए जीवे,
सव्व भावाहि गमं जणयइ ।

उ०, २९, ५९वाँ, ग०

टीका—ज्ञान संपन्नतासे, ज्ञान की वृद्धि करने से, आत्मा विश्व-व्यापी छः ही द्रव्यों का और उनकी पर्यायों का तथा उनके गुण-धर्मों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है । इससे चारित्र में वृद्धि करनेका मौका मिलता है ।

(८)

चउव्विहा बुद्धी, उप्पइया,
वेणइया, कम्मिया, पारिणामिया ।

ठाणा०, ठा, ४ उ; ४,३१

टीका—बुद्धि चार प्रकार की कही गई है :—१ औत्पातिकी, २ वैनयिकी, ३ कार्मिकी ४ पारिणामिकी ।

(१) किसी भी प्रसंग पर सहज भावसे उत्पन्न होनेवाली और उपस्थित प्रश्नको तत्काल हल कर देने वाली बुद्धि औत्पातिकी बुद्धि है ।

(२) गुरु आदि पूजनीय पुरुषों की सेवा-भक्ति करने से पैदा होने वाली बुद्धि वैनयिकी है।

(३) अभ्यास करते करते और कार्य करते करते प्राप्त होने-वाली बुद्धि कार्मिकी है।

(४) ज्यों ज्यों आयु के बढ़ने पर संसार के अनुभव से प्राप्त होने वाली बुद्धि पारिणामिकी बुद्धि है।

(९)

जिणो जाणइ केवली।

द०, ४, २२

टीका—राग और द्वेष पर, आत्यन्तिक विजय प्राप्त करने वाले जिन-प्रभु, केवल ज्ञानी ही सम्पूर्ण लोक और अलोक को देख सकते हैं। ऐसे जिन देव ही हमारे आदर्श हैं।

(१०)

ना दंसणिस्स नाणं।

उ०, २८, ३०

टीका—जिस आत्मा को सम्यक् दर्शन यानी सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ है, उसका ज्ञान भी सम्यक् ज्ञान नहीं कहा जा सकता है, वह ज्ञान तो मिथ्या ज्ञान ही है।

(११)

नाणेण य मुणी होइ,
तवेण होइ तावसो।

उ०, २५, ३२

टीका—जो सम्यक् ज्ञान से युक्त होता है, वही मुनि है। और जो तप-संयम से युक्त है, वही तपस्वी है। गुणों के अनुसार ही पद की शोभा है। गुणों के अभाव में पद धारण करना बिडम्बना मात्र है।

(१२)

बुद्धा हु ते अंतकडा भवंति।

सू०; १२, १६

टीका—ज्ञानी पुरुष अपने संसार का अंत करने वाले होते हैं। अपनी-ज्ञान बल से वस्तु-स्थिति समझ कर भोगों और तृष्णा के जाल में नहीं फँसते है, इससे शीघ्र कर्मों का नाश कर उन्हें मोक्ष तक पहुँचने में कोई खास कठिनाई नहीं आती है। वे शीघ्र ही अपने आत्म बल, चारित्र बल, कर्मण्यता बल, सेवा बल, और ज्ञान बल से संसार के सामने आदर्श महापुरुष बन जाते है।

(१३)

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ,
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।

आ०, ३, १२३, उ, ४

टीका—जिसने एक यानी अपनी आत्मा का स्वरूप भलीभांति समझ लिया है, उसने सारे संसार का स्वरूप समझ लिया है और जिसने सारे संसार का स्वरूप समझ लिया है, उसने अपनी आत्मा का भी स्वरूप समझ लिया है। जो एक को जानता है, वह सबको जानता है, जो सबको जानता है, वह एक को भी जानता है।

(१४)

सीहे मियाण पवरे,
एवं हवइ बहुस्सुए।

उ०; ११, २०

टीका—जैसे केशरी सिंह सभी वन-चर-जीवों में श्रेष्ठ और प्रमुख होता है, वैसे ही बहुश्रुत ज्ञानी भी विनीत होने पर ही शोभा पाता है। ज्ञानकी शोभा विनय पूर्वक सम्यक् आचरण पर ही आश्रित है।

(१५)

सक्के देवाहिवई,
एवं हवई बहुस्सुए।

उ०, ११, २३

टीका—जैसे देवताओं का स्वामी इन्द्र देवताओं में शोभा पाता है, वैसे ही बहुश्रुत-ज्ञानी, विनीत होने पर ही जन-समाज में शोभा को प्राप्त होता है।

(१६)

उदही नाणारयण पडिपुण्णे,
एवं हवइ बहुस्सुए।

उ०, ११, ३०

टीका—जैसे समुद्र नानाविध रत्नों से परिपूर्ण होता है, वैसे ही बहुश्रुत-ज्ञानी विनय शील होता हुआ स्वाभाविक रूप से ही नाना गुणों से परिपूर्ण हो जाता है।

(१७)

सुय महिट्ठिज्जा उत्तमट्ठ गवेसए।

उ०, ११, ३२

टीका—उत्तम अर्थ की खोज करने के लिये, आत्मा और परमात्मा के रहस्य को समझने के लिए, आत्मा की अनुभूति के लिये, सूत्र का अध्ययन करना चाहिये। भगवान की वाणी का मनन और चिन्तन करना चाहिये।

(१८)

सज्झायंमि रओ सया

द०, ८, ४२

टीका—सदैव स्वाध्याय में ही लगे रहना चाहिये, ज्ञान बढ़ाने वाली पुस्तकें पढ़ने में ही संलग्न रहना चाहिए। क्योंकि ज्ञान ही उन्नति का मार्ग-दर्शक है।

(१९)

सुयस्स पुण्णा विउलस्स ताइणो,
खवित्तु कम्मं गइ मुत्तमं गया।

उ०, ११, ३१

टीका—विपुल अर्थ वाले श्रुत ज्ञान के धारक और षट् काय जीवों की रक्षा करने वाले, ऐसे बहुश्रुत ज्ञानी और दयाशील आत्मार्थी महापुरुष कर्मों का क्षय करके उत्तम गति को यानी मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। यही आदर्श हमारे सामने भी होना चाहिये।

(२०)

वसे गुरुकुले निच्चं।

उ०, ११, १४

टीका—शिक्षार्थी, ज्ञानार्थी, नियम पूर्वक ज्ञान-प्राप्ति के लिये और आचरण शुद्धि के लिये गुरुकुल में अथवा ऋषि महात्माओं की संगति में वास करे। इसी प्रकार अपना जीवन-भाग बितावे।

★

दर्शन-सूत्र

(१)

संमत्त दंसी न करेइ पावं ।

आ०, ३, ४, उ, २

टीका—जो सम्यक् दृष्टि है, जिसका एकान्त ध्येय ज्ञान, दर्शन और चारित्र में ही रमण करना है, जो चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते और दूसरी क्रियाऐं करते हुए भी विवेक और यतना का ख्याल रखते हैं, अहिंसा और सेवा को ही मूल आधार मानकर जीवन-व्यवहार चलाते हैं, तो ऐसी स्थिति में शरीर सम्बन्धी और अन्य व्यवहार सम्बन्धी सभी क्रियाएँ करने की दशा में भी उनको पाप कर्म नहीं छू सकता है। इस प्रकार सम्यक् दृष्टि पाप नहीं करता है। योग-प्रवृत्ति होनेपर भी वह पाप से मुक्त है।

(२)

नत्थि चरित्तं सम्मत्त विहूणं ।

उ०, २८, २९

टीका—सम्यक्त्व के बिना, श्रद्धा के बिना–वास्तविक विश्वास के बिना, सम्यक् चारित्र की प्राप्ति नहीं हो सकती है। विश्वास के अभाव में चारित्र केवल बाह्य साधारण आचरण मात्र है, वह मोक्ष की तरफ बढ़ाने वाला वैराग्यमय सुन्दर चारित्र नहीं कहा जा सकता है।

(३)

दंसणेण य सद्दहे ।

उ०, २८, ३५

टीका—सम्यक् दर्शन होने पर ही सभी द्रव्यों की, इनके पर्यायों की और इनके गुणों की श्रद्धा जम सकती है, इनपर विश्वास हो सकता है।

(४)

नाणब्भट्ठा दंसण लूसिणो।

आ०, ६, १८७, उ, ४

टीका—जो सम्यक् दर्शन से भ्रष्ट हो जाते हैं, जिनका विश्वास आत्मा, ईश्वर, पाप, पुण्य आदि सिद्धान्तों पर से उठ जाता है, उनका सम्यक् ज्ञान भी नष्ट हो जाता है। वे ज्ञान से भ्रष्ट होकर मिथ्यात्वी हो जाते हैं। मिथ्यात्वी हो जाने पर उनका लक्ष्य केवल भोग भोगना, सांसार सुख प्राप्त करना, संसारिक वैभव एकत्र करना ही रह जाता है। इस कारण उनका ज्ञान मिथ्या ज्ञान है और वे मिथ्यात्वी हैं। इस प्रकार दर्शन से पतित आत्माऐं, ज्ञान भ्रष्ट हो जाया करती हैं।

(५)

समियंति मन्नमाणस्स समिया,
वा असमिया वा समिश्रा होइ।

आ०, ५. १६४, उ,५

टीका—जो आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्र में पूरी पूरी श्रद्धा करता है और डिगाने पर भी नहीं डिगता है, तो ऐसे सम्यक्त्वशील आत्मा के लिये सच्चा और मिथ्या दोमों ही प्रकारका ज्ञान सत्य रूप से परिणमित हो जाता है। असत्य भी सम्यक्त्वी के लिये सत्य रूप से ही काम देता है, यह सब महिमा सम्यक्त्व की ही है।

(६)

वीरा सम्मत्त दंसिणो,
सुद्धं तेसिं परक्कंतं।

सू०, ८, २३

टीका—जो सम्यक् दर्शनी है अर्थात् संसार के सुख में रहते हुए भी जिनका दृष्टिकोण अनासक्त रूप है, ऐसे वीर पुरुषों का प्रयत्न चाहे वह कैसा भी हो तो भी शुद्ध ही है, संसार को घटाने वाला ही है, बशर्ते कि वे वास्तव में अनासक्त और विरक्त हों।

(७)

दंसण संपन्नयाए,
भव मिच्छत्त छेयणं करेइ।

उ०, २९, ६०वाँ, ग०

टीका—दर्शन संपन्नता से, सम्यक्त्व से, धर्म में विश्वास करने से मिथ्यात्व का नाश होता है, भोगों की तरफ अरुचि बढ़ती है, संसार-परिभ्रमण की मात्रा घटती है, एवं सूत्र-सिद्धान्तों का ज्ञान बढ़ता है।

(८)

सम्मद्दिट्ठी सया अमूढे।

द०, १०, ७

टीका—सम्यक् दृष्टि आत्मा ही, आत्मा और परमात्मा पर एक-मात्र दृष्टि रखने वाला पुरुष ही, ज्ञान-दर्शन-चारित्र में लीन व्यक्ति ही सदैव अमूढ़ होता है। वह चतुर, सत्दर्शी और सम्यक् मार्गी होता है।

(९)

दिट्ठिमं दिट्ठि ण लूसएज्जा।

सू०, १४, २५

टीका—सम्यग् दृष्टि पुरुष अपनी श्रद्धा को और अपने सम्यग् दर्शन को एवं शुद्ध-भावना को दूषित नहीं करे।

सम्यक्-दर्शन में चल-विचलता, संशय, भावोंकी संमिश्रणता, विपरीत धारणा आदि दुर्गुण नहीं आने दे।

(१०)

चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ।

उ०, २९, ९ वां, ग०

टीका---चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करने से, ईश्वर-भजन करने से दर्शनमें, श्रद्धामें, सम्यक्त्वमें विशुद्धि आती है। दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय होता है और भावना में निर्मलता तथा दृढ़ता पैदा होती है।

(११)

वितिगिच्छ समावन्नेणं,
अप्पाणेणं नो लहइ समाहिं।

आ॰, ५, १६२, उ, ५

टीका---जिस आत्मा को ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी आराधना करते हुए नानाप्रकार की शंकाएँ पैदा हो जाती हैं, नवतत्वों और षड्-द्रव्यों के प्रति तथा अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रति भ्रमणाएँ पैदा हो जाती है, भ्रम हो जाता है, ऐसी आत्मा समाधि रूप शांति को नहीं प्राप्त कर सकती है। संयम-आराधना के लिये और कर्त्तव्य-पालन के लिए पूर्ण श्रद्धा तथा समाधिमय शांति की अनिवार्य आवश्यकता है। संदेह शील आत्मा चिर शांति नहीं प्राप्त कर सकती है।

(१२)

दुविहे दंसणे, सम्म दंसणे चेव,
मिच्छा दंसणे चेव।

ठाणा॰, २ रा, ठा, १ ला, उ, २३

टीका---संसार की वस्तुओं को, विश्व के द्रव्यों को देखने के दो दृष्टिकोण हैं :- १ सम्यक् दर्शन और २ मिथ्या दर्शन।

सम्यक्-दर्शन में आत्मा की पवित्रता प्रथम ध्येय होता है और जीवन का व्यवहार गौण होता है।

मिथ्या दर्शन में संसार का सुख-वैभव प्राप्त करना मुख्य ध्येय होता है, और आत्मा ईश्वर आदि आध्यात्मिक बातों के प्रति उपेक्षा होती है।

चारित्र-सूत्र

(१)

एगे चरित्ते ।

ठाणा०, १ ला, ठा, ४४

टीका—विशुद्ध आत्मा का विशुद्ध चारित्र ही एक अखंड और वास्तविक चारित्र है। वही परिपूर्ण चारित्र है।

संसार में विभिन्न आत्माओं का जो विभिन्न आचरण रूप चारित्र पाया जाता है, उसका मूल कारण कषाय, विषय, वासना, विकार और शुद्धि की अल्पाधिकता समझनी चाहिये।

सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो मूल में जो आदर्श चारित्र है, वही एक और अखंड है। उसी में कर्म-भेद से नाना भेद हुआ करते हैं।

(२)

चरित्तेण निगिण्हाइ ।

उ०, २८, ३५

टीका—सम्यक् चारित्र के द्वारा ही सब प्रकार के आश्रव का विरोध किया जा सकता है।

चारित्र के अभाव में आश्रव नहीं रोका जा सकता है।

(३)

विज्जा-चरणं पमोक्खं ।

सू०, १२, ११

टीका—विज्जा यानी ज्ञान और चरणं यानी क्रिया, इन दोनों से ही मोक्ष मिलता है। सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। दोनों में से एक के भी अभाव में मोक्ष नहीं मिल सकता है। दोनों का साथ-साथ होना आवश्यक है। ज्ञान

शब्द से ज्ञान और दर्शन दोनों ही समझना चाहिये। "सम्यग् ज्ञान-दर्शन चारित्राणि मोक्ष मार्गः" अथवा "ज्ञान-क्रियाभ्याम् मोक्षः" वाक्य भी इसी सूक्ति के पर्याय वाची वाक्य हैं।

(४)

खंते अभिनिव्वुडे दंते,
वीत गिद्धी सदा जए।

सू०, ८, २५

टीका—आत्म-कल्याण की भावना वाला पुरुष क्षमा-शील हो, लोभादि कषाय से रहित हो, जितेन्द्रिय हो, विषय-भोग में आसक्ति रखने वाला नहीं हो, तथा सदा यत्न पूर्वक, विवेक-पूर्वक जीवन व्यतीत करने वाला हो।

(५)

जवा लोहमया चेव,
चावेयव्वा सुदुक्करं।

उ०, १९, ३९

टीका—संयम यानी इन्द्रिय-दमन का मार्ग और मन के विकारों पर विजय करने का मार्ग लोहे के जौ चबाने के समान अत्यन्त कठिनतम कार्य है। यह सुदुष्कर व्रत है।

(६)

सामाइय माहु तस्स जं,
जो अप्पाणं भए ण दंसए।

सू०, २, १७, उ, २

टीका—जो अपनी आत्मा में जरा भी भय अनुभव नहीं करता है, जो सदैव निर्भय, निर्द्वंद्व रहता है, जो प्रिय, सत्य और सुन्दर बात को बिना लाग-लपेट के निर्भयता पूर्वक कहता है, उसके लिए सदैव सामयिक ही है। भय के साथ सामायिक भाव नहीं रह सकता है।

तप-सूत्र

(१)

तवं चरे ।

उ०, १८, १५

टीका—तपस्या का, त्याग का, निर्लेपता का और अकिंचनता का आचरण करो । बारह प्रकार की निर्जरा को जीवन में स्थान दो ।

(२)

तवसा धुणइ पुराण पावगं ।

द०, ९, ४, च० उ०

टीका—पूर्व काल में,—पूर्व जन्मों में किये हुए पापों की निर्जरा तप द्वारा होती है । अन-शन, उणोदरी आदि तप के भेद हैं, इसके सिवाय पर-सेवा, ज्ञान ध्यान की आराधना, कषाय त्याग आदि सत् क्रियाऐं भी तप हैं ।

(३)

तवेण परिसुज्झई ।

उ०, २८, ३५

टीका—बारह प्रकार के तप से ही, इन्द्रिय-दमन आदि तपस्या द्वारा ही पूर्व काल में उपार्जित कर्मों का क्षय किया जा सकता है ।

(४)

तवो गुण पहाणस्स उज्जुमइ ।

द०, ४, २७

टीका—जिसने अपने जीवन में, तप को-बाह्य और आभ्यंतर दोनों प्रकार की तपस्या को, मुख्य रूप से स्थान दिया है, वह ऋजु-मति है, वह सरल बुद्धि वाला है, वह निष्कपट हृदय वाला है ।

(५)

तवं कुव्वइ मेहावी ।

द०, ५, ४४, उ, द्वि,

टीका—मेधावी का, बुद्धि-शाली का और विवेक शाली का प्रत्येक कार्य विवेक पूर्वक होने से वह तपमय ही होता है, वह निर्जरा का ही कारण बनता है । विवेक में ही धर्म है ।

(६)

तवेणं वोदाणं जणयइ ।

उ०, २९, २७वां, ग,

टीका—तपसे, बारह प्रकार के तप की परिपालना करने से-तप की आराधना से पूर्व कृत कर्मों का क्षय होता है । इस प्रकार आत्मा निर्मल और बलवान् बनती है ।

(७)

परक्कमिज्जा तव संजमंमि ।

द०, ८, ४१

टीका—तप और संयम में सदैव पराक्रम बतलाना चाहिए, क्योंकि विकारों को जीतने के लिये संयम अद्वितीय साधन है ।

(८)

सव्वओ संवुडे दंते,

आयाणं सुसमाहरे ।

सू०, ८, २०

टीका—बाहिर और भीतर दोनों ओर से गुप्त रहे, संयम-शील रहे । हृदय में माया आदि कषाय और अशुभ ध्यानों का निवास नहीं होने दे, तथा बाहिर वचन और काया को अशुभ प्रवृत्तियों से रोके । इन्द्रियों का दमन और संयम की आराधना करता रहे । दर्शन, ज्ञान, और चारित्र का पालन तत्परता के साथ विशुद्ध रीति से करता रहे ।

(९)

अक्कोहणे सच्चरत्ते तवस्सी ।

सू०, १०, १२

टीका—जो कठिन से कठिन और प्रतिकूल परिस्थिति में भी क्रोध नहीं करता है, और विकट से विकट संकट में भी सत्य को नहीं छोड़ता है, वही पुरुष सच्चा तपस्वी है, वह श्रेष्ठ तपस्वी है। वही आदर्श पर-सेवक है ।

(१०)

अप्पा दन्तो सुही होइ ।

उ०, १, १५

टीका—जो अपनी आत्मा को विषय-कषाय से, विकार-वासना से, आसक्ति-मूर्च्छा से और तृष्णा-आशा से अलग करता रहता है, आत्मा का इस प्रकार दमन करता रहता है वही अंत में सुखी होता है ।

(११)

णो पूयणं तवसा आवहेज्जा ।

सू०, ७, २७

टीका—तपस्या के द्वारा पूजा की इच्छा नहीं करे, तपस्या का ध्येय आत्म-कल्याण का रखे, तपस्या के द्वारा पूजा मान-सन्मान की आकांक्षा नहीं करे। पूजा-सन्मान की भावना नियाणा है, और नियाणा से मोक्ष-प्राप्ति के स्थान पर संसार की ही वृद्धि होती है ।

(१२)

वेएज्ज निज्जरा-पेही ।

उ०, २, ३७

टीका—निर्जरा प्रेक्षी, पूर्व कर्मों को क्षय करने की इच्छा रखने वाला, दुःखको, परिषह को, उपसर्ग को और कठिनाइयों को शांति-पूर्वक सहन करे। अधीर और अशांत नहीं बन जाय !

(१३)

समाहि कामे समणे तवस्सी ।

;उ०, ३२, ४,

टीका—साधु को,—आत्मार्थी को यदि समाधि की इच्छा है, राग-द्वेष को क्षय करने की इच्छा है, तो तपशील बने, इन्द्रियों के ऊपर संयम रक्खें, और अनासक्त जीवन व्यतीत करे। निरन्तर पर-सेवा में ही काल व्यतीत करता रहे।

(१४)

असिधारा गमणं चेव,
दुक्करं चरिउं तवो ।

उ०, १९, ३८

टीका—कष्ट साध्य परन्तु सुन्दर परिणाम वाले तप का तथा सेवा और संयम का आचरण करना तलवार की धार पर चलने के समान दुष्कर है।

(१५)

दुविहे सामाइए,
अगार सामाइए अणगार सामाइए ।

ठाणा०, २ रा, ठा, उ, ३, ६

टीका—सामायिक दो प्रकार की कही गई है:—१ आगारिक सामायिक और २ अणागारिक सामायिक। मर्यादित समय की, गृहस्थों द्वारा की जाने वाली सामायिक आगारिक है और जीवन-पर्यंत के लिये ग्रहण की जाने वाली-साधुओं की सामायिक अणागारिक है।

(१६)

सामाइएणं सावज्ज जोग विरइं जणयइ ।

उ०, २९, ८, वां, ग०

टीका—सामायिक व्रत से-सावद्य-योग की निवृत्ति से-मन, वचन और काया की पापकारी प्रवृत्ति का निरोध होता है। सावद्य योग से विरति पैदा होकर निरवद्य-योग में प्रवृत्ति होती है।

(१७)

पडिक्कमणेणं वय छिद्दाणि पिहेइ ।

उ०; २९, ११ वां., ग०,

टीका—प्रतिक्रमण करने से-कृत अपराधों की आलोचना करने से–ग्रहित व्रतों में उत्पन्न दोषों का प्रायश्चित्त करने से व्रतों के दोष और ग्रहित नियमों के दोष ढंक जाते हैं, और इस प्रकार व्रत-नियम निर्दोष हो जाते हैं।

(१८)

काउस्सग्गेणं तीय पडुप्पन्नं,
पायच्छित्तं विसोहेइ ।

उ०, २९, १२वां, ग.

टीका—कायोत्सर्ग करने से, ध्यान करने से, प्रवृत्तियों को रोक कर–मानसिक-स्थिति को एकाग्र कर चिन्तन-मनन करने से, भूतकाल और वर्तमान काल के अतिचारों की विशुद्धि होती है तथा भविष्य में दोष लगनें की संभावना से आत्मा बच जाती है ।

(१९)

पच्चक्खाणेणं आसव दाराइं निरुम्भइ ।

उ०. २९, १३ वां, ग०,

टीका—प्रत्याख्यान करने से, त्याग करने से, वस्तुओं के भोग-उपभोग की मर्यादा करने से, आश्रव के द्वारों का निरोध होता है । इस प्रकार नये कर्म आते हुए रुकते हैं । इस रीति से संसार-समुद्र के किनारे की ओर बढ़ते हैं और मोक्ष के नजदीक जाते हैं ।

(२०)

पायच्छित्त करणेणं पावकम्म,
विसोहिं जणयइ ।

उ०, २९, १६ वां, ग०

टीका—प्रायश्चित्त करने से-अपने द्वारा कृत अपराधों के लिए और ग्रहित व्रतों में आये हुए दोषों के लिये निन्दापूर्वक आलोचना करने से, एवं पश्चात्ताप करने से पाप कर्मों का क्षय होता है और आत्मा की विशुद्धि होती है।

(२१)

वेयावच्चेणं तित्थयर-
नाम गोत्तं कम्मं निबन्धइ।

उ०, २९, ४३ वाँ, ग०

टीका—वैयावृत्य करने से, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाओं की, चतुर्विध श्री संघ की सेवाशुश्रुषा करने से, इन्हें साता पहुँचाने से, तीर्थंकर नाम कर्म का और उच्च गोत्र कर्म का बन्ध पड़ता है। इस रीति से मोक्ष-स्थान अति निकट आ जाता है।

(२२)

आलोयणाए उज्जु भावं जणयइ।

उ०, २९, पां० ग०

टीका—आलोचना से और पाप का प्रायश्चित्त करने से सरलता आती है, निष्कपटता पैदा होती है। इससे आत्मबल बढ़ता है एवं चारित्र में प्रगति होती है।

(२३)

सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो,
न दीसइ जाइ विसेस कोई।

उ०, १२, ३७

टीका—तप की और संयम प्रधान सद्गुणों की ही विशेषता और आदर-दृष्टि प्रत्यक्ष रूप से देखी जाती है। जाति-कुल-कुटुम्ब आदि की विशेषता अथवा उच्चता गुणों के अभाव में जरा भी आद-

रणीय नहीं है। बाह्य-उच्चता कृत्रिम उच्चता है। गुण-उच्चता ही वास्तविक उच्चता है।

(२४)

मज्झत्थो निज्जरापेही,
समाहि मणुपालए।

आ०, ८, २१, उ, ८

टीका—विपरीत परिस्थिति में भी मध्यस्थ होता हुआ, निर्जरा की आराधना करता हुआ, विभिन्न प्रकार के तपों का पालन करता हुआ, ज्ञानी पुरुष समाधि की और स्थिति-प्रज्ञ-भावना की सम्यक् प्रकार से परिपालना करे। वह धर्म पर दृढ़ रहें। मति को चंचल और चपल नहीं होने दे। वह कर्त्तव्य से पतित न हो।

(२५)

चउव्विहे पायच्छित्ते,
णाणपायच्छित्ते, दंसण पायच्छित्ते,
चरित्त पायच्छित्ते, वियत्त किच्चे पायच्छित्ते।

ठाणा०, ४था, ठा, उ, १, ३३

टीका—चार प्रकार के प्रायश्चित्त कहे गये हैं—१ ज्ञान प्रायश्चित्त, २ दर्शन प्रायश्चित्त, ३ चारित्र प्रायश्चित्त और ४ व्यक्त कृत्य प्राय-श्चित्त। १ ज्ञान की आराधना करके पापों की शुद्धि करना ज्ञान प्रायश्चित्त है। २ दर्शन की या श्रद्धा की विशुद्धि करके पापों का प्रायश्चित्त करना दर्शन प्रायश्चित्त है। ३ निर्मल चारित्र की आरा-धना करके पापों का पश्चाताप करना चारित्र प्रायश्चित्त हैं। ४ अना-सक्त और पूर्ण गीतार्थ होकर, एवं असाधारण विद्वान् बनकर पापों का प्रायश्चित्त करना व्यक्त कृत्य प्रायश्चित्त हैं।

(२६)

किसए देह मणासणाइहिं ।

सू०, २, १४, उ, १

टीका—इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिये, मनको नियंत्रित करने के लिये अनशन, उपवास आदि बाह्य और आभ्यंतर तपस्या के द्वारा शरीर को कृश करे। तप से शरीर की धातुओं को सुखावे।

मोक्ष-सूत्र

(१)

खेमं च सिवं अणुत्तरं ॥

उ०, १०, ३५

टीका--मोक्ष निराबाध सुख वाला है, शाश्वत् है, कल्याणकारी है, सर्वोत्कृष्ट है। मोक्ष क्षेम मय है, शिव मय है और सर्व श्रेष्ठ है।

(२)

सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थ नविज्जइ,
मई तत्थ न गाहिया, उवमा न विज्जए ।

आ०, ५, १ १-१७२-उ, ६

टीका--आत्मा की मुक्त-अवस्था शब्दातीत है, शब्दों से उसका वर्णन नहीं किया जा सकता है, सब शब्द उसके स्वरूप का वर्णन करने में हार खा जाते हैं। तर्क-शास्त्र भी अपनी असमर्थता बतला देता है। मनुष्यों की बुद्धि, कल्पना और अनुमान भी उसके मूल स्वरूप को नहीं खोज सकते हैं। किसी उपमा द्वारा भी उस मुक्त-अवस्था की तुलना नहीं की जा सकती है। इस प्रकार मुक्ति-अवस्था अनिर्वचनीय है, अतर्कनीय है, अनुमानातीत है, अनुपमेय है। वह तो केवल अनुभव-गम्य मात्र है। अपौद्गलिक है, एकान्त रूप से आत्मा की सर्वोच्च और अन्तिम मौलिक अवस्था है। केवल स्थायी निराबाध आध्यात्मिक आनंद अवस्था है। वेद भी "नेति नेति"—"ऐसा नहीं है ऐसा नहीं है," यह कहकर उसके स्वरूप वर्णन में अपनी असमर्थता जाहिर करते हैं।

(३)

सुद्धेण उवेति मोक्खं ।

सू०, १४, १७

टीका—शुद्धता से ही, निर्कषाय अवस्था से ही, मोक्ष प्राप्त होता है । कषाय का सर्वथा अभाव होगा तो अपने आप यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति हो जायगी, और इससे स्वभावतः मुक्ति की प्राप्ति हो जायगी ।

(४)

अव्वाबाहं सुक्खं,
अणुहोंती सासयं सिद्धा ।

उव०, सिद्ध, २१

टीका—सिद्ध प्रभु सदैव अव्याबाध यानी निराबाध, शाश्वत्, स्थायी, नित्य, अक्षय, अविछिन्न धारा वाले सुख का अनुभव करते रहते हैं । उनके सुखानुभव में किसी भी प्रकार की और कभी भी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है । बाधा उपस्थिति का कारण कर्म होता है, जो कि वहाँ नहीं है ।

(५)

सव्व संग विनिम्मुक्को,
सिद्धे भवइ नीरए ।

उ०, १८, ५४

टीका—मोक्ष स्थान में, मुक्त अवस्था में प्रत्येक मुक्त आत्मा सिद्ध होकर-संपूर्ण रीति से कृतकृत्य होकर, आठों कर्मों से रहित होकर, सभी कषाय-विषय, विकार, वासना, मूर्च्छा, परिग्रह—आसक्ति आदि से सर्वथा मुक्त होकर, निराकार निरंजन रूप से सर्व शक्ति सम्पन्न होकर अनन्त काल के लिए स्थित हो जाती है ।

(६)

सिद्धो हवइ सासओ।

द०, ४, २५

टीका—आत्मा मोक्ष में जाने के बाद वहाँ से लौट कर नहीं आती है, क्योंकि कर्मों का आत्यंतिक क्षय हो जाता है, इसीलिये कहा गया है कि सिद्ध-अवस्था, मुक्त-अवस्था, शाश्वत होती है, नित्य और अक्षय होती है ।

(७)

सव्व मणागय मद्धं,
चिट्ठंति सुहं पत्ता।

उत्त०, सिद्ध, २२

टीका—मुक्त-आत्माऐं जिस क्षण से मुक्त होती है उस क्षण से लगाकर भविष्य में सदैव के लिये, अनन्तानन्त काल तक के लिये, अनन्त सुखों में ही स्थित रहती है। उनके सुख में—कभी भी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है ।

(८)

णिच्छिण्ण सव्व दुक्खा,
जाइ जरा मरण बंधण विमुक्का।

उत्त०, सिद्ध, २१

टीका—मुक्त-अवस्था में किसी भी प्रकार का कोई दुःख नहीं है, सिद्ध-प्रभु सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त है । जन्म, वृद्धत्व, मृत्यु और कर्म बन्धन जैसी सांसारिक सभी उपाधियों से वे सर्वथा मुक्त है । उनके लिये कोई भी उपाधि शेष नहीं है ।

(९)

अजरा अमरा असंगा।

उत्त०, सिद्ध, २०

टीका—मुक्त आत्माओं में कभी भी वृद्धत्व नहीं आता है, यानी बाल, युवा और वृद्धत्व आदि अवस्थाओं से वे रहित है, क्योंकि ये अवस्थायें पौद्गलिक धर्म वाली है, जब कि मोक्ष में पौद्गलित्व ही नहीं है, तो फिर उनका गुण-धर्म वहाँ कैसे हो सकता है ?

सिद्ध आत्माएं अमर है, नित्य है; सदा एक अवस्था रूप है, कर्म रहित हैं। जन्म-मरण तो कर्म-जनित हैं। जहाँ कारण नहीं है, वहाँ कार्य भी कैसे हो सकता है ? कर्म-कारण के अभाव में जन्म-मरण कार्यों की सम्भावना नहीं रहती है।

सिद्ध आत्माएं असंग हैं, निरंजन, निराकार हैं, मोह रहित हैं, अतएव उनमें छोटा-बड़ा, ऊँच-नीच, स्वामी-सेवक, पिता-पुत्र, माता-पुत्री, पति-पत्नी, राजा-प्रजा, धनी-गरीब आदि सम्बन्ध और संयोग-वियोग गुण-धर्म भी वहाँ सर्वथा नहीं हैं। अतएव शास्त्रकारों ने उनके लिये "असंग" विशेषण जोड़ा है, जो कि उपरोक्त स्थिति को बतलाता है।

(१०)

अलोगे पडिहया सिद्धा,
लोयग्गे य पइट्ठिया।

उव०, सिद्ध, २

टीका—सिद्ध भगवान अलोक के नीचे हैं, अलोक और लोक के संधि भाग पर स्थित हैं। अलोक से नीचे और लोक-भाग के सर्वोपरि स्थित हैं। मुक्त आत्मा की उर्ध्वगति होना स्वाभाविक वस्तु है। तदनुसार आठों कर्मों के क्षय होते ही मुक्त आत्मा ऊपर की ओर गति करने लग जाती हैं। जहाँ तक धर्मास्तिकाय द्रव्य है, वहाँ तक बराबर ऊँचा गमन करती रहती है, धर्मास्तिकाय के समाप्त होते ही मुक्त आत्मा भी वहीं स्थित हो जाती है। अतएव मुक्त

आत्मा अलोक में क्यों नहीं जाती है और लोक के अंतिम अग्र भाग पर ही क्यों ठहर जाती है ? इसका उपरोक्त उत्तर है ।

(११)

अतुलं सुह सागर गया,
अव्वाबाहं अणोवमं पत्ता ।

उव०, सिद्ध, २२

टीका—मुक्त जीवों के सुख की उपमा किसी से भी नहीं दी जा सकती है, क्योंकि उपमाएँ तो मात्र पौद्गलिक वस्तु संबन्धी और मानवीय कल्पनात्मक एवं अनुमानात्मक होती है, जबकि मोक्ष-सुख अपौद्गलिक, शब्दातीत, अनुमानातीत और अननु-मेय होता है । अतएव मुक्त आत्माएँ अतुल सुख-सागर में निमग्न रहती है । मोक्ष-सुख अवर्णनीय और अनिर्वचनीय होता है । मनुष्य-बुद्धि उसका वर्णन नहीं कर सकती है ।

(१२)

सिद्धाणं सोक्खं अव्वाबाहं ।

उव०, सिद्ध, १३

टीका—मुक्त आत्माएँ शरीर-रहित हैं, कर्म-रहित है, अतएव मोक्ष में भौतिक सुख नहीं है, ऐन्द्रिक और मानसिक सुख नहीं हैं । पौद्गलिक और नाश हो जाने वाला सुख वहाँ कैसे हो सकता है ? मोक्षमें तो बाधारहित, अनन्त, स्थायी अपरिमेय और अनुपम आत्मिक सुख है ।

(१३)

सासयं मव्वाबाहं चिट्ठंति,
सुही सुहं पत्ता ।

उव०, सिद्ध, १९

टीका—मोक्ष प्राप्त करने के बाद मुक्त आत्माओंको फिर जन्म-मरण नहीं करना पड़ता है, क्योंकि जन्म-मरण के कारण जो कर्म है, उनका तो आत्यंतिक क्षय हो चुका है, अतएव मोक्ष अवस्था शाश्वत है, नित्य है, अक्षय है, अव्याबाध है। मुक्त जीव सुखी है और अनन्त सुखको अनुभव करते हुए स्थित हैं। अनन्तकाल तक उनकी एक सी ही स्थिति रहती है।

(१४)

जत्थ य एगो सिद्धो,
तत्थ अणंता।

उव०, सिद्ध, ९

टीका—सिद्ध आत्माएँ, मुक्त आत्माएँ अरूपी होती हैं, केवल अनन्त शक्तियों का पुञ्ज और अरूपी सत्ता मात्र अवस्था होती है। जहाँ एक सिद्ध आत्मा है, वहाँ अनन्त सिद्ध आत्माएँ भी हैं। अनंतानंत सिद्ध आत्माएँ परस्पर में स्वतन्त्र अस्तित्वशील होती हुई भी-ज्योतिके समान-प्रकाशके समान परस्परमें निराबाध रूप से मिली हुई होकर सिद्ध स्थानमें स्थित हैं। जहाँ एक सिद्ध है, वहाँ अनेक सिद्ध हैं, और जहाँ अनेक सिद्ध हैं, वहाँ एक सिद्ध है, किन्तु प्रत्येक का स्वतंत्र अस्तित्व है।

(१५)

अन्नाण मोहस्स विवज्जणाए,
एगन्त सोक्खं समुवेइ मोक्खं।

उ०, ३२, २

टीका—अज्ञान और मोहको छोड़नेसे, सम्यक् ज्ञान और वीतरागता प्रकट करने से एकान्त सुख रूप मोक्षकी प्राप्ति होती है। शाश्वत्, अक्षय, नित्य, निराबाध और अनन्त सुखकी प्राप्ति होती है।

(१६)

मोक्ख सब्भूय साहणा,
नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं चेव ।

उ०, २३, ३३

टीका—मोक्ष-प्राप्तिके सद्भूत साधन–वास्तविक कारण सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र हैं। तीनों की सम्मिलित प्राप्ति से ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है ।

(१७)

अगुणिस्स नत्थि मोक्खो ।

उ०, २८, ३०

टीका—जिस आत्मामें सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र नहीं हैं, जिस आत्माका दृष्टिकोण संसार सुखको ही प्रधान मानकर अपने विश्वास, ज्ञान और आचरण की प्रवृत्ति करना मात्र है, और जिसकी मोक्ष सुख के प्रति उपेक्षा है, उस आत्माको मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है । कर्मों से उसको छुटकारा नहीं मिल सकता है ।

(१८)

नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ।

उ०, २८, ३०

टीका—जिस आत्मा के कर्मों के बन्धन नहीं कटे हैं, उस आत्मा को निर्वाण की, अनन्त ईश्वरत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है ।

(१९)

तं ठाणं सासयं वासं,
जं संपत्ता न सोयन्ति ।

उ०, २३, ८४

टीका—वह स्थान यानी मोक्ष शाश्वत् है, नित्य है, अक्षय है, अप्रतिपाती है, और निराबाध सुख वाला है, इसको प्राप्त करके भव्य आत्माएं शोक रहित हो जाती हैं । जन्म-मरण की व्याधियों से मुक्त हो जाती हैं ।

धर्म-सूत्र

(१)

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं।

द०, १, १

टीका—धर्म सबसे उत्कृष्ट मंगल है। वह शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शांति का देने वाला है। संसार-सुख और मोक्ष सुख का दाता है।

(२)

धम्मो दीवो।

उ०, २३, ६८

टीका—संसार रूप समुद्र में डूबते हुए भव्य जीवों के लिये धर्म ही एक मात्र द्वीप समान है। धर्म ही आधार-भूत है।

(३)

दीवे व धम्मं।

सू०, ६, ४

टीका—जैसे दीपक अंधकार को नष्ट करता है; वैसे ही धर्म भी यानी मनुष्यका पुनीत चारित्र और निर्दोष आचरण भी संसार रूपी अंधकार का नाश करने वाला है।

(४)

धम्मे हरए बम्भे सन्ति तित्थे।

उ०, १२, ४६

टीका—धर्म रूपी निर्मल तालाब है और उसमें ब्रह्मचर्य रूपी शान्तिमय सुन्दर घाट है। ऐसे घाट द्वारा ऐसे तालाब में स्नान करने

से ही कर्म रूपी मल दूर हो सकता है। बाह्य शुद्धि व्यावहारिक है, वास्तविक नहीं है।

(५)

धम्मस्स विणओ मूलं

द०, ९, २, द्वि, उ,

टीका—विनय ही धर्म का मूल है। विनय के अभाव में ज्ञान की, दर्शन का और चारित्र की कीमत वहुत थोड़ी रह जाती है।

(६)

इह माणुस्सए ठाणे,
धम्म माराहिउं णरा।

सू०, १५, १५,

टीका—इस मनुष्य-लोक में धर्मका आराधन करके अनेक आत्माएँ संसार-सागर से पार हो जाती है। संसार-समुद्र में धर्म ही एक उज्ज्वल जहाज है।

(७)

धणेण किं धम्म धुराहि गारे।

उ०, १४, १७

टीका—धर्मरूपी धुरा के उठा लेने पर यानी धर्मको अंगीकार कर लेने पर-सेवा, ब्रह्मचर्य, दान आदि को स्वीकार कर लेने पर धन का मूल्य ही क्या रह जाता है? धन तो धर्म के आगे धूल के समान है।

(८)

धम्मं च कुणमाणस्स,
सफला जन्ति राइओ।

उ०, १४, २५

टीका—धर्म करने वाले के लिए, स्व और पर का कल्याण करने वाले के लिए सभी रात्रियां-रात और दिन सफल ही जा रहे हैं।

(९)

धम्मं पि काऊणं जो गच्छइ,
परं भवं, सो सुही होइ।

उ०, १९, २२

टीका—जो आत्मा धर्म करके-नैतिक और आध्यात्मिक नियमों का आचरण करके परलोकमें जाता है, वह सुखी होता है उसको सभी अनुकूल पदार्थों का संयोग प्राप्त होता है। प्रति कूल पदार्थो से वह सदैव दूर रहता है।

(१०)

धम्मं चर सुदुच्चरं।

उ०, १८, ३३

टीका—आचरण करने के समय तो कठिन दिखाई देने वाले और फल के समय सुन्दर दिखाई देने वाले धर्म का, जो कि अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, शुद्ध भावना आदि आध्यात्मिक और नैतिक क्रियाओं का रूप है, पालन करो-आचरण करो।

(११)

एस धम्मे धुवे निच्चे,
सासए जिण देसिए।

उ०, १६, १७

टीका—यह ब्रह्मचर्य-धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत् है और बीतराग जिन देव द्वारा तथा अरिहंतों द्वारा प्ररूपित हैं। त्रिकाल सत्य है। संपूर्ण ज्ञान का सार रूप है और सभी धर्मो का मक्खन रूप अंश है। यह सर्वोपरि और सर्वोत्तम धर्म ह।

(१२)

एक्को हु धम्मो ताणं,
न विज्जई अन्न मिहेह किंचि।

उ०, १४, ४०

टीका—संसार-समुद्र से रक्षा करने वाला केवल एक धर्म ही है जो कि संयम और पर सेवा रूप है। दूसरा और कोई पदार्थ आत्मा की संसार के दुखों से रक्षा नहीं कर सकता है।

(१३)

धम्मविऊ उज्जू।

आ०, ३, १०८, उ, १

टीका—जो आत्मा चेतन और अचेतन द्रव्यों के स्वभावको तथा श्रुत-चारित्र रूप धर्म को जानता है, वही "धर्म विद्" है। वह सरल भावना वाला है और उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र का अस्तित्व है।

(१४)

आयरियं विदित्ताणं,
सव्व दुक्खा विमुच्चई।

उ०, ६, ९

टीका—आर्य धर्म-दया, दान और दमन रूप धर्म को जानकर उसके अनुसार आचरण करने से सभी दुःखों का नाश हो जाता है।

(१५)

धम्म सद्धाए णं साया सोक्खेसु,
रज्जमाण विरज्जइ।

उ०, २९, तृ० ग०

टीका—धर्म पर श्रद्धा करने से साता वेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त होने वाले सुखों पर तथा पौद्गलिक आनंद पर अरुचि पैदा होती है, विरक्ति पैदा होती है।

(१६)

राई भोयण विरओ,
जीवो भवइ अणासवो ।

उ०, ३०, २

टीका—रात्रि में भोजन करने का परित्याग करने से, जल आदि पेय पदार्थं का परित्याग करने से, आत्मा नये पाप कर्मों के बंधन से मुक्त हो जाता है। इससे आश्रव भाव का निरोध होता है।

(१७)

दिव्वं च गई गच्छन्ति,
चरित्ता धम्म मारियं ।

उ०, १८, २५

टीका—जो आर्य धर्म का-अहिंसा, सत्य, अनासक्ति और ब्रह्मचर्य आदिका आचरण करते हैं, वे दिव्य गति—देव गति और मनुष्य गति को प्राप्त होते हैं।

(१८)

धम्मं अकाऊणं जो गच्छइ
परं भवं, सो दुही होइ ॥

उ०, १९, २०

टीका—जो आत्मा बिना धर्म किये ही-दान, शील, तप और भावना का आराधना किये बिना ही परलोक में जाता है, वह महान् दुःखी होता है। उसे नाना विधि अप्रिय संयोगों का और प्रिय वस्तुओं के वियोगों का सामना करना पड़ता है।

(१९)

से सोयई मच्चु मुहोवणीए,
धम्मं अकाऊण परंमि लोए ॥

उ०, १३, २१

टीका—जो मनुष्य धर्म की-दान, शील, तप और भावना की आराधना किये बिना ही मृत्यु के मुख में चला जाता है, वह पर-लोक में चिन्ता करता है, दुःखी होता है।

(२०)

जहा से दीवे असंदीणे एवं
से धम्मे आरियपदेसिए ।

आ०, ६, १८४, उ, ३

टीका—जैसे समुद्र के अन्दर मनुष्यों के लिए आधार-भूत केवल दीप ही होता है, अथवा जैसे घोर अन्धकार में केवल दीपक ही प्रकाश देने वाला और मार्ग-प्रदर्शक होता है, वैसे ही अगाध और अपरिमेय संसार–समुद्र में भी भव्य जीवों के लिये-आत्म-कल्याण के इच्छुक जीवों के लिये केवल वीतरागी महापुरुषों द्वारा उपदिष्ट धर्म ही आधार भूत है। इस वीतराग-धर्म का आसरा लेकर ही भव्य जीव संसार-समुद्र से पार हो सकते हैं और अनंत सुखमय, निराबाध शांतिमय मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं।

(२१)

आणाए मामगं धम्मं ।

आ०, ६, १८१, उ, २

टीका—आत्मार्थी यही समझे कि "भगवान की आज्ञा के अनु-सार चलना ही मेरा धर्म है"। तदनुसार चारित्र-धर्म में दृढ़ रहे और ज्ञान एवं दर्शन का विकास करता रहे।

(२२)

आयरियं उवसंपज्जे ।

सू०, ८, ११

टीका—आर्य धर्म को-अहिंसा प्रधान आचार धर्म को एवं स्याद्वाद प्रधान सिद्धान्तों को (समभाव पूर्वक तुलनात्मक विचारों को) ग्रहण करो, इन पर श्रद्धा करो, इनको अमल में लाओ।

(२३)

आरियं मग्गं परमं च समाहिए।

सू०. ३, ६, उ, ४

टीका—आर्य-मार्ग यानी दया, दान, दमन, सत्य और शील रूप यह मार्ग श्रेष्ठ समाधि वाला है। तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित मार्ग पर चलने से परम-समाधि रूप कल्याण की प्राप्ति होती है।

(२४)

जीवियं नावकंखिज्जा,
सोच्चा धम्म मणुत्तरं।

सू०, ३,१३, उ, २

टीका—अहिंसा प्रधान श्रेष्ठ धर्म को सुनकर एवं उस पर विश्वास कर कर्त्तव्य मार्ग पर चलने वाले पुरुष को चाहिये कि कर्त्तव्य मार्ग पर चलते हुए प्रतिकूल उपसर्ग आदि कठिनाइयाँ आवें तो भी सांसारिक-जीवन की और इन्द्रिय सुखके जीवन की आकांक्षा नही करें; कर्त्तव्य-मार्ग से पतित न हो।

(२५)

णच्चा धम्मं अणुत्तरं,
कय किरिए ण यावि मामए।

सू०, २, २८, उ, २

टीका—श्रेष्ठ धर्म को-सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र को जानकर संयम रूप क्रियाका अनुष्ठान करे। तप, त्याग, सेवा और समता की आराधना करे। एवं किसी भी वस्तु पर ममता-भाव और परिग्रह-भाव नहीं रखे।

(२६)

जे धम्मे अणुत्तरे,
तं गिरह हियंति उत्तमं ।

सू०, २, २४ उ, २

टीका—जो धर्म श्रेष्ठ है, जो एकान्त रूप से आत्मा का कल्याण करने वाला है, जो हितकारी है, जो कषाय से मुक्ति दिलाने वाला है, जो उत्तम है, हित-अहित का भान कराने वाला है, ऐसे धर्म को और अहिंसा व्रत को ग्रहण करो-इसे जीवनमें स्थान दो ।

(२७)

सुहावहं धम्म धुरं अणुत्तरं,
धारेह निव्वाण गुणावहं महं ।

उ०, १९, ९९

टीका—सुखों को लाने वाली और सुखोंको बढ़ानेवाली, मोक्ष-गुणों को देनेवाली, ऐसी सर्वश्रेष्ठ, धर्म रूप धुराको धारण करना चाहिए । धर्म का आचरण करना चाहिये ।

(२८)

चरिज्ज धम्मं जिण देसियं विऊ ।

उ०, २१, १२

टीका—विद्वान पुरुष, पाप-भीरु आत्मार्थी, जिन भगवान द्वारा उपदिष्ट धर्म का ही आचरण करे। इन्द्रिय दमन करे। पक्षी के समान अनासक्त और निर्लेप जीवन में ही सार्थकता समझें ।

(२९)

दव्वओ खेत्तओ चेव कालओ,
भावओ तहा, जयणा चउव्विहा वुत्ता ।

उ०, २४, ६

टीका—यतना पूर्वक, विवेक पूर्वक कार्य करने की प्रणाली चार प्रकार की कही गई है। १ द्रव्य से २ क्षेत्र से ३ काल से और ४ भाव से।

(३०)

धम्माणं कासवो मुहं।

उ०, २५, १६

टीका—धर्मों का मुख-धर्मों का आदि स्रोत भगवान ऋषभदेव हैं, यानी भरत-क्षेत्र में धर्म और नीति, विवेक और दर्शन-शास्त्र के आदि प्रणेता तथा सर्व प्रथम धर्म का उपदेश देने वाले भगवान ऋषभदेव स्वामी ही हैं।

(३१)

सद्दहइ जिणभिहियं सो धम्मरुइ।

उ०. २८, २७

टीका—जिन द्वारा, अरिहंत द्वारा, तीर्थंकर द्वारा, अथवा गणधर या स्थविर आचार्य द्वारा प्रणीत और प्ररूपित धर्म पर जो श्रद्धा करता है, इसीका नाम धर्म रुचि है।

(३२)

थव थुइ मंगलेणं नाण दंसण-
चरित्त बोहि लाभं जणयइ।

उ०, २९, १४वां, ग०

टीका—अरिहंत, सिद्ध और जिनेन्द्र देवों की स्तव* और स्तुति× करने से, इनका मंगल गान करने से, आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, रत्नत्रयकी वृद्धि होती है, इनकी विशुद्धि होती है।

---

* स्तव—इन्द्र, गणधर, पूर्वधर, स्थविर कृत ईश्वर- प्रार्थना।

×स्तुति–प्रत्येक भव्य जीव द्वारा कृत प्रार्थना, स्तवन, भजन आदि हार्दिक पवित्र भावना वाले विचार।

(३३)

दोहिं ठाणेहिं आया केवलि पन्नत्तं धम्मं लभज्जा,
सवणयाए, खएण चेव, उवसमेण चेव।

ठाणा, २रा, ठा, उ, ४, ४

टीका---आत्मा केवली के कहे हुए धर्म को सुनकर दो प्रकार से प्राप्त करता है-१उपशम रूप से और २ क्षय रूप से ।

जिस आत्मा की श्रद्धा कर्मों के नाश नहीं होने पर बल्कि कर्मों के उपशम होने पर उत्पन्न होती हैं, वह उपशम धर्म है, तथा जिस आत्मा की श्रद्धा कर्मों के क्षय होने पर उत्पन्न होती है, वह क्षय-धर्म कहलाता है ।

(३४)

दुविहे धम्मे पन्नत्ते,
सुअधम्मे चेव चरित्त धम्मे चेव।

ठाणा०, २रा ठा०, १ला उ, २५

टीका—धर्म दो प्रकार का कहा गया है । १ श्रुत धर्म और २ चारित्र धर्म । जिन देव, तीर्थंकर, गणधर, स्थविर, पूर्वधर आदि द्वारा प्ररूपित ज्ञान साहित्य या आगम साहित्य श्रुत धर्म है, और श्रावक एवं साधुओं द्वारा आचरण किया जाने वाला बारह व्रत तथा पाँच महाव्रत रूप धर्म चारित्र धर्म है ।

(३५)

तिविहे भगवया धम्मे,
सुअहिज्जिए, सुज्झाइए सुतवस्सिए।

ठाणा०, ३रा, ठा०, उ०, ४, २७

टीका—भगवान ने तीन प्रकारका धर्म फरमाया है, १ गुरु आदि विद्वान पुरुषों का विनय करके सूत्रों का अध्ययन करना सूत्र-

अध्ययन धर्म है, २ शंका आदि दोषों से रहित होकर पूर्ण दत्तचित्त हो अध्ययन करना सुध्यान-धर्म है। और ३ किसी भी प्रकार की फल की इच्छा किये बिना ही अनासक्त विशुद्ध निर्जरा के भाव से तपस्या करना और सहिष्णुता रखना तप-धर्म है।

(३६)

चत्तारि धम्म दारा,
खंति, मोत्ती, अज्जवे, मद्दवे।

ठाणा०, ४था, ठा, उ, ४, ३८

टीका--धर्म के चार द्वार कहे गये हैं- १ क्षमा, २ विनय, ३ सरलता, और ४ मृदुता ।

(३७)

पंच ठाणाई समणाणं जाव अब्भणुन्नायाई भवंति,
सच्चे, संजमे, तवे, चियाए बंभचेर वासे।

ठाणा०, ठा० ५, उ०, १, ११

टीका—भगवान ने साधुओं के जीवन को विकसित करने के लिए ५ स्थान बतलाए हैं-१ सत्य, २ संयम, ३ तप, ४ त्याग (अनासक्ति और अमूर्च्छा) और ५ ब्रह्मचर्य।

★

अहिंसा-सूत्र

(१)

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं ।

सू०, ६, २३

टीका--सभी प्रकार के दानों में अभय दान ही सर्वोत्तम दान है। जीवों को जीवन-दान देना, उन्हें भय से मुक्त करना, शरण में आने पर उनकी रक्षा करना, शरणागत की परिपालना करना यही सर्वोत्तम धर्म है।

(२)

एयं खु नाणिनो सारं,
जन्न हिंसइ किंचण ।

सू०, १, १०, उ, ४

टीका—किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करना, आघात नहीं पहुँचाना, कष्ट नहीं देना; यही ज्ञानी के लिए सार भूत वस्तु है। जीवों को सुख पहुँचाने में ही ज्ञानी के ज्ञान की सार्थकता रही हुई है।

(३)

अहिंसा निउणा दिट्ठा ।

द०, ६, ९

टीका—अहिंसा अनेक प्रकार के सुखों की देने वाली देखी जाती है। अहिंसा से स्व और पर सभी को शांति प्राप्त होती है।

(४)

न हणे णो विघायए ।

द०, ६, १०

टीका—न तो हिंसा खुद करे और न दूसरों से करावे। हिंसा इस लोक में और पर-लोक में सर्वत्र दुःख देने वाली है।

(५)

तसे पाणे न हिंसिज्जा।

द०, ८, १२

टीका—त्रस-प्राणियों की, निरपराध जीवों की दो इन्द्रिय से लगा कर पंच इन्द्रिय तक के जीवों की हिंसा नहीं करना चाहिये। हिंसा के बराबर मोटा और कोई पाप नहीं है। दया से बढ़कर और कोई धर्म नहीं है। अहिंसा, दया, करुणा, अनुकंपा ही सभी धर्मों का सार है, मक्खन है। अहिंसा हमारे जीवन का प्रमुख अंग होना चाहिये।

(६)

सव्वे पाणा पियाउया।

आ०, २, ८१, उ, ३

टीका—सभी प्राणियों को अपनी आयुष्य प्रिय है। कोई भी प्राणी दुःख अथवा मृत्यु नहीं चाहता है। अतएव दया ही सर्वोत्तम धर्म है। यही सभी धर्मो का निष्कर्ष है।

(७)

सव्वेसिं जीवियं पियं

आ०, २, ८१, उ, ३

टीका—सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं। सभी को अपना जीवन प्यारा है, चाहे वे किसी भी स्थिति में क्यों न हों। अतएव पर-पीड़ा पहुँचाने के समान कोई पाप नहीं है, और पर-सेवा के समान अथवा दूसरे को शांति पहुँचाने के समान कोई पुण्य नहीं है।

(८)

पाणे य नाइवाएज्जा,
निज्जाइ उदगं व थलाओ ।

उ०, ८, ९

टीका--जो मुमुक्षु आत्मा, आत्म-कल्याण के ख्याल से प्राणियों का वध नहीं करता है, उसके कर्म इस प्रकार छूटकर बह जाते हैं, जैसे कि ढालू जमीन से पानी बह जाता है ।

(९)

न हिंसए किंचण सव्व लोए ।

सू०; ५; २४: उ; २

टीका—ज्ञानी पुरुष कहीं पर भी किसी प्राणी की हिंसा न करे। मन, वचन और काया से हिंसा की प्रवृत्ति नहीं करे । पर-सुख का अपहरण नहीं करे । आर्थिक शोषण भी हिंसा है, इसे भी ध्यान में रखना चाहिये ।

(१०)

न य वित्तासए परं ।

उ०, २, २०,

टीका—कभी किसी को भी त्रास नहीं देना चाहिये । पर-पीड़न के बराबर कोई पाप नहीं है । पर-अधिकार का भी कभी अपहरण नहीं करना चाहिये ।

(११)

दया धम्मस्स खंतिए
विप्पसीएज्ज मेहावी ।

उ०, ५, ३०

टीका—मेधावी यानी ज्ञान-शील पुरुष, विवेकी पुरुष क्षमा को धारण करता हुआ दुःखी जीवों पर दया करे, अनुकंपा करे, करुणा

करे। और इस प्रकार अपनी आत्माको संतुष्ट करे, अपनी आत्माको प्रसन्न करे।

(१२)

न हणे पाणिणो पाणे।

उ०, ६, ७

टीका—किसी भी प्राणी के प्राणों का, इन्द्रिय आदि का नाश नहीं करना चाहिए। क्योंकि हिंसा, पर-पीड़न, सदैव दुःख को ही बढ़ाने वाला है।

(१३)

विरए वहाओ।

आ०, ३, ७, उ, २

टीका—जीव-हिंसा से दूर रहो, पर-पीड़ा के पाप से बचते रहो, यही इस संसार में सबसे बड़ा पाप है।

(१४)

नाइ वाइज्ज कंचणं।

आ०, २, ८६, उ, ४

टीका—सत्यार्थी कभी भी किसी की हिंसा नहीं करे,—कभी भी किसी को चोट नहीं पहुँचावे। स्व-पर-कल्याण-भावना के साथ जीवन व्यवहार चलावे।

(१५)

मुणी ! महब्भयं नाइवाइज्ज कंचणं।

आ०, ६, १७५, उ, १

टीका—हे मुनि ! हिंसा का परिणाम महा भयङ्कर होता है, इसलिये किसी की भी हिंसा मत करो। किसी को भी पीड़ा मत पहुँ-

चाओ। सभी प्राणियों को अपनी ही आत्मा के समान समझो। यही भारतीय-दर्शन-शास्त्र के आचार-विभाग का निष्कर्ष है।

(१६)

अणुपुव्वं पाणेहिं संजए।

सू०, २, १३, उ, ३

टीका—शांति की इच्छा करने वाला मनुष्य क्रमशः प्राणी मात्र की रक्षा करे। प्राणी मात्रके हित की कामना करे। किसी के भी सुख का अपहरण नहीं करे।

(१७)

सव्वेहिं पभूहिं दयाणु कंपी,
खंतिक्खमे संजय बंभयारी।

उ०, २१, १३

टीका—प्राणी मात्र पर दया वाले बनो, अनुकंपा वाले बनो। क्षमा-शील, संयमी और ब्रह्मचारी बनो।

(१८)

अभय दाया भवाहि।

उ०, १८, ११

टीका—अभयदान के देने वाले होओ। शरणार्थी की रक्षा करने वाले बनो। भय-ग्रस्त और मृत्यु-ग्रस्त जीवों को बचाओ। दया, अनुकम्पा, करुणा, और सहानुभूति इन गुणों को जीवन में स्थान दो।

(१९)

धम्मे ठिओ सव्व पयाणु कम्पी।

उ०, १३, ३२

टीका—धर्म में, अपनी मर्यादा में, सात्विक प्रवृत्तियों में, रहते हुए सभी प्रजा की या सभी जीवों की अनुकम्पा करने वाले बनो।

रक्षा करने वाले बनो। शांति देने वाले बनो।

(२०)

ताइणो परिनिव्वुडे।

द०, ३, १५

टीका—जो सम्पूर्ण विश्व के चराचर प्राणियों की, त्रस-स्थावर जीवों की रक्षा करने वाले हैं, वे ही वास्तव में मोक्ष के अधिकारी हैं।

(२१)

पाणातिवाता विरते ठियप्पा।

सू०, १०, ६

टीका—विचार शील पुरुष, शुद्धचित्त वाला पुरुष, भाव-समाधि में और विवेक में रत होकर-ज्ञान में तल्लीन होकर प्राणातिपात से (जीव हिंसा से) निवृत्त रहे। हिंसा के बराबर पाप नहीं है और अहिंसा के बराबर धर्म नहीं।

२२

पाणियाण भूते सुपरिव्वएज्जा।

सू०, १०; १

टीका—प्राणियों का आरम्भ नहीं करता हुआ और किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुंचाता हुआ सज्जन पुरुष अपनी जीवन यात्रा को चलाता रहे। पर सेवा में ही और पर की सहानुभूति में ही आत्म कल्याण समझे।

२३

तस काय समारंभं, जावज्जीवाई वज्जए।

द०, ६, ४६

टीका—निरपराध जीवों की, त्रस जीवों की मन, वचन, और काया से हिंसा करना और उन्हें कष्ट पहुंचाना, उनपर आघात करना, उनका प्राणान्त करना, इन बातों को जीवन पर्यंत के लिए त्याग देना ही मानवता है। यही वास्तविक मनुष्यता है।

सत्यादि भाषा-सूत्र

(१)

अप्पणा सच्च मेसेज्जा ।

उ०, ६, २

टीका—सदैव आत्म-चिन्तन द्वारा, आत्म-मनन द्वारा, सत्य की ही खोज करता रहे । सन्मार्ग का ही अनुसंधान करता रहे । स्व-पर-कल्याण के मार्ग में ही रमण करता रहे ।

(२)

सच्चंमि धिइं कुव्वहा ।

आ०, ३, ११३, उ, २

टीका—जो सत्य रूप है और जो सत्य की नाना अवस्थाओं में स्थित है, उसीमें बुद्धिमान् पुरुष को अपना चित्त स्थिर करना चाहिए । ऐसे ही कार्यों में धैर्य-शील होना चाहिये । इन्हीं में प्रवृत्ति-शील होना चाहिये ।

(३)

पुरिसा ! सच्चमेव समभि जाणाहि ।

आ०, ३, ११९, उ, ३

टीका—हे पुरुषों ! सत्य को ही सर्वोपरि जानो । सत्य का ही सम्यक् रीति से अनुसंधान् करो । सत्य का ही विचार करो । सत्य का ही आचरण करो । अहिंसा भी जीवन में इससे स्वयमेव उतर आयगी । क्योंकि सत्य और अहिंसा एक ही तत्त्व की दो बाजूएँ हैं ।

इनका परस्पर में तादात्म्य सम्बन्ध है, दोनों अभिन्न सम्बन्ध वाले हैं ।

(४)

सच्चस्स आणाए से,
उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ ।

आ०, ३, ११९, उ, ३

टीका—जो सत्य की आराधना के लिये निष्कपट भाव से तैयार होता है, वही तत्वदर्शी है, और ऐसा ज्ञानी महापुरुष ही काम-वासना को खत्म कर सकता है । वही पूर्ण और आदर्श ब्रह्मचारी बन सकता है ।

(५)

असावज्जं मियं काले,
भासं भासिज्ज पन्नवं।

उ०, २४, १०

टीका—बुद्धिमान पुरुष, विवेकी पुरुष, समयानुसार और आवश्यकता अनुसार निर्दोष, प्रिय, हितकारी और परिमित भाषा ही बोले। सम्भाषण-प्रणालि पर ही बुद्धिमत्ता का आधार है ।

(६)

भासियव्वं हियं सच्चं।

उ०, १९, २७

टीका—सदैव हितकारी वाणी, प्रिय वाणी और सच्ची वाणी बोलनी चाहिये ! ऐसी वाणी ही स्व का और पर का कल्याण कर सकती है ।

(७)

न भासिज्जा भासं
अहियगामिणिं ।

द०, ८, ४८

टीका—अहित करने वाली, पर-मर्म पर आघात करने वाली, हिंसा तथा द्वेष बढ़ाने वाली भाषा नहीं बोलनी चाहिये।

(८)

न असब्भमाहु।

उ०, २१, १४

टीका—असभ्य, अप्रिय, क्लेश संवर्धक, ग्रामीण तुच्छ शब्द नहीं बोलना चाहिये।

(९)

सच्चे तत्थ करेज्जु वक्कमं।

सू०, २, १४, उ, ३

टीका—सत्य और सत्य से सम्बन्धित सभी कामों में और क्रियाओं में सदैव यत्नशील ही रहना चाहिये। सत्य का दृढ़ता पूर्वक आग्रह और अवलंबन रखना मनुष्य का कर्त्तव्य है।

(१०)

सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति।

सू०, ६, २३

टीका—सत्यवचनों में भी जो वचन सत्ययुक्त होता हुआ निर्दोष हो, अप्रिय सत्य न हो, मर्म-घाती सत्य न हो, वही वाक्य सर्वोत्तम सत्य रूप है।

(११)

अप्पं भासेज्ज सुव्वए।

सू०, ८, २५

टीका—सुव्रती, ज्ञानी, अल्प बोले। परिमित बोले। आवश्यकतानुसार बोले। सत्य और प्रिय बोले।

(१२)

न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं।

उ०, १, २५

टीका—पूछा हुआ या भी किसी के द्वारा कोई प्रश्न या बात पूछने पर सावद्य न बोले, पापकारी, अनिष्ठकारी, अप्रिय और कटु वाणी नहीं बोले।

(१३)

नापुट्ठो वागरे किंचि ।

उ०, १, १४

टीका—बिना पूछे बिना बोलाये कुछ भी नहीं बोले। यही बुद्धिमानी का सर्व प्रथम लक्षण है।

(१४)

जं छन्नं तं न वत्तव्वं ।

सू०, ९, २६

टीका—जिस बात को सब लोग छिपाते हैं, जो अकथनीय हो, अश्लील हो, ग्रामीण हो, असभ्य हो, उसे कदापि नहीं बोलना चाहिये।

व्यवहार का ध्यान रख कर ही बोलना ठीक है, अव्यवहारिक भाषा निंदनीय है, वह त्याज्य और हानिकारक होती है।

(१५)

अणुचिंतिय वियागरे ।

सू०, ९, २५

टीका—सोच विचार कर बोलना चाहिये। बिना सोचे विचारे बोलने से स्व की और पर की हानि हो सकती है। अविचार पूर्ण भाषा से अनेक प्रकार का नुकसान हो सकता है जबकि विचार पूर्वक बोलने से लाभ ही लाभ है।

(१६)

तुमं तुमं ति अमणुन्नं,
सव्वसो तं ण वत्तए ।

सू०, ९, २७

टीका—"तूं, तूं" ऐसे तुच्छ और अनादर वाचक शब्द भी नहीं बोलना चाहिये। इसी प्रकार अप्रिय या अशोभनीय शब्दोंका उच्चारण भी नहीं करे। बोली में गम्भीरता, उच्चता, सार्थकता एवं सम्मान सूचकता होनी चाहिये।

(१७)

वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि
वेराणु बंधीणि महब्भयाणि।

द०, ९, ७, तृ, उ,

टीका—बिना सोचे विचारे कहे हुए दुष्ट और अनिष्ट वचन बड़ी कठिनता से हृदय से भूले जाते हैं। वे वैर-भाव को बढ़ाने वाले होते हैं और महाभय पैदा करने वाले होते हैं।

(१८)

अवियत्तं चेव नो वए।

द०, ७, ४३

टीका—जिन वचनों से वैर-विरोध बढ़ता हो, जो अप्रिय हो, ऐसे वचन कदापि नहीं बोलना चाहिये। क्योंकि ये अवक्तव्य होते हुए स्व-पर हानिकारक होते हैं।

(१९)

भूओ व घाइणिं भासं,
नेवं भासिज्ज पन्नवं।

द०, ७, २९

टीका—बुद्धिमान् पुरुष प्राणियों के मर्म पर चोट करने वाली या मृत्यु पैदा करने वाली वाणी कदापि नहीं बोले। वाणी में विवेक और संयम की नितान्त आवश्यकता है।

(२०)

सच्चा वि सा न वत्तव्वा,
जओ पावस्स आगमो।

द०, ७, ११

टीका—सत्य होती हुई भी उस बात को नहीं कहना चाहिये, जिससे कि पाप की, पतन की और हानि की सम्भावना हो, जिससे अन्य को आघात पहुंचने की सम्भावना हो। ऐसी वाणी-शब्द रूप से सत्य मालूम पड़ती हुई भी झूठ का ही अङ्ग है।

(२१)

जमट्ठं तु न जाणिज्जा,
एव मेअं ति नो वए।

द०, ७, ८

टीका—जिस बात को अच्छी तरह से नहीं जानते हैं, उसके सम्बन्ध में "यह ऐसा ही है" इस प्रकार निश्चय-पूर्वक नहीं बोलना चाहिये। क्योंकि यह झूठ है। यह असत्य भाषण है। इससे हानि होने की सम्भावना हो सकती है।

(२२)

मुसं परिहरे भिक्खू।

उ०, १, २४

टीका—साधु या आत्मार्थी झूठ को छोड़ दे। झूठ प्रतिष्ठा का और विश्वास का नाश करने वाला है।

(२३)

सया सच्चेण सम्पन्ने,
मित्तिं भूएहिं कप्पए।

सू०, १५, ३

टीका—सदैव सत्य को ही जीवन का आराध्य बना कर जीव-

मात्र के साथ मैत्री भावना रखनी चाहिये, जीव-मात्र के साथ दया का व्यवहार रखना चाहिये।

(२४)

साहियं ण मुसं बूया,
एस धम्मे वुसीमओ।

सू०, ८, १९

टीका—माया करके झूठ नहीं बोले। जितेन्द्रिय महापुरुष का यही धर्म है। भगवान का यही फरमान है। माया के साथ बोला जाने वाला झूठ शल्य है, जो कि सम्यक्त्व को और सचाई के मार्ग को नष्ट करता है, मिथ्यात्व को पैदा करता है और अनन्त संसार को बढ़ाता है।

(२५)

मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा।

सू०, ९, २५

टीका—कपट भरी भाषा का परित्याग कर देना चाहिये, क्योंकि कपट भरी भाषा माया-मृषावाद ही है, जो कि सम्यक्त्व का नाश करने वाली है।

(२६)

णेव वंफेज्ज मम्मयं।

सू०, ९, २५

टीका—मर्म-घाती वचन हिंसाजनक होता है। यह महान् कष्ट-जनक होता है। वह सत्य होता हुआ भी झूठ ही है। अतएव मर्म-घाती वाक्य अथवा वचन नहीं बोलना चाहिये।

(२७)

भासमाणो न भासेज्जा।

सू०, ९, २५

टीका—जो परमार्थी पुरुष यत्ना पूर्वक-विवेक पूर्वक और बुद्धि-मानी-पूर्वक बोलता है, वह बोलता हुआ भी मौन-गुण से युक्त है—मौनी ही है। और मौनी जितना ही पुण्य उपार्जन करता है।

(२८)

मुसावायं च वज्जिज्जा,
अदिन्नादाणं च वोसिरे।

सू०. ३, १९, उ, ४

टीका—झूठ का परित्याग कर दो और चोरी से सदैव दूर रहो क्योंकि ये पाप इस लोक और परलोक मे सर्वत्र दु:ख के देने वाले हैं, प्रतिष्ठा और विश्वास का नाश करने वाले हैं।

(२९)

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पयोग काले य दुही दुरन्ते।

उ०, ३२, ३१

टीका—झूठ बोलने के पहले, झूठ बोलने के पीछे और झूठ बोलने के समय में तीनों काल में झूठा आदमी दु:खी होता है और उसका दु:ख बहुत ही कठिनाई से छूटता है।

(३०)

मायामुसं वड्ढइ लोभ दोसा।

उ०, ३२, ३०

टीका—माया-मृषावाद, यानी कपट पूर्वक झूठ लोभ के दोषों को बढ़ाता है, तृष्णा को प्रज्वलित करता है।

(३१)

मुसा भासा निरत्थिया।

उ०, १८, २६

टीका—मिथ्या भाषा, अप्रिय भाषा, तुच्छ शब्दोंवाली भाषा, मर्मभेदी भाषा निरर्थक होती है, वह क्लेश-वर्द्धक होती है। वह पापमय होती है।

(३२)

पियं करे पियं वाई,
से सिक्खं लद्धु मरिहई ।

उ०, ११, १४

टीका—जो प्रिय करने वाला है, गुरु के मनोनुकूल सेवा और कार्य करने वाला है, प्रिय तथा सत्य बोलने वाला है, वही सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करने के लिये योग्यता रखने वाला है । ज्ञान के पहले ये गुण आवश्यक हैं । अनुकूल गुण रूपी भूमि में ही ज्ञान रूप बीज का वृक्ष रूप विकास हो सकता है ।

(३३)

सावज्जं न लवे मुणी ।

द०, ७, ४०

टीका—इन्द्रियों और मन पर संयम तथा विवेक रखने वाला मुनि झूठ नहीं बोले, क्योंकि झूठ से अविश्वास और पतन की तरफ जीवन बढ़ता है ।

(३४)

अपुच्छिओ न भासिज्जा ।

द०, ८, ४७

टीका—बिना पूछे और बिना बुलाये, कभी नहीं बोले । बिना बुलाया बोलने पर मूर्खता ही मालूम होती है—इससे अपमान ही होता है ।

(३५)

पिट्ठि मंसं न खाइज्जा ।

द०, ८, ४७

टीका—कभी किसी की निंदा नहीं करनी चाहिये । निंदक धिक्कारा जाता है । वह अविश्वास का पात्र बनता है । इस लोक और परलोक में दुखी होता है ।

(३६)

माया मोसं विवज्जए ।

द०, ८, ४७

टिका—कपट पूर्वक झूठ बोलना भयंकर पाप माना गया है । कपट–पूर्वक–झूठ आत्मा के गुणों का नाश करने वाला होता है ।

(३७)

ओए तहीयं फरुसं वियाणे ।

सू०, १४, २१

टीका—जो वचन सत्य होते हुए भी दूसरे के चित्तको दुःखी करने वाले हैं, तो बुद्धिमान का कर्तव्य है कि वह ऐसे वचन नहीं बोले । अप्रिय और कठोर वचनों का त्याग ही हितावह है ।

(३८)

आणाइ सुद्धं वयणं भिउंजे ।

सू०, १४, २४

टिका—जैसी भगवान ने आज्ञा दी है, उसीके अनुसार शुद्ध भाषा का उच्चारण करना चाहिये ।

भाषा में ग्रामीणता, अश्लीलता, तुच्छता, तिरस्कार वृत्ति आदि दुर्गुण नहीं होने चाहिये ।

(३९)

णातिवेलं वदेज्जा ।

सू०, १४, २५

टीका—मर्यादा का उल्लंघन करके अत्यधिक नहीं बोलना चाहिये । भाषा परिमित, सार्थक और शिष्ट–पुरुष के अनुरूप होनी चाहिये ।

(४०)

सं न बूया मुणि अत्तगामी ।

सू०, १०, २२

टीका—वीतराग देव के मार्ग पर चलने की इच्छा रखने वाला मुनि-कल्याण का अभिलाषी साधु कभी भी झूठ नहीं बोले। झूठ के साथ आत्म-विकास का होना आकाश-कुसुम के समान सर्वथा असंभव वस्तु है।

(४१)

जं वदित्ता अणुतप्पती ।

सू०, ९, २६

टीका—जिस भाषा को बोल कर अथवा जिन शब्दों को बोल कर पश्चाताप करना पडे, खेद उठाना पड़, ऐसे शब्द और ऐसी भाषा कदापि नहीं बोलनी चाहिये।

अविचार-पूर्वक बोलने वाला मूर्ख कहा जाता है, और वह पाप का एवं अनादर का भागी बनता है।

(४२)

अविस्साओ अभूआणं,
तम्हा मोसं विवज्जए ।

द०, ६, १३

टीका—झूठ से कोई भी विश्वास नहीं करता है, इसलिये सदैव झूठ से दूर ही रहना चाहिये।

(४३)

हिंसगं न मुसं बूआ ।

द०, ६, १२

टीका—हिंसा पैदा करने वाला और स्व-पर को कष्ट देने वाला झूठ नहीं बोले। झठ आत्मा के पतन का मूल कारण है।

(४४)

चिरं च वुट्ठं परिवज्जए सया,
सयाण मज्झे लहइ पसंसणं ।

द०, ७, ५५

टीका—वचन शुद्धि और वचन महत्ता को जानने वाला हमेशा के लिये दुष्ट-वाणी को—हलकी, तुच्छ, घातक, मर्म-भेदक और अपमानजनक वाणी को त्याग देता है। इससे वह सज्जनों के बीच में प्रशंसा एवं यशः कीर्ति को प्राप्त करता है। वह दोनों लोक में सुखी होता है। पुण्य का उपार्जन करता है, इसलिये सदैव संयम-मय, विवेक युक्त भाषा बोलनी चाहिये।

(४५)

जहा रिह मभिगिज्झ,
आलविज्ज लविज्ज वा ।

द०, ७, २०

टीका—किसी से भी बातचित करते समय यथा-योग्य-शब्दों से, जैसा चाहिये उसी रीति से व्यवहार करना चाहिये। शब्दों में हलकापन, तुच्छता, घातकता, मर्म-भेदकता, अथवा अपमानजनकत्व नहीं होना चाहिये। क्योंकि यह हीन लक्षण है। हीन-लक्षण अकुलीनता का द्योतक है। वह नीचता का सूचक है।

(४६)

चत्तारि भासाओ भासित्तए,
जायणी, पुच्छणी, अणुन्नवणी, पुट्ठस्स वागरणी ।

ठाणा०, ४, था, ठा, उ, १, ४

टीका—चार प्रकार की भाषा कही गई है:—१ याचनिका २ पृच्छनिका ३ अवग्राहिका और ४ पृष्ट व्याकरणिका।

(४७)

सत्तविहे वयण विकप्पे, आलावे,
अणालावे, उल्लावे, अणुल्लावे,
संलावे, पलावे, विप्पलावे ।

ठाणा०, ७ वां ठा, ७८

टीका—सात प्रकार का वचन विकल्प कहा गया है :—

(१) थोड़ा बोलना आलाप है ।
(२) कुत्सित बोलना अनालाप है ।
(३) मर्यादा उल्लंघन करके बोलना उल्लाप है ।
(४) मर्यादा रहित खराब पोलना अनुल्लाप है ।
(५) परस्पर बोलना संलाप है ।
(६) निरर्थक बोलना प्रलाप है ।
(७) विरुद्ध बोलना विप्रलाप है ।

★

शील-ब्रह्मचर्य-सूत्र

(१)

तवेसु वा उत्तम बंभचेरं,

सू०, ६, २३

टीका—तप तो नाना प्रकार के हैं; परन्तु सभी तपों में ब्रह्मचर्य ही सर्वोत्तम तप है। ब्रह्मचर्य की महान् महिमा है। मन वचन और काया से—विशुद्ध ब्रह्मचर्य पालने से मुक्ति के द्वार सहज में ही खुल जाते हैं।

(२)

इत्थिओ जे ण सेवंति,
आइमोक्खा हु ते जणा।

सू०, १५, ९

टीका—जो स्त्री-सेवन नहीं करते हैं; स्त्री के साथ किसी भी प्रकार का संबंध नहीं रखते हैं; वे पुरुष संबसे प्रथम मोक्ष-गामी होते हैं। वे शीघ्र ही मुक्त हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य की महिमा अपूर्व है; असाधारण है।

(३)

देव दाणव गन्धव्वा बम्भयारिं नमंसंति।

उ०, १६, १६

टीका—ब्रह्मचर्य की महिमा महान् है। वास्तविक ब्रह्मचारी त्रिलोकपूज्य होता है, त्रिलोक रत्न होता है। देव, दानव, गन्धर्व सभी; क्या नरेन्द्र और क्या देवेन्द्र—प्रत्येक प्राणी ब्रह्मचारी को नमस्कार करते हैं।

(४)

न तं सुहं काम गुणेसु रायं,
जं भिक्खुणं सील गुणे रयाणं।

उ०, १३, १७

टीका—शील गुण में अनुरक्त आत्मार्थी मुनियों को जो उच्च आनन्द, जो आत्म शांति प्राप्त होती है; वैसी सुख-शांति, वैसा आत्म–आनंद, काम भोगों में फंसे हुए मनुष्य को कदापि प्राप्त नहीं हो सकता है।

(५)

जे विन्नवणा हिऽजोसिया,
संतिन्नेहिं समं वियाहिया।

सू०२, २, उ, ३

टीका—जो पुरुष स्त्रियोंसे सेवित नही हैं; यानी मन, वचन और काया से ब्रह्मचारी हैं; वे वास्तव में मुक्त पुरुषों के समान ही है। अचल ब्रह्मचर्य अवस्था मुक्ति अवस्था ही है।

(६)

सुबंभचेरं वसेज्जा।

सू, १४, १

टीका—ब्रह्मचर्य का भली भांति पालन करो। एक ब्रह्मचर्य के परिपालन से ही सभी दोष और पाप इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं; जैसे कि सूर्य के प्रकाश से संपूर्ण विश्व में व्याप्त अंधकार नष्ट हो जाता है।

(७)

उग्गं महव्वयं बंभं,
धारेयव्वं सुदुक्करं।

उ०, १९, २९

टीका—उग्र-महान्कठिन-सुदुष्कर-आचरण में महान् कष्ट साध्य परन्तु परिणाम में अत्यंत सुन्दर फल वाला, ऐसा महाव्रत, तप श्रेष्ठ, तप-शिरोमणि, ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना चाहिए ।

(८)

कुसील वड्ढणं ठाणं ।
दूरओ परिवज्जए ।

ज०, ६, ५९

टीका—जिस स्थान पर रहने से विषय, विकार, बढ़ते हों; ऐसे स्थान को और ऐसी संगति को सदैव दूर ही रखना चाहिए । दूर से ही छोड़ देना चाहिए ।

(९)

न चरेज्ज वेस सामंते ।

द०, ५, ९, उ, प्र,

टीका—ब्रह्मचारी वेश्याओं अथवा दुराचारिणी स्त्रियों के निवास-स्थानों के आस-पास न तो घूमे और न जावे ।

(१०)

अरए पयासु ।

आ०, ३, ११५, उ, २

टीका—प्रजाओं से—यानी स्त्रियों से तत्त्वदर्शी पुरुषों को सदैव दूर ही रहना चाहिये । क्यों कि स्त्री-भोग किंपाक फल के समान बाह्य रूप से सुन्दर, मधुर, आकर्षक और सरस प्रतीत होते हुए भी अन्तमें—परिणाम में घोर विष के समान हैं । शरीर में नाना व्याधियाँ पैदा करने वाले हैं । आत्म बल और चारित्र बल घटाने वाले हैं । एवं अनन्त जन्म मरण पैदा करने वाले हैं ।

(११)

अवि वास सयं नारीं बम्भयारी विवज्जए।

द०, ८, ५६,

टीका—स्त्री-संगति इतनी बुरी है कि वृद्धा और कुरूपा एवं अपांग स्त्री से भी ब्रह्मचर्य की हानि हो सकती है। अतएव सौ वर्ष जितनी आयु वाली स्त्री से भी ब्रह्मचारी दूर ही रहे।

(१२)

थी कहं तु विवज्जए।

उ०, १६, २

टीका—स्त्री-कथा, स्त्री के अंगोपांग की चर्चा, स्त्री के शृंगार की वार्ता आदि स्त्री-जीवन-वर्णन की बातें ब्रह्मचारी छोड़ दे। ब्रह्मचर्य के लिये घातक और वर्जनीय बातें ब्रह्मचारी न तो कहे और न सुने तथा न उनका चिन्तवन करे।

(१३)

णो निग्गंथे इत्थीणं पुव्व रयं,
पुव्वकीलियं अणुसरेज्ज।

उ०, १६, ग, छट्ठा

टीका—जो निर्ग्रन्थ है, जो ब्रह्मचारी है, जो जीवन-मुक्ति की कामना वाला है, उसको स्त्रियों के साथ पूर्व काल में भोगे हुए काम-भोगों को, और क्रीड़ाओं को याद नहीं करना चाहिये।

(१४)

संमिस्स भावं पयहे पयासु।

सू०, १०, १५

टीका—संपूर्ण शांतिमय जीवन का इच्छुक पुरुष, स्त्रियों के साथ मेल-मिलाप रखना सर्वथा त्याग दे। क्योंकि स्त्री-संसर्ग और पूर्ण शांति दोनों परस्पर विरोधी बातें हैं।

(१५)

विसएसु मणुन्नेसु पेमं नाभिनिवेसए ।

द०, ८, ५९

टीका—इन्द्रियों के विषयों की ओर अथवा भोगोपभोग पदार्थों की ओर एवं विषय-वासना के पोषण की ओर मनको नहीं जाने देना चाहिये। विकारों की ओर मानसिक आकर्षण भी नहीं होने देना चाहिये। आसक्ति या अनुराग-भाव को मनोज्ञ-विषयों में पैदा नहीं होने देना चाहिये।

(१६)

नारीसु नोवगिज्झेज्जा,
धम्मं च पेसलं णच्चा।

उ०, ८, १९

टीका—धर्म को— दान, शील, तप, भावना को ही सुन्दर जान कर, कल्याणकारी जान कर, स्त्रियोंमें कभी भी गृद्ध न बनो, मूर्च्छित न बनो। ब्रह्मचर्य को ही सर्वस्व समझो। इसको ही कल्याण का मूल आधार समझो।

(१७)

न य रूवेसु मणं करे।

द०, ८, १९

टीका—रूपवती सुन्दर स्त्रियों को देख कर मन को चंचल नहीं करना चाहिये। विषय-विकार की ओर से मन रूपी घोड़े को ज्ञान रूपी लगाम से रोककर ध्यान रूपी क्षेत्रमें, चिंतन-मनन रूपी मैदान में और सेवामय आंगण में लगाना चाहिये।

(१८)

निव्विन्दय नारी अरए पयासु।

आ०, ५, १५५, उ, ३

टीका—संसार के भोग संबन्धी सुखों से जिनको उदासीनता हो गई है, संसार के वैभव से जिनको वैराग्य हो गया है, ऐसे महापुरुष स्त्रियों से विरति ही रक्खें। स्त्रियों से दूर ही रहें। ब्रह्मचर्य-व्रत को ही आध्यात्मिक उच्चता की आधार भूमि समझें।

(१९)

विरते सिणाणाइसु इत्थियासु।

सू०, ७, २२

टीका—साधु की साधुता इसी में है कि वह शृंगार-भावनासे, स्नान आदि क्रियाओं से दूर रहे। और स्त्रियों के संसर्ग से सदा बचता रहे,। कलया से शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करता रहे।

(२०)

इत्थी निलयस्स मज्झे,
न बम्भयारिस्स खमो निवासो।

उ०, ३२, १३

टीका—स्त्री के रहने के स्थान में यानी स्त्री के आवागमन के स्थान में अथवा स्त्रियों के पड़ोस म ब्रह्मचारी का निवास आपत्ति-जनक होता है। व्रत-नाशक और चित्त को चंचलता को पैदा करने वाला होता है।

(२१)

गुत्तिंदिए गुत्त बम्भयारी
सया अप्पमत्ते विहरेज्ज।

उ०, १६, म, प्र,

टीका—गुप्त इन्द्रिय वाला होकर, इन्द्रियों पर गुप्त रूप से संयम शील होकर, गुप्त ब्रह्मचारी होकर, कर्मठ होकर, अप्रमत्त होकर सदा विचरे और इसी तरह से अपना जीवन-काल व्यतीत करता रहे।

(२२)

सव्विंदियाभिनिव्वुडे पयासु ।

सू०, १०, ४

टीका—आत्म कल्याण की इच्छा वाले पुरुष के लिये यह आवश्यक और अचल कर्त्तव्य है कि वह स्त्रियों की तरफ से सभी इन्द्रियों को रोक कर जितेन्द्रिय रहे। स्त्रियों का मन, वचन और काया से भी ध्यान नही करे। स्त्रियों की आकाक्षा नही करे।

(२३)

नो निग्गंथे इत्थाणं इन्दियाइं मणोहराइं,

मणोरमाइं आलोएज्जा, निज्झाएज्जा।

उ०, १६, ग, च०

टीका—जो निर्ग्रंथ है, ब्रह्मचारी है, ईश्वर-प्राप्ति की आकांक्षा वाला है, उसे स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को न तो देखना चाहिये और न उनका ध्यान अथवा चिन्तन ही करना चाहिये।

(२४)

इत्थियाहिं अणगारा,

संवासेण णास मुवयंति ।

सू०, ४, २७, उ०, १

टीका—जैसे अग्नि से स्पर्श किया हुआ लाख का घड़ा शीघ्र तप कर नाश को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार स्त्रियों के संसर्ग से योगी पुरुष भी-संयमी पुरुष भी भ्रष्ट हो सकता है। अतएव मन, वचन और काया से स्त्री-संगति से दूर रहना चाहिये। आत्म-कल्याण की भावना की पूर्ति के लिये ब्रह्मचर्य सर्व प्रथम आवश्यक गुण है।

(२५)

जा जा दिच्छसि नारीओ,
अट्ठि अप्पा भविस्ससि।

द०, २, ९

टीका—मानसिक-नियंत्रणता के अभाव में जिन २ स्त्रियों को देखोगे, उससे प्रत्येक बार तुम्हारा मन और आत्मा अस्थिर, निर्बल और वायु विकम्पित वृक्ष के समान चंचल बनेगी। अतएव विषयों से चित्त को हटाओ।

(२६)

नो रक्खसीसु गिज्झेज्जा,
गंडवच्छासु अणेग चित्तासु।

उ०, ८, १८

टीका—जिनके वक्ष: स्थल पर कुच हैं—स्तन हैं, और जो अस्थिर चित्तवाली हैं, यानी विभिन्न विषयों पर चित्त को जो परिभ्रमण कराती रहती हैं, तथा जो धर्म, धन, शरीर और शक्ति आदि सभी सत्गुणों का नाश करने वाली हैं, ऐसी राक्षसी समान स्त्रियों में कभी भी मूर्च्छित न बनो।

(२७)

लद्धे कामे ण पत्थेज्जा।

सू०, ९, ३२

टीका—काम-भोगों को भोगने का अवसर मिल जाय तो ब्रह्मचारी पुरुष उनको मन, वचन और कायासे नहीं भोगे। उनको भोगने की इच्छा भी नहीं करे। और उस विघ्नकारी स्थान को छोड़ कर अन्यत्र वीतरागता पूर्वक चला जाए।

(२८)

बंभयारिस्स इत्थी
विग्गहओ भयं।

द०, ८, ५४

टीका—ब्रह्मचारी को स्त्री के शरीर से भय बनाये रखना चाहिये। मन, वचन और कायासे स्त्रीकी संगतिसे दूर रहना चाहिये। स्त्री-संगति तत्काल विकार को पैदा करने वाली होती हैं, अतः इससे दूर ही रहें।

(२९)

नाइमत्तं तु भुंजिज्जा बम्भचेर रओ।

उ०, १६, ८

टीका—ब्रह्मचर्य में अनुरक्त पुरुष, ब्रह्मचर्य की साधना वाला परिमित, सात्विक आहार करे। प्रमाण से अधिक और वर्जनीय आहार नहीं करे।

(३०)

णो निग्गंथे पणीयं आहारं आहारेज्जा।

उ०, १६, ग, सा०

टीका—जो निर्ग्रन्थ है, जो ब्रह्मचारी है, जो मुमुक्षु है, उसको अत्यंत सरस और कामोद्दीपक आहार नहीं करना चाहिये। यथा आहार तथा वृति के अनुसार सरस आहार ब्रह्मचर्थ के लिए घातक है।

(३१)

रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो,
न लिप्पए भवमज्झेऽवि सन्तो।

उ०, ३२, ३४

टीका—रूप से विरक्त यानी स्त्री सौंदर्य के देखने से विरक्त, ऐसा पुरुष शोक रहित होता है। समाधिमय और स्थितप्रज्ञ होता है; तथा इस संसार में रहता हुआ भी पाप-कर्मों से लिप्त नहीं होता है।

(३२)

न संत संति मरणं ते
सील वन्ता बहुस्सुया ।

उ०, ५, २९

टीका—शील वाले, सत्चरित्र वाले और ज्ञान वाले पुरुष इस लोक में और परलोक में कहीं पर भी कष्ट नहीं पाते हैं, क्योंकि वे जितेन्द्रिय होते हैं। वे तृष्णा रहित होते हैं और वे स्व-पर की कल्याणकारी भावना वाले होते हैं।

अपरिग्रह-सूत्र

(१)

सव्वारम्भ परिच्चागो निम्ममत्तं ।

उ०, १९, ३०

टीका—सभी आरंभ-परिग्रहका त्याग करना और निर्ममता तथा अनासक्त भाव से रहना ही "निष्परिग्रह व्रत" है ।

(२)

मुच्छा परिग्गहो वुत्तो ।

द०, ६, २१

टीका—मूर्च्छा या आसक्ति ही परिग्रह का नामान्तर है । आसक्ति ही भय, मोह, चिन्ता, लोभ आदि पापों की जननी है, विकारों को पैदा करने वाली खान है । मूर्च्छा वाला और आसक्ति वाला चाहे दरिद्री हो या धनवान, दोनों ही मूर्ख हैं और दोनों ही पतित हैं; अतएव आसक्ति भाव से दूर रहना ज्ञानी के ज्ञान का एक आवश्यक अंग है ।

★

वैराग्य-सूत्र

(१)

एगे अहमंसि, न मे अत्थि कोइ,
न या हमवि कस्स वि।

आ०, ८, २१६, उ, ६

टीका—हे आत्मा ! तू विचार कर कि मैं अकेला ही हूँ, जन्म लेते समय भी कोई साथ में नहीं था, और मरते समय भी कोई साथ में आने वाला नहीं है। सांसारिक कामों को करते समय और सांसारिक सुख वैभव में हिस्सा बंटाते समय तो सभी सम्मिलित हो जाते है, परन्तु पाप का उदय होने पर-कर्मों का फलोदय होने पर कोई भी हिस्सा नहीं बंटाता है, अकेले को ही भोगना पड़ता है। इसलिए विचार कर कि "मैं अकेला ही हूँ, मेरा कोई नहीं है, और मैं भी किसी दूसरे का नही हूँ।" इस प्रकार की एकत्व-भावना से ही आत्मिक-शांति की सम्भावना है।

(२)

परिजूरइ ते सरीर यं,
समयं गोयम ! मा पमायए।

उ०, १०, २१

टीका—तुम्हारा शरीर क्षण प्रतिक्षण जीर्ण और अशक्त होता जा रहा है, इसलिये हे गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर !

(३)

विहडइ विद्धंसइ ते सरीर यं
समयं गोयम ! मा पमायए।

उ०, १०, २७

टीका—तुम्हारा यह शरीर गिर रहा है, प्रति क्षण निर्बल हो रहा है, क्रमशः प्रत्येक क्षण नाश को प्राप्त हो रहा है, अचानक रूप से मृत्यु आ जाने वाली है, इसलिये हे गौतम! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर!

(४)

दुमपत्तए पंडुयए जहा,
एवं मणुयाण जीवियं।

उ०, १०, १

टीका—जैसे वृक्ष का पीला और पका हुआ पत्ता न मालूम किस क्षण में गिर जाता है अथवा गिरने वाला होता है, वैसे ही यह मनुष्य शरीर न मालूम किस क्षण में नष्ट हो जाने वाला है!

(५)

कुसग्गे जह ओस बिंदुए,
एवं मणुयाण जीवियं।

उ०, १०, २

टीका—जैसे कुशा-घास पर अवस्थित ओस-बिन्दु थोड़े समय तक की स्थिति वाला होता है, और हवा का झोंका लगते ही गिर पड़ता है वैसे ही मनुष्य-जीवन का भी कोई निश्चित पता नहीं है। न मालूम कब यह ख़त्म हो जाने वाला है।

(६)

कुसग्गे पणुन्नं निवइय वाएरियं.
एवं बालस्स जीवियं।

आ०, ५, १४३ उ, १

टीका—जैसे कुशा-घास पर अवस्थित जल बिन्दु हवा का झोंका लगते ही गिर पड़ता है, और समाप्त हो जाता है, ऐसे ही

संसारी और भोगी आत्मा का जीवन भी अचानक टूट जाता है। अनन्त काल चक्र के सामने प्रत्येक संसारी आत्मा का एक गति विशेष में कितना लम्बा आयुष्य होता है ? छोटा सा होता है, अतएव समय और शक्ति का सदुपयोग ही करते रहना चाहिये। यही बुद्धिमानी का लक्षण है।

(७)

ण य संखय माहु जीवितं,
तह वि य बाल जणो पगब्भई।

सू०, २, १०, उ, ३

टीका—टूटी हुई आयु पुनः जोड़ी नहीं जा सकती है। व्यतीत हुआ जीवन पुनः प्राप्त नहीं किया जा सकता है। फिर भी मूर्ख मनुष्य, विवेक हीन पुरुष, कामान्ध प्राणी पाप करने की धृष्टता करते ही रहते हैं। वे स्वार्थ-साधना और इन्द्रिय-पोषण में ही मग्न रहते हैं।

(८)

तरुण ए वाससयस्स तुट्टती
इत्तरवासे य बुज्झह।

सू०, २, ८, उ, ३

टीका—सौ वर्ष की आयुवाले पुरुष का भी जीवन युवावस्था में ही नष्ट होता हुआ देखा जाता है। इस लिये इस जीवन को थोड़े दिन के निवास के समान समझो और क्षण भर का भी प्रमाद मत करो, तथा सदैव सत्कार्यों में ही लगे रहो।

(९)

तालं जह बंधण-चुए
एवं आउक्खयंमि तुट्टती।

सू०, २, ६, उ, १

टीका—जैसे बन्धन से छूटा हुआ ताड़-फल गिर पड़ता है, वैसे ही अचानक आयु के समाप्त होते ही प्राणी भी मर जाते हैं, इसलिये दान, शील, तप और भावना के प्रति उपेक्षित नहीं रहना चाहिए। यथा-शक्ति कुछ न कुछ धर्म-क्रियाएँ करते ही रहना चाहिये।

(१०)

विणि अट्टिज्ज भोगेसु:
आउं परिमि अप्पणो।

द०, ८, ३४

टीका—शरीर क्षण भंगुर है और आयु परिमित है, ऐसा विचार कर काम-भोगों से, इन्द्रिय विषयों से अपने मन और आत्मा को अलग ही रखना चाहिये।

११

उवणिज्जई जीविय मप्पमायं,
मा कासि कम्माइं महालयाइं।

उ०, १३, २६

टीका—यह शरीर बिना किसी बाधा के निरन्तर मृत्यु के समीप चला जा रहा है, प्रति क्षण आयु घटती जा रही है, अचानक मृत्यु आ जाने वाली है, इसलिये महा हिंसक और महान् दुर्गति के देने वाले कर्मों को पाप-पूर्ण कामों को तू मत कर! हे जीव! सत् और असत् का विचार करके कार्य कर।

१२

एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खं।

सू०, ५, २२, उ, २

टीका—जीव अज्ञानवश सारे कुटुम्ब के लिए पाप करता है। झूठ-हिंसा आदिका आश्रय लेकर कुटुम्ब को सुखी करने का प्रयत्न करता है। परन्तु कर्मों का फल भोगने के समय वह अकेला ही भोगता

है। उसके दुखों को बाँटने के लिये कोई भी समर्थ नहीं होता है। अकेला ही घोर दुःखका अनुभव करता है।

१३

मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो,
जराए परिवारिओ।

उ०, १४, २३

टीका—यह संसार मृत्युसे पीडित है और बुढ़ापे से संवृत्त आच्छादित है। प्रत्येक क्षण नाश और दुःख की धारा इस विश्व में प्रवाहित हो रही है।

१४

जाया य पुत्ता न हुवन्ति ताणं।

उ०, १४, १२

टीका—कर्म-जनित महान् वेदना प्राप्त होने पर अथवा अधोगति प्राप्त होने पर पुत्र भी आत्मा की रक्षा नहीं कर सकते है। ऐसा सोचकर आत्म-विकास करना चाहिये। सत् प्रवृत्तियों की ओर बढ़ना चाहिये।

१५

मच्चू नरं नेइ हु अन्त काले,
न तस्स माया व पिया व भाया अंसहरा भवन्ति।

उ०, १३, २२

टीका—जब मृत्यु मनुष्य को अत समय मे धर दबाती है, तब उस समय उसके माता पिता अथवा भाई आदि कोई भी उसको बचाने मे समथ नही हो सकते हैं।

१६

माया पिया ण्हुसा भाया,
नालं ते मम ताणाए।

उ०, ६, ३

टीका—अपने कर्मों के अनुसार दुःख भोगने के समय माता, पिता-पुत्र-वधु, भार्या अथवा पुत्र आदि कोई भी उन दुःखों से छुटकारा दिलाने में, आपत्ति से रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकते है। इसके लिये तो संयम और स्व-पर की सेवा ही सर्वोत्तम औषधि है।

(१७)

णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा,
तमं पि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा।

आ०, २, ६५, उ, १

टीका—कर्मोदय से जनित घोर दुःख के समय हे आत्मन्! न तो माता, पिता, बन्धु वर्ग ही तुम्हारी रक्षा कर सकते हैं अथवा शरण भूत हो सकते हैं, और न तू ही उनके घोर दुःखमें उनकी रक्षा कर सकता है। जिसका कर्म जो ही भोगेगा, अतएव संसार के सुख वैभव में और मोह में आसक्ति मत रख। कर्त्तव्य-मार्ग में अनासक्ति के साथ बढ़ता चला जा।

(१८)

एक्को सयं पच्चणु होइ दुक्खं।

सू०, १३, २३

टीका—पाप कर्मों का उदय होने पर प्राप्त दुःख को जीव अकेला ही भोगता है। उस दुःख को विभाजित करने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकता है।

(१९)

एगत्त मेयं अभिपत्थएज्जा

सू०, १०, १२

टीका—पंडित पुरुष एकत्व-भावना की प्रार्थना करे। क्यों कि जन्म, जरा, मरण, रोग, भय, और शोक से परिपूर्ण इस जगत

में अपने किये हुए कर्म से दुःख भोगते हुए प्राणी की रक्षा करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

(२०)

एगस्स जंतो गति रागती य।

सू० १३, १८

टीका—प्राणी अकेला हो परलोक को जाता है और अकेला ही आता है। इस संसार में प्राणी के लिये धर्म को छोड़कर दूसरा कोई भी उसका सच्चा सहायक नहीं है। न धनादि वैभव के पदार्थ ही सहायक हैं, और न माता-पिता आदि बन्धु वर्ग ही सहायक हैं। अतएव सेवा, सद्वर्तन, सात्विकता, ईश्वर-भजन आदि पवित्र कार्यों को ही जीवन में प्रमुख स्थान देना चाहिये।

(२१)

जीवियं नाभिकंखेज्जा,
मरणं नो वि पत्थए।

आ०, ८, २०, उ, ८

टीका—जीवन में अनासक्त रहे। आसक्ति होने पर भोगों में पुनः फंसने की आशंका है। कर्त्तव्य से गिर जाने का डर है। अतएव धर्म-मार्ग पर चलते हुए न तो जीवन के प्रति मोह-ममता रक्खे, और न मृत्यु से भय खावे। यश-कीर्ति, सुख-वैभव प्राप्त होने पर जीवन को बहुत काल तक जीवित रखने की आकांक्षा नहीं करे, एवं दुःख, व्याधि, उपसर्ग, परिषह, कठिनाइयाँ आदि को देख कर मरने की भावना भी नहीं भावे। सात्विक वृत्ति वाला, कर्मण्य पुरुष केवल कर्मण्य का ही ध्यान रखे, जीवन से या मृत्यु से अनासक्त रहे।

(२२)

संवेगेणं अणुत्तरं धम्म सद्धं जणयइ ।

उ०, २९, प्र, ग०

टीका—संवेग और वैराग्य से ही श्रेष्ठ धर्म के प्रति, जैन धर्म के प्रति और सात्विक क्रिया मय आचरण के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है, इन पर विश्वास जमता है ।

(२३)

निव्वेएणं दिव्व माणुस तेरिच्छिएसु
काम भोगेसु निव्वेयं हव्व मागच्छइ ।

उ०, २९, द्वि०, ग०

टीका—संसार-सुख के प्रति तटस्थ वृत्ति एव उदासीन भावना होने पर ही देवता संबंधी, मनुष्य सबंधी और तिर्यच संबंधी काम भोगों के प्रति और इन्द्रिय-सुखों के प्रति वैराग्य भाव पैदा हुआ करते हैं, इसलिये त्याग-भाव और अरुचि-भाव के लिये तटस्थ भावना की अति आवश्यकता है ।

(२४)

विरत्ता उ न लग्गन्ति,
जहा से सुक्क गोलए ।

उ, २५, ४३

टीका—जैसे सूखा हुआ गोला भींत पर नहीं चिपकता है, वैसे ही विरक्त आत्माओं के—विषय-मुक्त आत्माओं के तथा अनासक्त आत्माओं के भी कर्मों का बंधन नहीं होता है ।

★

कर्तव्य-सूत्र

(१)

अकिरियं परिवज्जए।

उ०, १८, ३३

टीका—अक्रिया का, नास्तिकता का, अनास्था का, परित्याग करना चाहिये। जीवन में ज्ञानके साथ क्रिया को भी यानी चारित्र को भी स्थान देना चाहिये। क्रिया शून्य ज्ञान मोक्ष तक नहीं पहुंचा सकता है।

(२)

सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं।

उ०, १३, १०

टीका—सात्विक उद्देश्यों से किये जाने वाले सभी कार्य मनुष्यों के लिये अच्छे फल देने वाले होते हैं। भावनानुसार फल की प्राप्ति हुआ ही करती है।

(३)

जाइ सद्धाइ निक्खंत्तो,
तमेव अणु पालिज्जा।

द० ८, ६१

टीका—जिस श्रद्धा के साथ, जिस दृढ़ आत्म-विश्वास के साथ, स्व और पर के कल्याण के लिये निकला हो, उसी दृढ़ भावना के साथ एवं अचल श्रद्धा के साथ स्व और पर के कल्याण में लगे रहना चाहिये।

(४)

णो जीवितं णो मरणाहि कंखी ।

सू०, १२, २२

टीका—ईश्वर पर श्रद्धा रखने वाला पुरुष और धार्मिक-नियमों पर चलने वाला पुरुष न तो जीवन पर आसक्ति रखे और न मृत्यु से घबरावे । कठिनाइयाँ आने पर भी मृत्यु की अकांक्षा नहीं रखे। तथा सुख-सुविधा होने पर भी जीवन के प्रति अनासक्त रहे ।

(५)

मा वंतं पुणो वि आविए ।

उ०, १०, २९

टीका—त्यागे हुए विषय को, और छोड़ी हुई कषाय-वासनाको पुनः ग्रहण मत करो । भोगों की तरफ मत ललचाओ ।

(६)

अणट्ठा जे य सव्वत्था परिवज्जेज्ज ।

उ०, १८, ३०

टीका—जो अनर्थ कारी क्रियाऐं हैं, जिन क्रियाओं से न तो स्व का और न पर का हित होने वाला है, अथवा जो स्व को या पर को हानि पहुंचाने वाली हैं, जो आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टि से वर्जनीय हैं, जो त्याज्य हैं, ऐसी क्रियाओं को सर्वत्र और सर्वदा के लिये छोड़ देना चाहिये ।

(७)

रायणिएसु विणयं पउंजे ।

द०, ८, ४१

टीका—ज्ञान, दर्शन और चारित्र में वृद्ध मुनिराजों की सदैव विनय, भक्ति और सेवा करते रहना चाहिये । क्योंकि सेवा ही मोक्ष-दायिनी होती है ।

(८)

लज्जा दया संजम बंभचेरं,
कल्लाण भागिस्स विसोहि ठाणं ।

द०, ९, १३ प्र, उ,

टीका—कल्याण के लिये अर्थात् अनंत आत्मिक सुख की भावना वाले के लिये, (१) लज्जा यानी व्यवहार-कुशलता के साथ मर्यादा पालन, (२) दया यानी सभी प्राणियों पर आतमवत् दृष्टि, (३) संयम यानी विषय-कषाय विकार पर नियंत्रण और (४) ब्रह्मचर्य यानी मन, वचन तथा काया पूर्वक स्त्री-संगति से दूर रहना और वीर्य-रक्षा करना; ये चार आवश्यक और प्रधान आचरणीय क्रियाएँ हैं ।

(९)

सुस्सूसए आयरियं अप्पमत्तो ।

द०, ९, १७, प्र, उ,

टीका—प्रमाद रहित होकर, सदैव सत् क्रिया शील होकर, अपने आचार्य की अथवा अपने गुरु की निष्कामना के साथ विशुद्ध हृदय होकर सेवा करता रहे । उनकी भक्ति करता रहे ।

(१०)

समयं तत्थुवेहाए अप्पाणं विप्पसायए ।

आ०, ३, ११७, उ, ३

टीका—ज्ञानी का या मुमुक्षु का यह कर्तव्य है कि वह समता धर्म में और शांति धर्म में अपनी आत्माको स्थिर कर आत्मिक शक्तियों का सात्विक रीति से विकास करता रहे।

(११)

जाए सद्धाए निक्खंतो,
तमेव अणुपालिज्जा ।

आ०, १, २०, उ, ३

टीका—जिस श्रद्धा से, जिस उत्कृष्ट त्याग-भावना से और जिस कर्त्तव्य-प्रेरणा से सांसारिक सुख वैभव का परित्याग करके दीक्षा ग्रहण की है, यानी महापुरुषों के मार्ग का अवलम्बन किया है, उसी भावना के साथ और उसी आदर्श श्रद्धा के साथ उस दीक्षाकी तथा उस कर्त्तव्य की परिपालना करे।

(१२)

अलं बालस्स संगेणं।

आ०, २, ९६, उ, ५

टीका—मूर्खों की संगति कभी भी नही करनी चाहिये, क्योंकि संगति अनुसार ही फल मिला करता है। संगति अनुसार ही गुणों का और दुर्गुणों का ह्रास अथवा विकास हुआ करता है।

(१३)

चरेज्ज अत्तगवेसए।

उ०, २, १७

टीका—आत्मा की अनंतता की और आत्मा की महत्ता की खोज करने वाला संयम-मार्ग पर ही-इन्द्रिय-दमन के मार्ग पर ही संलग्न रहे। आत्मा की अनुभूति विकार वासना, कषाय, तृष्णा, और इन्द्रिय भोगों पर विजय प्राप्त करने पर ही हो सकती है।

(१४)

इमेण चेव जुज्झाहि,
किं ते जुज्झेण बज्झओ।

आ०, ५, १५४, उ, ३

टीका—बाह्य शत्रुओं के साथ लड़ने में कोई गौरव नहीं है, जब तक कि आंतरिक शत्रुओं को-"काम, क्रोध, मोह, मद, मात्सर्य, लोभ आदि शत्रुओं को" नहीं हरा दिया जाय, तब तक बाह्य-युद्ध से क्या लाभ होने वाला है? आंतरिक युद्ध ही ज्ञानियों द्वारा

प्रशंसनीय कहा गया है। बाह्य युद्ध तो निकम्मा और निंदनीय है। यही तत्वदर्शियों का फरमान है।

(१५)

धुय मायरेज्ज।

सू०, ५, २५, उ, २

टीका—गुणज्ञ पुरुष स्वीकृत और आराधित नियम-संयम का भली-भांति आचरण करे।

(१६)

अ‍त्ताए परिव्वए।

सू०, ११, ३२

टीका—आत्मा के विकास के लिये और आत्मा के स्थायी सुख के लिये, समझदार पुरुष इन्द्रियों को वशमें रखे। संसार के पौद्गलिक सुखों की प्राप्ति के ध्येय से संयम का पालन नहीं किया जाय, बल्कि चारित्र के पालन का एकान्त दृष्टिकोण यही हो कि आत्मा अनन्त आनन्द प्राप्त करे। जीवन का यही एक मात्र ध्येय हो।

(१७)

सव्वत्थ विणीय मच्छरे।

सू०, २, १४, उ, ३

टीका—सब जगह और सदैव सभी प्राणियों के प्रति और सभी कार्यों के प्रति ईर्षा-भाव का परित्याग करना ही मानवता की सर्व प्रथम सीढ़ी है।

(१८)

निव्विदेज्ज सिलोग पूयणं।

सू०, २, १३, उ, ३

टीका—आत्म कल्याण की इच्छा वाले मुमुक्षु को अपनी प्रशंसा, यशः कीर्ति, पूजा, सन्मान आदि से दूर रहना चाहिये। ये पतन की ओर ले जाने वाले हैं और अभिमान पैदा करने वाले हैं। इन बातों से मुमुक्षु सदैव दूर ही रहे।

पूजा-सन्मान की आकांक्षा भी मोह का रूप ही है।

(१९)

सुपरिच्चाई दमं चरे।

उ०, १८, ४३

टीका—सुपरि त्यागी होकर, अनासक्त और निर्ग्रन्थ होकर, दमन-मार्ग पर, इन्द्रिय-संयम के मार्ग पर और कषाय-जय के मार्ग पर अपनी आत्माको जोड़े। आत्मा को संयोजित करे।

(२०)

सत्थारभत्ती अणुवीइ वायं।

सू०, १४, २६

टीका—शिक्षा देने वाले गुरु की भक्ति का ध्यान रखता हुआ शिक्षार्थी सोच विचार कर कोई बात कहे। गुरु के कथन के विपरीत नहीं बोले, एवं सस्कृति के प्रतिकूल विवेचना भी नहीं करे।

(२१)

पण्णे समत्ते सया जए,
समता धम्म मुदाहरे।

सू०, २, ६, उ, २

टीका—पूर्ण बुद्धिमान् पुरुष सदा कषायों को-क्रोध, मान, माया और लोभ को जीतता रहे। इन पर विजय प्राप्त करता रहे तथा समता-धर्म का-वीतराग-धर्म का उपदेश करता रहे।

★

सद्गुण-सूत्र

(१)

निममे निरहंकारे ।

उ०, ३६, २१

टीका—जीवन ममता रहित और अहंकार रहित हो। ऐसा जीवन ही बोधप्रद है। ऐसा जीवन ही कृत कृत्य है। ऐसा जीवन ही सफल है।

(२)

अप्पियस्सावि मित्तस्स,
रहे कल्लाण भासई ।

उ०, ११, १२

टीका—अप्रिय मित्र का भी एकान्त में जो गुणानुवाद करता है, अप्रिय मित्र के प्रति भी जो निन्दा भाव नहीं रखता है तथा सदैव उसका हितचिन्तन ही करता रहता है, ऐसा पुरुष ही विनीत है। वह आज्ञा का आराधक है।

(३)

अकोहणे सच्चरए सिक्खा सीले ।

उ०, ११, ५

टीका—जो अक्रोधी है, नम्र है और सत्यानुरागी, है वही पुरुष सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

(४)

माणं मद्दवया जिणे ।

द०, ८; ३९

टीका—मानको, अहंकार को मृदुता से और नम्रता से जीतना चाहिये। नम्रता से विरोधी भी नरम और अनुकूल हो जाता है।

(५)

मायं अज्जव भावेण।

द०, ८, ३९

टीका—माया को, कपट को सरलता से जीतना चाहिये। सरल हृदय में ही ईश्वर का वास है।

(६)

लोभं संतोसओ जिणे।

द०, ८, ३९

टीका—लोभ को, लालचको संतोष से जीतना चाहिए। संतोष बराबर धन नहीं है। संतोषी ही सुखी है। और असन्तोषी सदैव दुःखी है, चाहे वह धनी हो या निर्धन। असंतोष की लहरें, तृष्णा की तरंगें अनन्त हैं, उनका कभी अंत ही नहीं आ सकता है।

(७)

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।

उ०, ३२, ८

टीका—जिसकी आत्मा में मोह नहीं है, उसे दुख नहीं हो सकता है। यानी मोह के अभाव में दुःख का अभाव हो जाता है। इसी प्रकार मोह के नाश में ही तृष्णा का नाश रहा हुआ है। जिसका मोह नष्ट हो गया है उसकी तृष्णा भी नष्ट हो गयी है।

(८)

तण्हा हया जस्स न होई लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाई

उ०, ३२, ८

टीका---जिसकी तृष्णा नष्ट हो गयी है उसको लोभ नहीं सताता है, और जिसके हृदयसे लोभ चला गया है उसको किसी भी बात पर, पदार्थ पर एवं भोग पर, आसक्ति या ममता नहीं रहती है। आनन्द की प्राप्ति के लिये तृष्णा का नाश सर्व प्रथम आवश्यक है।

(९)

ओमासणाणं दमिइन्दियाणं,
न राग सत्तू धरिसेइ चित्तं।

उ०, ३२, १२

टीका---परिमित और अल्प आहार करने वाले को तथा इन्द्रियों का दमन करने वाले के चित्त को राग-रूप शत्रु-आसक्ति रूप दुश्मन और ममता रूप वैरी दुःख नहीं देता है।

(१०)

संगाम सीसे व परं दमेज्जा।

सू०, ७, २९

टीका --कर्मण्य पुरुष अपनी मानसिक दुर्वृत्तियों का इस प्रकार दमन करे जैसा कि वीर-पुरुष युद्ध क्षेत्रमें प्रति पक्षी शत्रु का दमन करता है, और उसपर विजय प्राप्त करता है। मानसिक दुर्वृत्तियों पर विजय प्राप्त करने में ही पुरुषत्व की शोभा रही हुई है।

(११)

अप्पमत्तो परिव्वए।

उ०, ६, ३

टीका---जीवन के विकास के लिये अप्रमत्त होता हुआ, निश्चित होता हुआ, आशा रहित होता हुआ, और निर्द्वंद्व होता हुआ अपना जीवन व्यतीत करे।

(१२)

अलोलुए रसेसु नाणुगिज्झेज्जा।

द०, २, ३९

टीका—आत्मा की शांति चाहने वाला अलोलुप होता हुआ इन्द्रियों के रसों में, इन्द्रियों के भोगों के स्वादों में आसक्त न बने। विषयों में मूच्छित न हो। वासनाओं में गृद्ध न हो जाय।

(१३)

जे आसवा ते परिस्सवा,
जे परिस्सवा ते आसवा।

आ०, ४, १३१ उ, २

टीका—जो आश्रव के स्थान हैं, वे ही भावों की उच्चता के कारण संवर-निर्जरा के स्थान भी हो सकते हैं। इसी प्रकार जो संवर-निर्जरा के स्थान हैं, वे ही भावों की नीचता और दुष्टता के कारण आश्रव के स्थान भी हो जाया करते हैं। इन सब में मूल कारण भावों की या भावना की विशेषता है। जैसी भावना वैसा फल। बाह्य स्थिति कैसी भी हो, आंतरिक स्थिति पर ही सब कुछ निर्भर है। अतएव सदैव शुद्ध भावना ही रखनी चाहिये।

(१४)

आवट्टं तु पेहाए इत्थ,
विरमिज्ज वेयवी।

आ०, ५, १७०, उ, ६

टीका—राग द्वेष, कषाय, विषय और विकार के चक्र का ख्याल कर, संसार-परिभ्रमण का विचार कर, तत्वदर्शी ज्ञानी इन कषायों से, इन विषयों से, इन वासनाओं से, अपनी आत्मा को बचावे। जीवन को निर्मल, निष्कषायी और अनासक्त बनावे।

(१५)

[illegible] आपिडज धम्म।

आ० ६, १८८, उ, ४

टीका—जो बुद्धिमान् होता है, जो ज्ञान-शील होता है, वही धर्म के मर्म को-धर्म के रहस्य को जान सकता है। तत्वों के और सिद्धान्तों के तह में उच्च ज्ञानी ही प्रवेश कर सकते हैं—अज्ञानी और भोगी नहीं।

(१६)

सिक्खं सिक्खेज्ज पंडिए।

सू०; ८, १५

टीका—पंडित पुरुष-ज्ञानी पुरुष-संलेखना रूप शिक्षा को ग्रहण करे। आलोचना के साथ पश्चात्ताप और प्रायश्चित द्वारा जीवन की शुद्धि करे। और पुनः वैसी भूल नहीं करने की प्रतिज्ञा के साथ जीवन-काल व्यतीत करे।

(१७)

सव्वत्थ विरतिं कुज्जा।

सू०; ३; २०, उ, ४

टीका—सब स्थानों पर, सब काल में विरति करना चाहिये, यानी पाप, अशुभ-योग, कषाय, वासना आदि से विरक्त रहना चाहिये।

(१८)

न कंखे पुव्व संथवं।

उ०, ६, ४

टीका—आत्मार्थी अपने जीवन के पूर्व भाग में भोगे हुए भोगों का न तो परिचय करे, न उनकी स्मृति करे और न आकांक्षा ही करे। उनको सर्वथा ही भूल जाय।

(१९)

समुप्पेहमाणस्स इक्कायणरयस्स,
इह विप्पमुक्कस्स नत्थि मग्गे विरयस्स।

आ०, ५, १४९, उ, २

टीका—जिस आत्मा ने संसार को अनित्य समझ लिया है, तथा जो आत्मा एकान्त रूप से ईश्वर पर श्रद्धा कर के अपने निर्मल चारित्र द्वारा कर्त्तव्य-मार्ग पर आरूढ़ है, ऐसी आत्मा के नवीन कर्म आते हुए रुक जाते हैं। इसी प्रकार जो इन्द्रियों के भोगों से और मानसिक कषाय-वृत्तियों से निवृत्त हैं, वे अब पुनर्जन्म नहीं करेंगे। क्यों कि संसार में चक्कर लगाने का कोई कारण अब ऐसी पवित्र आत्माओं के लिये शेष नहीं रहता है।

(२०)

वन्दणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ,
उच्चा गोयं कम्मं निबन्धइ।

उ०; २९, १०, वां, ग०

टीका—गुरुजी को तथा पंच महाव्रतधारी साधुजी को वंदना करने से, भाव पूर्वक इन्हें आदर्श माननें से, नीच–गोत्र कर्म के बंध का नाश होता है और उच्च गोत्र कर्म का बंध पड़ता है।

(२१)

वायणाए निज्जरं जणयइ।

उ०, २९, १९वां, ग०

टीका—वाचना से, शास्त्रों के पढ़ने से, साहित्यिक और दार्शनिक ग्रंथों का अध्ययन करने से, इनका मनन तथा चिन्तन करने से, कर्मों की निर्जरा होती है। पूर्व कृत कर्मों का क्षय होता है।

(२२)

भुंजिज्जा दोषं वज्जिअं।

द०, ५, ९९, उ, प्र,

टीका—दोष-वर्जित आहार करना चाहिये। यानी जिस आहार में हिंसा, झूठ, चोरी, आसक्ति, गरीबों का शोषण, अत्याचार,

अन्याय आदि पाप रहा हुआ हो, वह आहार त्याज्य है, क्योंकि वह सदोष होता है ।

(२३)

पंचविहे आयारे, णाणायारे,
दंसणायारे, चरित्तायारे,
तवायारे, वीरियायारे ।

ठाणा, ५वां ठा, उ, २, १४

टीका—पांच प्रकार का आचार कहा गया है :—१ ज्ञानाचार, २ दर्शनाचार, ३ चारित्राचार, ४ तपाचार और ५ वीर्याचार ।

१ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को देख कर अविनय आदि आठ दोषों को टालना ज्ञानाचार है ।

२ सम्यक्त्व के दोषों को टालना दर्शनाचार है ।

३ पांच प्रकार की समितियाँ और तीन गुप्तियाँ पालना चारित्राचार है ।

४ बारह प्रकार के तप का आचरण करना तपाचार है ।

५—धर्म-मार्ग में पराक्रम बतलाना वीर्याचार है ।

(२४)

चउहिं ठाणेहिं जीवा देवाउयत्ताए,
कम्मं पगरेंति, सरागसंजमेणं,
संजमासंजमेणं, बालतवो कम्मेणं,
अकाम निज्जराए ।

ठाणा०, ४था, ठा, उ, ४, ३९

टीका—चार प्रकार के कामों से जीव देव-गति का बंध करते हैं :—१ सराग संयम से, २ संयमासंयम से, ३ बालतप करने से और ४ अकाम निर्जरा से ।

(२५)

चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुस्सत्ताए
कम्मं पगरेंति, पगइ भद्दयाए,
विणीयाए, साणुक्कोसयाए,
अमच्छरियाए ।

ठा०, ४ था, ठा, उ, ४, ३९

टीका—चार प्रकार के कामों से जीव मनुष्य गति का बंध करते हैं :—(१) सरल प्रकृति रखने से, (२) विनीत प्रकृति रखने से, (३) दयालु प्रकृति रखने से और (४) प्रेम-भाव रखने से—यानी मात्सर्य भाव नहीं रखने से ।

क्षमा-सूत्र

(१)

खंतिं सेविज्ज पंडिए।

उ०, १, ९

टीका—पंडित की-बुद्धिमान की सार्थकता इसी में है कि वह क्षमा धारण करे। कैसी भी विषम और जटिल परिस्थिति हो तो भी क्षमा ही रक्खे।

(२)

खन्तीएणं परिसहे जिणइ।

उ०, २९, ४६वां, ग०

टीका—क्षमा धारण करने से परिषहों को और उपसर्गों को तथा आपत्ति-विपत्ति को सहन करने की शक्ति पैदा होती है। शत्रुता मिटकर मित्रता की भावना पैदा होती है।

(३)

खमावणयाए पल्हायण भावं जणयइ।

उ०, २९, १७ वां, ग०

टीका—अपने अपराधों के लिये क्षमा मांगने से तथा नम्रता और विनय धारण करने से चित्त में प्रसन्नता होती है। आत्मा पापों से हल्की होती है।

(४)

पिय मप्पियं सव्वं तितिक्खएज्जा।

उ०, २१, १५

टीका—प्रिय और अप्रिय, सभी वचनों को शांतिपूर्वक सहन करना चाहिये। सहन शीलता ही गंभीरता है, और गंभीरता ही मानवता का एक अंश है।

(५)

अणिहे से पुट्ठे अहियासए।

सू०, २, १३, उ, १

टीका—मुमुक्षु आत्मा, आत्मार्थी-पुरुष, कष्ट आने पर भी निस्पृह होकर, समभाव-शील होकर उन कष्टों को सहन करता रहे, पर अपने कर्त्तव्य-मार्ग से विचलित न हो।

(६)

अप्पाहारे तितिक्खए।

आ०, ८, १९, उ, ८

टीका—बुद्धिमान् पुरुष अल्प-आहार करने वाला होवे। जिससे आलस्य आदि दुर्गुण नहीं सतावें। तथा स्वाध्याय में एवं अन्य सात्विक प्रवृत्तियों में हानि न हो। इसी प्रकार जीवन-व्यवहार में विरोधी परिस्थितियों के उपस्थित होने पर या प्रतिकूल संयोगों के कारण क्रोध का प्रसंग उपस्थित होने पर भी क्षमा ही करता रहे। क्षमा-शील और धर्म शील ही रहे। अल्प-आहार का व्रत लेने पर क्षमा आदि गुणों की वृद्धि होती है।

(७)

समता सव्वत्थ सुव्वते।

सू०, २, १३, उ, ३

टिका—सुव्रती यानी इन्द्रियों को और मन को वश में करने वाला पुरुष प्रत्येक क्षण और प्रत्येक स्थान पर समता रक्खे। हर्ष-शोक से दूर रहे।

(८)

समयं सया चरे ।

सू०, २, ३, उ, २

टीका—सदा समभाव से व्यवहार करना चाहिये । समता, धैर्य, संतोष, कर्मण्यता आदि सद्गुण ही जीवन के व्यक्तित्व का विकास करने वाले हैं ।

सात्विक-प्रवृत्ति-सूत्र

(१)

मित्तिं भूएसु कप्पए ।

उ०, ६, २

टीका—प्राणी मात्र पर, संसार के सभी जीवों पर, मैत्री भावना रक्खो । अविरोध-भावना का ही पोषण करो । कल्याण मय भावना की ही कल्पना करो । किसी को भी शत्रु न समझो ।

(२)

इंगियागार संपन्ने से विणीए ।

उ०, १, २

टीका—इंगित यानी इशारे और आकार-प्रकार से ही बात को समझ जाने वाला, और उसके अनुसार काम करने वाला "**विनीत**" कहलाता है ।

(३)

खमेह अवराहं मे,

वइज्ज न पुणु त्ति अ ।

द०, ९, १८, द्वि, उ,

टीका—"मेरा अपराध क्षमा करें, अब दुबारा ऐसा अपराध नहीं करूंगा; ऐसा बोले," यह लक्षण विनय शील और आत्म कल्याण की भावना वाले का है ।

(४)

सुविणी अप्पा दीसंति सुह मेहंता ।

द०, ९, ६, द्वि, उ,

टीका—सुविनीत आत्माऐं यानी ज्ञान, ध्यान, विनय, भक्ति, सेवा, ईश्वर-आराधना आदि सत्कार्यों में संलग्न आत्माऐं सुख-ऐश्वर्य, यश-कीर्ति, ऋद्धि-सिद्धि, आदि नाना प्रकार की सम्पत्ति प्राप्त करती हुई देखी जाती है।

(५)

नमइ मेहावी।

उ०, १, ४५

टीका—मेधावी-बुद्धिमान् और मुमुक्षु (मोक्ष का इच्छुक) ही नम्र होता है। वही विनय-शील होता है। क्योंकि वह जानता है कि विनय ही मोक्ष की सर्व प्रथम सीढ़ी है।

(६)

निरट्ठाणि उवज्जए।

उ०, १, ८

टीका—निरर्थक बातों से, विकथा-निन्दा और वैर-विरोध वाली बातों से दूर रहना चाहिये। इनका परित्याग कर देना चाहिये।

(७)

अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा।

सू० १२ १५

टीका—धीर पुरुष और ज्ञानी आत्माऐं अनासक्त तथा सत् कर्मण्य शील होने से अपने पूर्व कर्मों का क्षय कर डालती है, तथा नवीन आश्रव को भी रोक कर मोक्षका मार्ग प्रशस्त कर देती है।

(८)

उववाय कारी य हरीमणे,
य एगंत दिट्ठी य अमाइ रूवे।

सू, १३, ६

टीका—जो पुरुष अपने गुरु जनों की आज्ञा पालन करने वाला है, पाप करने से जो लज्जा रखता है, डरता है, एवं जीव, आत्मा,

ईश्वर, पाप, पुण्य आदि आधार-भूत तत्वों पर पूरी पूरी श्रद्धा रखता है, वह पुरुष सात्विक विचारों वाला है। वह अमायावी है और वही मोक्ष-मार्ग का पथिक है।

(९)

ण यावि पन्ने परिहास कुज्जा।

सू०, १४, १९

टीका--बुद्धिमान् पुरुष किसी की भी हंसी नही करे, क्योंकि हंसी लड़ाई का घर है। लडाई अनर्थों का मूल है। अतएव हंसी से दूर रहना ही बुद्धिमानी है।

(१०)

भवे अकामे अझंझे।

आ०, ५, १५४, उ, ३

टीका—जीवन में यही आदर्श हो कि काम-भाव, इच्छा-भाव, तृष्णा-भाव, नष्ट हो जायँ। कषाय-भाव, और राग-द्वेष भाव के नष्ट होने पर ही स्व का और पर का कल्याण हो सकता है।

(११)

ण मिज्जई महावीरे।

सू०, १५, ८

टीका—जो पुरुष आत्महित की वृत्तियों में ही लगा रहता है, आत्म-कल्याण की भावना में ही रमण करता रहता है, वह जन्म-मरण नहीं करता है, यानी ऐसा पुरुष महावीर है, और वह शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

(१२)

अकुव्वओ णवं णत्थि।

सू०, १५, ७

टीका—जो पुरुष अनासक्त भावसे, वीतराग-भावसे कार्य करता है, वह अकर्त्ता के समान है। उसको नये कर्मों का बंधन नहीं होता

है। इसलिये जीवन-व्यवहार में अनासक्त भाव से यानी वीतराग भावसे चलना चाहिये।

(१३)

आयरिअं उवचिट्ठ इज्जा,
अणंत नाणो वगओ त्रिसंतो।

द०, ९, ११, प्र०,उ०

टीका—शिष्य भले ही महान् ज्ञानी हो, गंभीर विचारक हो, असाधारण अनुभवी हो, एवं तल-स्पर्शी चिन्तक हो, तो भी उस शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने गुरू की, अपने आचार्य की महान् सेवा-भक्ति करता रहे, वह विनयो होवे और आज्ञा-पालन करता रहे।

(१४)

अरइं आउट्टे से मेहावी, खणंसि मुक्के।

आ०, २, ७३, उ. २

टीका—जिस मेधावी पुरुष ने, जिस प्रज्ञा-शील पुरुष ने अरति का त्याग कर दिया है, द्वेष का निवारण कर दिया है, वह काल की परिधि से मुक्त है। ऐसा पुरुष शीघ्र ही काल के दायरे से मुक्त हो जायगा, वह अजर-अमर हो जायगा।

(१५)

सुत्ता अमुणी, सया मुणिणो जागरंति।

आ०, ३, १०६, उ, १

टीका—सोना और जागना, द्रव्य एवं भाव रूप से दो तरह का है। हम प्रतिदिन रात में सोते हैं और दिन में जागते है, यह तो द्रव्य रूप से सोना और जागना है। परन्तु पाप में ही प्रवृत्ति करते रहना भाव सोना है और धार्मिक प्रवृत्ति करते रहना भाव-जागना है। इस प्रकार जो अमुनि हैं-पापिष्ठ और दुष्ट वृत्ति वाले हैं, वे तो सदैव सोये हुए ही हैं और जो मुनि हैं, सात्विक वृत्ति वाले हैं, वे सदैव जागते रहते हैं। यही मुनि और अमुनि में भाव अन्तर हैं, विशेषता है।

(१६)

आयंक दंसी न करेइ पावं ।

आ०, ३, ७, उ, २

टीका—जो नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गति के जन्म, मरण, पीड़ा, वेदना, दुःख और भय आदि को, और इनके आतंक को देखता है, सम्यक् रूप से इन पर विचार करता है, इन पर श्रद्धा करता है, तो ऐसी आत्मा भी पाप कर्म से दूर ही रहती है । पाप कर्म से वह मलीन नहीं होती है ।

(१७)

जे एगं नामे से बहुं नामे,
जे बहुं नामे, से एगं नामे ।

आ०, ३, १२४, उ, ४

टीका—जिस आत्मा ने एक कर्म का, मोहनीय कर्म का–क्षय कर दिया है, उसने सभी कर्मों का क्षय कर दिया है । इसी प्रकार जिसने घन घातिया कर्मों का क्षय कर दिया है, उसने मोहनीय कर्म का भी क्षय कर दिया है, ऐसा समझो । मोहनीय कर्म के क्षय होने पर ही शेष कर्मों का क्षय होना अवलंबित है ।

(१८)

भय वेराओ उवरए ।

उ०, ६, ७

टीका—दूसरे को भय-भीत करने से अथवा दूसरे के साथ वैर-विरोध करने से सदैव दूर ही रहना चाहिये । भय, निर्बलता और पाप को बढ़ाने वाला होता है, तथा वैर कषाय-अग्नि को प्रज्वलित करने वाला होता है ।

(१९)

पच्चमाणस्स कम्मेहिं,
नालं दुक्खाओ मोअणे ।

उ०, ६, ६

टीका—कर्मों से पीड़ित जीवको, दुःख से छुड़ाने में कोई भी समर्थ नहीं हैं, ऐसा सोचकर संयम मे ही-इन्द्रिय-विजय करने में ही, मन पर नियन्त्रण करने में ही, और पर-हित करने में ही अपना सारा समय व्यतीत करते रहना चाहिये।

(२०)

कसाय पच्चक्खाणेणं,
वीयराग भावं जणयइ।

उ०, २९, ३६ वां०, ग०

टीका—कषाय-भावको दूर करने से, क्रोध, मान, माया और लोभ आदि का त्याग करने से, वीतराग भाव पैदा होते हैं। समता, क्षमा, विनय, सरलता और संतोष आदि सात्विक और उच्च भावों की प्राप्ति होती है।

(२१)

नायएज्ज तणा मवि।

उ०, ६, ८

टीका—तृण मात्र को भी बिना मालिक की आज्ञा के नहीं लेना चाहिये। क्योंकि स्वल्प चोरी की वृत्ति भी धीरे-धीरे बढ़कर महान् चोरी करने की वृत्ति के रूप में परिणित हो जाती है।

(२२)

इह संति गया दविया,
णावकंखंति जीविउं।

आ०, १, ५८, उ, ७

टीका—जो आत्माऐं प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा, आस्तिकता, आदि गुणों द्वारा शांत प्रकृति वाली हो गई हैं, जो राग-द्वेष से मुक्त हो गई हैं, ऐसी आत्माऐं अब आगे संसार में परिभ्रमण नहीं करेंगी। अथवा वे परिभ्रमण नहीं करती हैं क्योंकि संसार में विशेष रहने का उनके लिये कोई कारण शेष नहीं रह जाता है।

उपदेश-सूत्र

(१)

तमेव सच्चं नीसंकं,

जं जिणेहिं पवेइयं ।

आ०, ५, १६३, उ, ५

टीका—सम्यक् ज्ञानी के लिये तो यही हितकर है कि जिनेन्द्र भगवान ने जो कुछ फरमाया है, उसे ही सच्चा श्रद्धे। उसे ही निःशंक माने। किसी भी प्रकार की भ्रमणा अपनी मान्यता में और जिन-बचनों में नहीं लावे।

(२)

समयं गोयम ! मा पमायए ।

उ. १०, १

टीका—हे गौतम! समय भर का भी, क्षण मात्र का भी प्रमाद मत कर, क्योंकि व्यर्थ में खोया हुआ समय पुनः लौट कर आने वाला नहीं है।

(३)

धीरे मुहुत्त मवि णो पमायए।

आ०, २, ६६, उ०, १

टीका—बुद्धिमान् पुरुष-ज्ञानी पुरुष संसार की अनित्यता का विचार कर और आकस्मिक रूप से आने वाली मृत्यु का विचार कर एक क्षण भर का भी प्रमाद नहीं करे, एक सेकिंड भी व्यर्थ नहीं खोवे। ईश्वर-श्रद्धा से और कर्त्तव्य-मार्ग से, तथा सेवा आदि सत्कार्यों से एक क्षण के लिये भी दूर नहीं रहे।

(४)

तिण्णो हु सि अण्णवं मह,
कि पुण चिट्ठसि तीर मागओ।

उ०, १०, ३४

टीका—महान् संसार समुद्र तो तर गये, यानी अनन्त जन्म-मरण करके चौरासी लाख जीव-योनी में से पार होकर इस उत्तम मनुष्य-भव को तो प्राप्त कर लिया, अब संसार-समुद्र के किनारे पर आकर प्रमाद में क्यों बैठे हुए हो ? सारांश यह है कि प्रमाद में जीवन को मत व्यतीत करो।

(५)

जं सेयं तं समायरे।

द०, ४, ११

टीका—जो श्रेष्ठ हो उसी का आचरण करना चाहिये। पाप अनिष्ट है, और पुण्य इष्ट है। इसलिये पुण्य, अहिंसा, दया, दान आदि का आचरण करें।

(६)

कंखे गुणे जाव सरीर भेउ।

उ०, ४, १३

टीका—जब तक शरीर रहे, यानी मृत्यु नहीं आवे, तब तक जीवन के अंतिम क्षण तक ज्ञान, क्षमा, दया, संतोष, सरलता, विनय आदि गुणों की आराधना और आकांक्षा करता रहे।

(७)

जयं चिट्ठे मिअं भासे।

द०, ८, १९

टीका—जीवन व्यवहार यत्ना पूर्वक और विवेक वाला बनावें। आवश्यक, परिमित और प्रिय वाणी बोले, आचार और वाणी का व्यवहार आदर्श हो।

(८)

सव्वं जगं तू समयाणु पेही।

सू०, १०, ७

टीका—सम्पूर्ण संसार को सम-भाव से देखो। पूजा अथवा निंदा के प्रति और सन्मान अथवा तिरस्कार के प्रति भी समभावी बने रहो। संयोग-वियोग में हर्ष-शोक से दूर रहो। इष्ट और अनिष्ट वस्तु के प्रति रति-अरति भाव से विलग रहना ही मानवता है।

(९)

हम्ममाणो ण कुप्पेज्ज,
वुच्चमाणो न संजले।

सू०, ९, ३१

टीका—कर्त्तव्य निष्ठ पुरुष को यदि कोई लाठी आदि से मारने भी लग जाय, तो भी वह परमार्थी पुरुष क्रोध नहीं करे, और न उस मारने वाले पर प्रतिकार रूप अनिष्ट विचार ही पैदा करे। इसी प्रकार किसी के गाली आदि देने पर भी परमार्थी पुरुष न जले। उस पर द्वेष भाव नहीं लावे। सारांश यह है कि जीवन में वीतराग-भाव की वृद्धि करता रहे।

(१०)

आदिन्नमन्नेसु य णो गहेज्जा।

सू० १०, २

टीका—बिना दी हुई किसी की भी कोई वस्तु नहीं लेना चाहिये यानी चोरी से-चाहे वस्तु छोटी हो या बड़ी, कैसी भी हो तो भी उसे नहीं लेना चाहिये।

(११)

चरियाए अप्पमत्तो,
पुट्ठो तत्थ अहियासए।

सू०, ९, ३०

टीका—महत्वाकांक्षी पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह जीवन-व्यवहार में आलस्य नहीं करे। प्रमाद की सेवना नहीं करे। प्रतिज्ञा-पालन करते समय और लक्ष्य की पूर्तिके समय आने वाले उपसर्गों और परिषहों को तथा कठिनाइयों को धैर्यता पूर्वक सहन करे और कृत-संकल्प से विचलित न हो।

(१२)

पिय मप्पियं कस्सइ णो करेज्जा।

सू०, १०, ७

टीका—किसी का भी रागवशात् प्रिय न करे और द्वेष वशात् अप्रिय भी न करे। प्रेम-भाव और बन्धुत्व भावना तो अवश्य रक्खे, परन्तु रागद्वेष जनित प्रियता और अप्रियता से दूर रहे।

(१३)

लेसं समाहट्टु परिवएज्जा।

सू०, १०, १५

टीका—योग और कषाय की मिश्रित भावना को लेश्या कहते हैं। ऐसी लेश्या से आत्मा को दूर कर संयम की परिपालना करे। मन और इन्द्रियों को समाधि युक्त बनावे।

(१४)

मेहावि समिक्ख धम्मं,
दूरेण पावं परिवज्जएज्जा।

सू०, १०, २०

टीका—बुद्धिमान् पुरुष और हितार्थी पुरुष, धर्म की मीमांसा कर-समीक्षा कर, हित-अहित की पहिचान कर, विवेक-अविवेक का ध्यान कर पाप-कार्य को छोड़ दे। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, आसक्ति, परिग्रह, आदिको दूर कर दे। इनका परित्याग कर दे।

(१५)

पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा।

सू०, १०, २१

टीका—पाप से, कषाय-विकार से, भोगों से, दुष्वृत्तियों की वासना से, कल्याण-इच्छुक पुरुष अपने आप को दूर ही रक्खे। अनिष्ट वृत्तियों से परहेज़ ही करता रहे।

(१६)

धितिमं विमुक्केण य पूयणट्ठी,
न सिलोयगामी य परिव्वएज्जा।

सू०, १०, २३

टीका—जो आत्महितैषी है, जो संयमी है; वह धैर्य शील रहे। आपत्तियों में स्व-कर्त्तव्य और संयम से पतित न हो। वह आरंभ-परिग्रह से विमुक्त रहे। मूर्च्छा और मूढ़-भाव से दूर रहे। मान-सन्मान और पूजा-प्रतिष्ठा की भावना नहीं रखे। यशः-कीर्ति की कामना नहीं करे। शुद्ध कर्त्तव्य मार्ग पर निरन्तर चलता रहे। इधर उधर विचलित न हो।

(१७)

असाहु धम्माणि ण सवएज्जा।

सू०, १४, २०

टीका—जो बातें अनुपयोगी हैं; जो पीड़ा कारक हैं, जो अनिष्ट-कर हैं, या जो मर्मघातक हैं ऐसी असत् बातें कभी भी नहीं कहना चाहिये। न उनका प्रचार ही करना चाहिये। वाणी पर समतोलता संयम आवश्यक है।

(१८)

पयाइं मयाइं विगिंच धीरा।

सू०, १३, १६

टीका—धीर पुरुष; स्व-पर-सेवा व्रती पुरुष, उन कारणों को और उन स्थानों को त्याग दे, जो कि अभिमान को पैदा करने वाले हों अथवा अभिमान को उत्तेजना देने वाले हों। अभिमान त्यागने पर ही विनय की प्राप्ति होती है और विनय ही धर्म का मूल है।

(१९)

विप्पमायं न कुज्जा।

सू०, १४, १

टीका—प्रमाद रूप पाप का कभी भी सेवन नहीं करना चाहिये, क्योंकि प्रमाद एक आंतरिक भयंकर शत्रु है, जो कि जीवन शक्ति को नष्ट करता रहता है और आत्मा को पाप में डूबाता रहता है।

(२०)

जं मयं सव्व साहूणं,
तं मयं सल्लगत्तणं।

सू०, १५, २४

टीका—जो सभी संत-महापुरुषों को मान्य है, जो सभी ऋषियों को आचरणीय हैं, उन्हीं बातों को पाप को काटने वाली माननी चाहिये। महापुरुषों ने दया, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति और निष्परिग्रह को ही धर्म माना है, और इन्हीं का पालन करना ही मोक्ष का मार्ग कहा है इसलिये हमें भी इन्हीं को पाप को काटने वाले समझना चाहिये, तथा जीवन में भी इन्हीं को स्थान देना चाहिये।

(२१)

जं किच्चा णिव्वुडा एगे,
निट्ठं पावंति पंडिया।

सू०, १५, २१

टीका—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक् चारित्र का पालन करके अनेक महापुरुष निर्वाण को प्राप्त करते हैं, संसार का अन्त करते हैं, हमें भी उन्हीं का अनुकरण करना चाहिये।

(२२)

काले कालं समायरे।

द०, ५, ४, उ, द्वि

टीका—काल के अनुसार समय को देखकर यथा-समय यथा-कार्य करे। प्रत्येक को अपना कार्य-क्रम व्यवस्थित विभाजित करते हुए समय पर उसे करना चाहिये। प्रमाद में समय नहीं खोना चाहिये।

(२३)

जरा जाव न पीडेइ,
ताव धम्मं समायरे।

द०, ८, २३

टीका—जब तक वृद्धावस्था दुःख नहीं दे, वृद्धावस्था की प्राप्ति नहीं हो, उसके पहले ही धर्म का आचरण कर लें, नहीं तो पीछे पछताना पड़ेगा।

(२४)

जाव इंदिआ न हायंति
ताव-धम्मं समायरे।

द०, ८, ३६

टीका—जब तक इन्द्रियाँ शक्ति हीन न हों, वहाँ तक यानी इसके पहले ही धर्म का आचारण कर लें। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और सेवा का आचरण कर लें। अन्यथा पूर्व पुण्यों को यहाँ पर क्षय कर और नये पापों का बोझा संग्रह कर जाना पड़ेगा।

(२५)

असंखय जीविय मा पमायए।

उ०, ४, १

टीका—यह जीवन संस्कार-रहित है, यानी दुर्गुणों और विकारों की खान है। अनन्त कालीन वासनाएं इस आत्मा में सन्निहित हैं; इसलिये प्रमाद मत करो सदेव सत्कार्यों और संयम में लगे रहो।

(२६)

पिहिया सवस्स दंतस्स,
पाव कम्मं न बंधइ।

द०, ४, ६

टीका—जिसने आस्रव कर्म के आने के द्वार बंध कर दिये हैं, और जो इन्द्रियों और मन को वश में रखने वाला है, वह पाप कर्म का बन्धन नहीं करता है।

(२७)

संकट्ठाणं विवज्जए।

द०, ५, १५ उ, प्र०

टीका—जहाँ किसी प्रकार की आपत्ति अथवा पाप की आशंका हो, तो ऐंसे शंका-ग्रस्त स्थान से दूर ही रहना चाहिए। वहाँ से हट जाना चाहिये।

(२८)

असंसत्तं पलोइज्जा।

द०, ५, २३, उ, प्र,

टीका—अनासक्त होकर देखना चाहिये, यानी जीवन में भोग-परिभोग वाले पदार्थों के प्रति मोह, आसक्ति और लोलुपता नहीं रखनी चाहिये।

(२९)

मिहो कहाहिं न रमे।

द०, ८, ४२

टीका—एकान्त में, व्यर्थ बातों में समय नष्ट नहीं करना चाहिए, क्योंकि व्यर्थ की बातें निन्दा रूप और पाप जनक ही होती हैं।

(३०)

निद्दं च न बहु मन्निजा ।

द०, ८, ४२

टीका—बहुत निद्रा नहीं लेना चाहिये, क्योंकि यह प्रमाद है। प्रमाद का सेवन करने से वह रोग बढ़ता ही है, घटता नहीं है।

(३१)

दुल्लहे खलु माणुसे भवे ।

उ०, १०, ४

टीका—यह मानव-शरीर अति दुर्लभ है। महान् पुण्यों के संयोग से इसकी प्राप्ति हुई है। इसलिये इसे भोगों में न व्यतीत कर सत्कार्यों में ही लगा रखो।

(३२)

जीवो पमायं बहुलो ।

उ०, १०, १५

टीका—प्रकृति से ही जीव अत्यन्त प्रमादी होता है। आलस्य का सम्बन्ध जीव के साथ अनादि काल से है। इसलिये सावधान होकर सदैव सत्-प्रवृत्तियों में ही लगे रहना चाहिये। आलस्य से बचना चाहिये।

(३३)

मग्गं कुसीलाण जहाय सव्वं ।
महा नियंठाण वए पहेणं ।

उ०, २०, ५१

टीका—कुशीलियों के, मिथ्यात्वियों के, और विषय विकारों के मार्ग को सर्वथा छोड़कर महानिर्ग्रंथों द्वारा और भगवान् महावीर स्वामी द्वारा-प्रदर्शित मार्ग पर जो अनासक्त अविकार मय और अमूर्च्छामय है, उस मार्ग पर चलो। यही एक कल्याण कारी मार्ग है।

(३४)

विद्धंसण धम्म मेव तं इति,
विज्जं कोऽगार मावसे।

सू०, २, १०, उ, २

टीका—संसार का सुख और संसार के पदार्थ नाशवान् हैं, ये अस्थायी हैं, ये अनित्य हैं, ये छोड़कर चले जाने वाले हैं। तो फिर कौन ऐसा विद्वान् पुरुष होगा जो कि इन सांसारिक-सुखों और सांसारिक पुद्गलों में फंसेगा ? यानी बुद्धिमान् तो इनमें आसक्त और मूर्च्छित नहीं होगा।

(३५)

जं हंतव्वं तं नाभिपत्थए।

आ०, ५, १६५; उ, ५

टीका—जो पाप रूप है, जो घात-रूप है, जो त्याज्य रूप है, उस विषय की ज्ञानी इच्छा नहीं करे। उसको तो दूर से ही छोड़ दे।

(३६)

पाव कम्मं नेव कुज्जा न कारवेज्जा।

आ०, २, ९७, उ, ६

टीका—पाप-कर्म, अनिष्ट कर्म, निंदनीय कर्म न तो खुद को करना चाहिये और न दूसरों से करवाना चाहिये। क्योंकि खराब काम इस लोक में और पर लोक में सर्वत्र और सर्वदा हानि पहुँचाने वाले ही होते हैं।

(३७)

अरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।

उ०, ४, १

टीका—जबतक शरीर स्वस्थ है, तबतक धर्म का, पर-सेवा का, संयम का तथा इन्द्रिय-दमन का, आराधन कर लो। अन्यथा बुढ़ापे

के समीप आने पर एवं कर्मो का उदय होने पर कोई भी रक्षक नहीं बनेगा।

(३८)

नाणी नो पमाए कयाइ वि।

आ०, ३, ११७, उ, ३

टीका—ज्ञानी अपनी आत्मा को कभी भी और किसी भी दशा में प्रमाद-ग्रस्त नहीं करे। प्रमाद एक महान् शत्रु है। अतएव सदैव इसका ध्यान रखे।

(३९)

न सिया तोत्त गवेसए।

उ०, १, ४०

टीका—परम छिद्रान्वेषी-पर दोष दर्शक न बनो। पर दोष-दर्शन से आत्म-पतन और वैर-विरोध बढ़ता है।

(४०)

नो निह्णिज्ज वीरियं।

आ०, ५, १५२, उ, ३

टीका—तपस्या आदि निर्जरा के कामों में कपट का सेवन नहीं करना चाहिये। जीवन का प्रत्येक कार्य स्पष्ट और जल-कमलवत् निर्मल और निर्लेप होना चाहिये। जिससे अन्य संसारी जीव भी तत्त्वदर्शी पुरुष के जीवन से शिक्षा और आदर्श ग्रहण कर सकें।

(४१)

भूएहिं न विरुज्झेज्जा।

सू०, १५, ४

टीका—प्राणियों के साथ वैर-भाव नहीं रखना चाहिये। वैर-भाव जीवन में कटुता, अमैत्री, क्लेश और पापों की परम्परा लाने वाला है। वैर-भाव से जीवन में कभी भी शांति मिलने वाली नहीं है।

(४२)

मियं कालेण भक्खए।

उ०, १, ३२

टीका—भोजन करने का समय होने पर, परिमित, पथ्य, अविकारी और आवश्यक भोजन करो।

(४३)

रक्खिज्ज कोहं विणएज्ज माणं।

उ०, ४, १२

टीका—क्रोध से दूर रहो और मान को हटाओ। क्रोध विवेक को नष्ट करता है और मान आत्मा के गुणों का नाश करता है।

(४४)

मायं न सेवेज्ज पहेज्ज लोहं।

उ०, ४, १२

टीका—माया की, कपट की सेवना न करो और लोभ को छोड़ो। माया दुर्गुणों की खान है और लोभ पाप का बाप है।

(४५)

खणं जाणाहि पंडिए।

आ०, २, ७१, उ, १

टीका—हे पंडित! हे आत्मज्ञ! क्षण-क्षण का विचार करो। द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव से प्रत्येक पदार्थ को समझो, उस पर मनन-चिंतन करो। उस तत्व का अनुसंधान करो, जिसके बल पर यह संसार चक्र चल रहा है।

(४६)

आसं च छंदं च विगिंच धीरे।

आ० २, ८५, उ, ४

टीका—हे धीर! हे बुद्धिमान्! भोगों की आकांक्षा को और भोगोंकी प्रवृत्ति को छोड़ दो। भोगों से आज दिन तक न तो किसी को

तृप्ति हुईहै और न होने की है। भोग तो अग्नि के समान अनन्त तृष्णा मय है और कभी भी शांत होने वाले नहीं हैं।

(४७)

पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं,
किं बहिया मित्त मिच्छसि।

आ०, ३, ११८, उ, ३

टीका—हे पुरुषों! तुम ही तुम्हारे मित्र हो, बाह्य- मित्र की वांछा क्यों करते हो! यह तुम्हारी आत्मा ही खुद की मित्र भी है और शत्रु भी है। जब यह आत्मा अच्छे कार्य करती है, तो उससे शुभ कर्मों का बंधन पड़ता है, जो कि सुखावह है। और जब बुरे कार्य करती है तो अशुभ कर्मों का बंध पड़ता है जो कि दुःखावह है। अतएव अपनी आत्मा के बराबर दूसरा कोई भी मित्र अथवा शत्रु नहीं है। तदनुसार बाह्य सहायक का अनुसंधान क्यों करते हो? अपनी आत्मा का ही विचार करो।

(४८)

पुरिसा! अत्तामण मेवं अभिणि गिज्झ,
एवं दुक्खा पमुच्चसि।

आ०, ३, ११९, उ, ३

टीका--हे पुरुषों! अपनी आत्मा को ही विषय-कषाय से हटा कर, धर्म-ध्यान और शुक्ल ध्यान में स्थित कर जीवन-व्यवहार चलाओ। इसी से तुम्हारे दुःखों का नाश होगा। बिना आत्मा पर नियंत्रण किये दुःखों का कदापि नाश नहीं होगा।

(४९)

वंतं इच्छसि आवेउं,
सेयं ते मरणं भवे।

उ०, २२, ४३

टीका—हे आत्मा ! यदि तू जीवित रह कर त्यागे हुए भोगों की पुनः इच्छा करता है, इसकी अपेक्षा तो तुम्हारा मरना ही अधिक हितकर है—अधिक श्रेयस्कर है।

(५०)

एगप्पा अजिए सत्तू,
कसाया इन्दियाणिय।

उ०, २३, ३८

टीका—वशमें नहीं किया हुआ स्वच्छंद आत्मा शत्रु रूप ही है। इसी प्रकार कषाय और नो कषाय तथा स्वच्छंद इन्द्रियाँ भी अथवा अनियंत्रित इन्द्रियाँ और विकार ग्रस्त मन भी शत्रु ही हैं।

(५१)

सव्वे आभरणा भारा,
सव्वे कामा दुहावहा।

उ०, १३, १६

टीका—सब प्रकार के आभूषण भार रूप हैं, और सब प्रकार के काम-भोग दुःख के देने वाले हैं। इन से सच्ची शांति या आत्मिक आनन्द मिलना अत्यन्त कठिन है।

(५२)

खण मित्त सुक्खा बहु काल दुक्खा
पगाम दुक्खा अणिगाम सुक्खा।

उ०, १४, १३

टीका—सांसारिक भोग, ऐन्द्रिक भोग क्षण मात्र तक ही सुख के देने वाले हैं, जब कि इनके परिणाम अनन्त काल तक दुःख के देने वाले हैं। इनका सुख तो अल्प है, और दुःख अनन्त एवं विस्तृत है।

(५३)

वएणं जरा हरइ नरस्स ।

उ०, १३, २६

टीका—बुढ़ापा मनुष्य के रूप-सौन्दर्य को हरता रहता है, इसलिये प्रमाद को छोड़ कर धर्म कार्यों में और स्व-पर कल्याण कारी कामों में चित्त को लगाना चाहिये। स्वार्थ के स्थान पर परार्थ ही प्रमुख ध्येय होना चाहिये।

(५४)

अणुसासिओ न कुप्पिज्जा ।

उ०, १, ९

टीका—सुशिक्षा यानी हितकारी और शिक्षाप्रद बातों का उपदेश दिये जाने पर क्रोध नहीं करना चाहिये।

(५५)

वीरे आगमेण सया परक्कमेज्जा ।

आ०, ५, १६९, उ, ६

टीका—जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र के परिपालन में वीर है, उसकी वीरता इसी में रही हुई है कि वह आगम-धर्म के अनुसार जीवन में सदैव पराक्रम करता रहे। जीवन के नैतिक-धरातल को अजोड़ बनावे। सेवा और संयम के कामों में आसाधारण पुरुष बने।

(५६)

निद्देसं नाइवट्टेज्जा मेहावी ।

आ०, ५, १६९, उ, ६

टीका—जो बुद्धिमान् है, जो तत्त्व दर्शी है, उसका कर्त्तव्य है कि वह भगवान महावीर स्वामी द्वारा एवं वीतराग भगवान द्वारा—

कथित उपदेश का अति-क्रमण नहीं करे। भगवान् की आज्ञा का बराबर पालन करे।

(५७)

पर किरिअं च वज्जए नाणी।

सू०, ४, २१, उ, २

टीका—विशुद्ध चित्त वाला, तथा मर्यादा में स्थित ज्ञानी पुरुष पर-क्रियाओं को यानी दूसरों के लिये भोग-उपभोग की क्रियाओं को जुटाने का कार्य नहीं करे, स्वयं भी विषयासक्त एवं भोगी नहीं बने तथा दूसरों के लिये भी विषय एवं भोग की सामग्री न तो इकट्ठी करे धौर न स्वयं इनके लिये कारण-भूत बने।

(५८)

सेणे जह वट्टयं हरे,
एवं आउखयंमि तुट्टई।

सू०, २, २, उ, १

टीका—जैसे श्येन-पक्षी, बाज-पक्षी वर्तक पक्षी को-तीतर आदि पक्षी को झपट कर, पकड़ कर, मार डालता है, वैसे ही मृत्यु भी आयुष्यपूर्ण होते ही प्राणी को पकड़ लेती है और जीवन को समाप्त कर देती है, इसलिये धर्म क्रियाओं के लिये सावधान हो जाना चाहिये।

(५९)

इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि,
हराहरंति त्ति कहं पमाओ।

उ०, १४, १५,

टीका—यह मेरा है और यह मेरा नहीं है, इस प्रकार मूर्च्छा-भावना में पड़े हुए मनुष्य को एक दिन अचानक रूप से मृत्यु रूपी

ओर उठाकर चले जाते हैं। तो ऐसे संयोगों में प्रमाद को जीवन में कैसे स्थान देना चाहिये ?

(६०)

परिव्वयन्ते अणियत्तकामे,
अहो य राओ परितप्पमाणे।

उ०, १४, १४,

टीका—जो काम-भोगों को नहीं छोड़ता है, वह रात और दिन विभिन्न अवस्थाओं में परिताप-दुःख पाता हुआ परिभ्रमण करता रहता है।

(६१)

अज्जाइं कम्माइं करेहि।

उ०, १३, ३२

टीका—आर्य कर्मों का, सात्विक कामों का यानी दया, दान, शील, तप, भावना, क्षमा, संतोष, पर-सेवा आदि अच्छे कामों का ही आचरण करो।

(६२)

रसगिद्धे न सिया।

उ०, ८, ११

टीका—रसों में गृद्ध न बनो! इन्द्रियों के भोग-उपभोग के स्वाद में मूर्च्छित न बनो। पुद्गलों के क्षणिक सुख में मूढ़ न बनो।

(६३)

जीवियए बहुपच्चवायए,
विहुणाहि रयं पुरे कडं।

उ०, १०, ३

टीका—यह जीवन अनेक विघ्न-बाधाओं से भरा हुआ है, इसलिये पहले किये हुए पापों को, और कर्म रूपी रज को दूर कर दो। पूर्व कृत पापों की शुद्धि कर डालो।

(६४)

बुद्धे परिनिव्वुडे चरे,
सन्ती मग्गं च बूहए।

उ०, १०, ३६

टीका—ज्ञान-शाली होकर, गीतार्थ होकर, वासनाओं से और मूर्च्छा से रहित होकर आनन्द पूर्वक विचरो। आत्मा के कल्याण-मार्ग की वृद्धि करो।

(६५)

जे न वंदे न से कुप्पे,
वंदिओ न समुक्कसे।

द०, ५, ३२, उ, द्वि

टीका—कोई वंदना नहीं करे, आदर-सत्कार नहीं दे, तो भी उस पर क्रोध नहीं करे, तथा कोई वंदना, आदर सत्कार करे, तो मन में अभिमान-घमंड नहीं लावे। खुद की निंदा-स्तुति से सम-भाव रहे। क्रोध और अभिमान से दूर रहे।

(६६)

कुम्मुव्व अल्लीण पलीण गुत्तो।

द०, ८, ४१

टीका—जैसे कछुआ बड़ी सावधानी के साथ अपनी इन्द्रियों की रक्षा करता है, वैसे ही आत्मा के हित को चाहने वाले को अपनी इन्द्रियों पर और मन पर पूरा संयम और नियंत्रण रखना चाहिये।

(६७)

हसंतो नाभिगच्छेज्जा ।

द०, ५, १४, उ, प्र

टीका—हंसते हुए भी नहीं चलना चाहिये, क्योंकि यह असभ्यता का चिह्न माना जाता है।

(६८)

दव दवस्स न गच्छेज्जा ।

द०, ५, १४, उ, प्र

टीका—जल्दी जल्दी अविवेक-पूर्वक नहीं चलना चाहिये। क्योंकि इससे हिंसा अथवा ठोकर लगने का भय रहता है।

(६९)

अकप्पियं न गिण्हिज्जा ।

द०, ५, २७, उ, प्र

टीका—अकल्पनीय और मर्यादा के प्रतिकूल वस्तुओं को नहीं ग्रहण करना चाहिये। मर्यादा-भंग ही पाप है : इससे आसक्ति आदि नाना विकारों के उत्पन्न हो जाने की संभावना रहती है।

(७०)

कुज्जा साहूहिं संथवं ।

द०; ८ ,५३

टीका—साधुओं के साथ, सज्जन और पर-उपकारी महा पुरुषों के साथ, सेवा-भावी नर-रत्नों के साथ परिचय करना चाहिये, उनकी संगति करना चाहिये।

(७१)

अणाबाह सुहाभिकंखी

गुरूप्पसायाभिमुहो रमिज्जा ।

द०, ९, १० प्र, उ,

टीका—यदि अव्याबाध यानी नित्य, शाश्वत् और बाधा रहित सुख की आकांक्षा है, अथवा मोक्ष की इच्छा है तो गुरु को प्रसन्न रक्खो, उनकी आज्ञा का पालन करो। गुरु की भावना के विपरीत मत जाओ।

(७२)

दुल्लहं लहित्तु सामण्णं,
कम्मुणा न विराहिज्जासि।

द०, ४, २९

टीका—जो मुनी-धर्म महान् पुण्य के उदय से प्राप्त हुआ है, और जो ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र मय है, ऐसे उत्कृष्ट मुनि-धर्म को प्राप्त करके मन, वचन और काया के प्रमाद से बुद्धिमान् इसकी विराधना नहीं करे।

(७३)

अभिंसधए पावविवेग भिक्खू।

सू०; १४; २४,

टीका—संयमी पुरुष पाप का विवेक रखता हुआ, दुर्गुण और दुष्टता से बचता हुआ, निर्दोष वचन बोले। वाणी सुन्दर, सत्य, प्रिय, हितकारी, मधुर और शांतिमय बोले।

(७४)

सव्वत्थ विरतिं कुज्जा।

सू०, ११, ११,

टीका—प्रत्येक स्थान पर, प्रत्येक अवस्था में, प्रत्येक मौके पर, सभी जीवों की रक्षा करनी चाहिये। अनिष्ट कार्यों से विरति रखना चाहिये। अशुभ प्रवृत्तियों से विरक्त रहना चाहिये।

(७५)

निव्वाणं संधए मुणि।

सू०, ९, ३६

टीका—आत्मार्थी पुरुष काम-भोगों को छोड़ कर केवल निर्वाण की तरफ-पूर्ण अनासक्त जीवन की तरफ ही अपनी शक्ति लगावे, अपना ध्यान लगावे।

(७६)

समया सव्व भूएसु,
सत्तु मित्तेसु वा जगे।

उ०, १९, २६

टीका—संसार में शत्रु पर और मित्र पर, सभी प्राणियों पर समता बुद्धि रखनी चाहिये। राग द्वेष रहित भावना रखनी चाहिये, मित्र-भावना और हितैषी-भावना रखनी चाहिये।

(७७)

अहिपाएए आय तुले पाणेहिं

सू०, २, १२, उ, ३

टीका—विवेकी पुरुष, प्राणी मात्र को अपनी आत्मा के समान ही समझे। किसी को भी कष्ट न दे। प्राणी मात्र की सेवा करे।

(७८)

अणुसासण मेव पक्कमे।

सू०, २, ११, उ, १

टीका—शास्त्र में कही हुई रीति के अनुसार ही जीवन-व्यवहार चलाना चाहिये। जीवन में सेवा, सात्विकता, त्याग और सरलता आदि सद्‌गुणों की ही प्रधानता होनी चाहिये।

(७९)

छिन्न सोए अममे अकिंचणे।

उ०, २१, २१,

टीका—आत्मार्थी को छिन्न शोक, विगत शोक, ममता-मूर्च्छा रहित, अकिंचन यानी अनासक्त और निष्परिग्रही होना चाहिये।

(८०)

सुयस्स आराहणयाए अन्नाणं
खवेइ, न य संकिलिस्सइ ।

उ० २९, २४, वां ग

टीका—सूत्र-सिद्धान्त की आराधना से, भगवान जिनेन्द्र देव की वाणी की परिपालना करने से अज्ञान दूर होता है, और उससे आत्मा किसी भी स्थान पर संक्लेश यानी दुःख नहीं पाता है । हर स्थान पर आनंद ही आनंद की प्राप्ति होती है ।

(८१)

रयाइं खेवेज्ज पुराकडाइं ।

उ०, २१, १८

टीका—पूर्व कृत पापों को निरन्तर क्षय करते रहना चाहिये । हमारी प्रवृत्तियाँ निरन्तर सात्विक और सेवामय ही होना चाहिये ।

(८२)

अप्पाण रक्खी चरे अप्पमत्तो ।

उ०, ४, १०

टीका—आत्मा की जन्म-मरण से, संसार से रक्षा करने वाला मोक्षाभिलाषी तथा आत्मार्थी, अप्रमादी होकर इन्द्रियों और मन को अशुभ-योग से एवं कषाय से हटाकर, अपनी वृत्तियों को शुभ-योग और श्रेष्ठ-ध्यान में लगाता हुआ अपना काल-क्षेप करे-समय इस प्रकार बितावे ।

(८३)

निरासवे संखव वियाण कम्मं,
उवेइ ठाणं विउलुत्तमं धुवे ।

उ०, २०, ५२

टीका—सब प्रकार के आश्रव-कार्यों को दूर कर, कर्मों का पूर्ण रीति से क्षय कर, विस्तीर्ण तथा सर्वोत्तम, और ध्रुव स्थान "मोक्ष" को प्राप्त किया जा सकता है।

(८४)

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते।

उ०, ४, ५

टीका—प्रमादी पुरुष को इस लोक और परलोक में पाप कर्म जनित दुष्फल से धन भी नहीं बचा सकता है, धन भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता है, इसलिये प्रमाद छोड़कर धर्म-ध्यान में अपना समय बिताना चाहिये।

(८५)

सोयं परिण्णाय चरिज्ज दंते।

आ० ३, ८, उ, २

टीका—विषयों में आसक्ति ही संसार का झरना है। ऐसे झरने के स्वरूप को समझ कर और उसे त्याग कर इन्द्रियों और मन का दमन करने वाला संयमी एवं वीर पुरुष संयम-मार्ग पर और कर्त्तव्य मार्ग पर ही चलता रहे। कठिनाइयों, उपसर्गों, परिषहों, विकारों और वासनाओं से घबरावे नहीं, चल-विचल होवे नहीं, बल्कि इन पर विजय प्राप्त करता हुवा इष्ट ध्येय की प्राप्ति के लिये दृढ़ता पूर्वक आगे बढ़ता रहे।

(८६)

पासे समिय दंसणे,
छिन्दे गेहिं सिणेहं च।

उ०, ६, ४

टीका—सम्यक् दर्शनी, आत्मार्थी, संसार की विषमताओं और विचित्रताओं को देखे, इन पर विचार करे, और मूर्च्छा तथा मोह को हटावे, आसक्ति को दूर करे।

(८७)

नो अत्ताणं आसाइज्जा,
नो परं आसाइज्जा।

आ०, ६, १९२, उ, ४

टीका—विचार-शील पुरुष न तो अपनी आत्मा को चिन्ता, शोक, व्याधि, उपाधि, अव्यवस्था, चंचलता और चपलता आदि दुर्गुणो में डाले और न दूसरों की आत्मा को ही इन उपाधियों में डाले। सारांश यह है कि विद्वान् पुरुष न तो स्व को दुःखी करे और न पर को ही दुःखी करे। सभी को शांति पहुंचावे।

(८८)

सातागार वणिहुए,
उवसंते णिहे चरे।

सू०, ८, १८

टीका—ज्ञानी आत्मा, मुमुक्षु आत्मा, सुख-भोग की तृष्णा नहीं करता हुआ, एवं क्रोध आदि को छोड़ कर शान्त होता हुआ माया रहित होकर विचरे।

(८९)

पावाइं मेधावी अज्झप्पेण समाहरे।

सू०, ८, १६

टीका—बुद्धिमान् पुरुष अपने पापों को धर्म ध्यान की भावना द्वारा और शुभ कार्यों द्वारा अलग हटावे। मार्यादा में रहने वाला, भले और बुरे का विचार करने वाला पुरुष पाप रूप अनुष्ठानों को धर्म-ध्यान की भावना द्वारा दूर कर दे।

(९०)

एगत दिट्ठा अपरिग्गहे उ,
बुज्झिज्ज लोयस्स वसं न गच्छे।

सू०, ५, २४, उ, २

टीका—ज्ञानी पुरुष जीवादि तत्त्वों में सम्यक् श्रद्धा रखता हुआ परिग्रह रहित होकर कषायों का स्वरूप जाने और कभी कषायों के वश में न होवे।

ज्ञान के साथ अनासक्ति आवश्यक है और अनासक्ति का आधार अकषायत्व है।

(९१)

अन्तो बहिं विउस्सिज्ज
अज्झत्थं सुद्ध मेसए।

आ० ८, ११, उ, ८

टीका—आंतरिक रूप से शुद्ध होकर यानी क्रोध, मान, माया, लोभ, मद, मोह, मत्सरता आदि आंतरिक दुर्गुणों से दूर होकर, इनसे शुद्धि प्राप्त कर, इसी प्रकार बाह्य रूप से परिग्रह आदि भोग-उपभोग के पदार्थों से रहित होकर, सर्वथा अकिंचन और निष्परिग्रह शील बन कर—आंतरिक और बाह्य रीती से पवित्र होकर आत्मा की शुद्धि की कामना करे। आत्मा को परमात्मा के रूप में विकसित करे। आत्मा के गुणों का अनुसंधान करे। आत्म-शक्तियों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करे।

(९२)

छिंदिज्ज सोयं लहु भूय गामी।

आ०, ३, ७, उ, २

टीका—संसार में जीवन-प्रवाह को चालू करने वाले शोक-संताप को तथा राग-द्वेष भाव को वह आत्मा छोड़ दे, जो कि मोक्ष में शीघ्र जाने की इच्छा रखता हो। शोक-संताप, आर्त्त ध्यान, छोड़ने में ही आत्मा का वास्तविक कल्याण रहा हुआ है।

(९३)

दिट्ठेहिं निव्वेयं गच्छिज्जा।

आ०, ४, १२८, उ, १

टीका—राग-द्वेष की दृष्टि से, रति-अरति की दृष्टि से, आसक्ति और तृष्णा की दृष्टि से विरक्त हो जाओ। आत्मा को पतन की ओर ले जाने वाली भावनाओं से निर्वेद-अवस्था ही सम्यक्त्व की भूमिका है, यही त्याग-भावना का मूल आधार है।

(९४)

अच्चेही अणुसास अप्पं।

सू०, २, ७, उ, ३

टीका—विषय-सेवन से अपनी आत्मा को पृथक् करो और उसे शिक्षा दो। धर्म-मार्ग की ओर प्रेरित करो। संयम में ही शांति है; और असंयम में दुःख ही दुःख है, इस पर अपना दृढ़ विश्वास जमाओ।

श्रमण-भिक्षु-सूत्र

(१)

महुगार समा बुद्धा ।

द०, १, ५

टीका—आत्मार्थी और ज्ञानी महात्मा इस प्रकार जीवन-वृत्ति रखते हैं, जैसे कि मधुकर-भंवरा रखता है। मधुकर अनेकानेक पुष्पों पर जाकर मधु-संचय करता है, परन्तु एक भी पुष्प को पीड़ित नहीं करता है। यही वृत्ति ज्ञानी-साधुओं की भी समझनी चाहिये।

(२)

सम सुह दुक्ख सहे अ जे स भिक्खू ।

द०, १०, ११

टीका—सुख-दुःख दोनों अवस्थाओं में जो समभाव रखता है, राग द्वेष से और हर्ष-शोक से परे रहता है, वही सच्चा साधु है, वही स्व-पर-तारक महापुरुष है।

(३)

रोइअ नाय पुत्त वयणे,
पंचासव संवरे जे स भिक्खू ।

द०, १०, ५

टीका—ज्ञातपुत्र भगवान महावीर स्वामी के वचनों पर विश्वास लाकर, रुचि लाकर, पांच आश्रवों को-१ मिथ्यात्व, २ अव्रत, ३ प्रमाद, ४ कषाय और ५ अशुभ योगों को जो रोकता है और निरन्तर सुमार्ग में ही लगा रहता है, वही भिक्षु है-वही महापुरुष है।

(४)

वंतं नो पडिआयइ जे स भिक्खू ।

द०, १०, १

टीका—त्याग किये हुए विषयों को, कषायों को, इन्द्रियों के भोगों को जो पुरुष पुनः नहीं ग्रहण करता है, वही दृढ़चित्त वाला है। वही वास्तव में भिक्खू या भिक्षु है। वही सच्चा साधु है। वही महापुरुष है।

(५)

जे कम्हि वि न मुच्छिए स भिक्खू ।

उ०, १५, २

टीका—जो पुरुष किसी भी प्रकार की वस्तु में अथवा भोग में, यश-कामना में या पद लोलुपता मे मूर्च्छित नहीं होता है, आसक्त नहीं होता है, वही भिक्षु है, वही आत्मार्थी है और संसार में रहता हुआ भी वही जीवन-मुक्त पुरुष है।

(६)

मण वय कायसु संवुडे स भिक्खू ।

उ०, १५, १२

टीका—जिसने अपने मन, वचन और काया पर भली प्रकार से संयम रूप अंकुश लगा दिया है, जिसने इन्द्रियों और मन पर काबू कर लिया है, वही सच्चा भिक्षु है, वही विदेह महापुरुष है।

(७)

जिइन्दिओ सव्वओ विप्पमुक्के,
अणुक्कसाई स भिक्खू ।

उ०, १५, १६

टीका—जो जितेन्द्रिय है, जो सब प्रकार के परिग्रह से, मोह से और ममता से रहित है, जो अल्प कषायी है, वही वास्तविक साधु है, वही उन्मुक्त महापुरुष है।

(८)

धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू ।

द०, १०, १९

टीका—भिक्षु को चाहिये कि वह अपने समय को धर्म-ध्यान, पठन-पाठन, आत्म-चिन्तन, ईश्वर-आराधन आदि सत्कार्यों में ही लगाये रक्खे। यानी जो पुरुष धर्म-ध्यान में ही रत रहता है, वही वास्तव में भिक्षु है।

(९)

अज्झप्परए सुसमाहिअप्पा जे स भिक्खू ।

द०, १०, १५

टीका—जो रात और दिन आध्यात्मिक विचारों में ही, दार्शनिक विचारों में ही, आत्मा और परमात्मा के अनुसंधान में ही लगा रहता है, तथा अपनी आत्मा को समाधि-युक्त, स्थितप्रज्ञ या निष्काम भावना वाली बनाये रखता है वही भिक्षु है। वही संसार समुद्र के लिये धर्म-जहाज़ है।

(१०)

सव्व संगावगए य जे स भिक्खू

द०, १०, १६

टीका—जो सब प्रकार के संग से परिग्रह से दूर है, जो निर्ग्रन्थ है, जो असक्ति से दूर है, जिसमें कोई भी कामना शेष नहीं है, वही भिक्षु है, वही साधु है। वही पुरुष-पुंगव है।

(११)

अणाइले या अकसाइ भिक्खू ।

सू०, १४, २१

टीका—साधु सदैव निर्मल रहे, चित्त को संयमी रक्खे, चित्त की चंचलता पर काबू रक्खे और लोभ आदि सभी कषायों से दूर रहे।

(१२)

सव्वे अणट्ठे परिवज्जयंते,
अणाउले या अकसाइ भिक्खू ।

सू०, १३, २२,

टीका—सब प्रकार के अनर्थों से बचता हुआ, सब प्रकार के व्यर्थ के कामों को छोड़ता हुआ, आकुलता रहित होकर और कषाय से रहित होकर भिक्षु-आत्मार्थी पुरुष अपना जीवन शांति-पूर्वक व्यतीत करे । सत्कार्य में ही संलग्न रहे ।

(१३)

निग्गंथा धम्म जीविणो ।

द०, ६, ५०

टीका—बाह्य और आभ्यंतर रूप से परिग्रह से रहित, बाह्य परिग्रह-सम्पत्ति-वैभव और आंतरिक परिग्रह कषाय-वासना आदि विकार, इन दोनों से रहित, ऐसे अनासक्त जीवी निर्ग्रंथों का जीवन और इनका प्रत्येक क्षण, प्रत्येक श्वासोश्वास एवं जीवन-क्रियाऐं संवरमय ही हैं, धर्म युक्त ही हैं ।

(१४)

निग्गंथा उज्जु दंसिणो ।

द०, ३, ११

टीका—जो बाह्य और आभ्यंतर परिग्रह से रहित हैं, ऐसे निर्ग्रन्थ ऋजु दर्शी होते हैं । यानी उनके सामने केवल मोक्ष और संयम-मार्ग ही रहता है । निर्ग्रन्थों की वृत्तियाँ इधर उधर भोगों में भटकने वाली और तृष्णामय नहीं होती हैं ।

(१५)

लद्धे विपिट्ठी कुव्वइ से हु चाइ ।

द०, २, ३

टीका—भोग-उपभोग की वस्तुऐं प्राप्त होने पर भी जो वैराग्य पूर्वक उन्हें छोड़ देता है, वही वास्तविक त्यागी कहलाता है।

(१६)

गुणेहिं साहू अगुणेहिं असाहू।

द०, ९, ११ तृ, उ,

टीका—गुणों से ही—सेवा, त्याग, कर्मण्यता और इन्द्रिय विजय से ही साधारण पुरुष भी साधु पुरुष या सत्पुरुष बन जाता है। इसी प्रकार दुर्गुणों से ही—स्वार्थ, आलस्य, इन्द्रिय-भोगों में आसक्ति, दुष्ट विचिंतन और विकथा आदि से पुरुष असाधु, नीच या राक्षस बन जाता है।

(१७)

अहो जिणेहिं असावज्जा,
वित्ती साहूणं देसिया।

द०, ५; ९२, उ, प्र

टीका—रागद्वेष को पूर्ण रीति से जीतने वाले अरिहंतों ने साधुओं के लिये जीवन-व्यवहार की वृत्ति निर्दोष यानी अन्य किसी को भी किसी भी प्रकार से कष्ट नहीं पहुँचाने वाली बतलाई है। तथा जो सर्व हितकारी हो ऐसी उपादेय और परम प्रसन्नता कारक वृत्ति का ही उन्होंने उपदेश दिया है।

(१८)

असंभंतो अमुच्छिओ,
भत्त पाणं गवेसिए।

द०, ५, १, उ, प्र

टीका—चित्त की व्याकुलता, अव्यवस्थितता, पदार्थों के प्रति आसक्ति आदि मानसिक विकारों का सर्वथा परित्याग कर साधु निर्दोष आहार-पानी की गोचरी करे, मधुकरी करे।

(१९)

धम्मारामे चरे भिक्खू ।

उ०, १६, १५

टीका—भिक्षु सदैव धर्म रूपी बगीचे में ही, स्व-पर कल्याण कारी मार्ग में ही विचरता रहे । दान, शील, तप और भावना के सुन्दर उद्यान में ही स्वयं विचरे और दूसरों को भी इसी ओर आकर्षित करता रहे ।

(२०)

दाण भत्ते सणा रया ।

द०, १, ३

टीका —जो वास्तविक साधु हैं, वे निर्दोष आहार–पानी की ही गवेषणा करते हैं। गाय-वृत्ति के समान अथवा भ्रमर की वृत्ति के समान आहार-पानी की वृत्ति को जीवन में स्थान देते हैं ।

(२१)

वालुया कवले चेव,
निरस्साए उ संजमे ।

उ०, १९, ३८

टीका —संयम पालना, नैतिक और आध्यात्मिक नियमों को पालना रेत के कणों के समान कठोर है, निस्वाद और नीरस है। किन्तु भविष्य में इनका परिणाम हितावह है, और कल्याण कारी है.

(२२)

णो निग्गंथेविभूसाणुवादी हविज्जा ।

उ०, १६, ग०, ९

टीका—जो निर्ग्रन्थ है, जो ब्रह्मचारी हैं, जो आत्मार्थी है, उसको शरीर की विभूषा, शरीर का शृंगार नहीं करना चाहिये ।

(२३)

अणुक्कसे अप्पलीणे,
मज्झेण मुणि जावए ।

सू०, १, २, उ, ४

टीका—साधु पुरुष, मुमुक्षु पुरुष, किसी भी प्रकार का मद नहीं करता हुआ, विषय-वासना और विकार में नहीं फंसता हुआ, मध्यस्थ वृत्ति से यानी तटस्थ-वृत्ति से रहे। अनासक्त-वृत्ति से अपना जीवन व्यतीत करता रहे।

(२४)

समयाए समणो होइ,
बम्भचेरेण बम्भणो ।

उ०, २५, ३२

टीका—समभाव रखने वाला ही, राग द्वेष से दूर रहने वाला ही, हर्ष-शोक तथा निंदा-स्तुति से दूर रहने वाला ही श्रमण है-साधु है। और जो ब्रह्मचर्य से युक्त है, वही वास्तव में ब्राह्मण है। आन्तरिक गुणों के अभाव में बाह्य वेश और जाति-कुल कोई अर्थ नहीं रखते हैं।

(२५)

पुढवि समे मुणी हविज्जा ।

द०, १०, १३

टीका—मुनि की वृत्ति पृथ्वी के समान सहन-शील होनी चाहिये। पृथ्वी पर जैसे सब प्रकार की मान-अपमान वाली क्रियाएं की जाती हैं, मल-मूत्र आदि फेंका जाता है, तो भी वह समानरूप से सभी को आश्रय देती है उसी प्रकार विविध दुःख, पीड़ा, अपमान, निंदा, तिरस्कार करने वालों के प्रति भी मुनि मित्र भाव का ही व्यवहार करे।

(२६)

भिक्खू सुसाहुवादी ।

सू०, १३, १३

टीका—संयमी पुरुष का—यानी मोक्ष-मार्ग के पथिक का यह कर्त्तव्य है कि वह मधुर-भाषी हो, स्व-पर के लिये कल्याण-कारी भाषा का बोलने वाला हो, अप्रिय, कठोर, मर्म-घाती आदि दुर्गुणों वाली भाषा का वह परित्याग कर दे ।

(२७)

विवित्त वासो मुणिणं पसत्थो ।

उ०, ३२, १६

टीका—विविक्त-वास, अर्थात् एकान्त-निर्जन-वास ही मुनियों के लिये और आत्मार्थियों के लिये प्रशंसनीय है, हितकर है, समाधि-कर है और स्वास्थ्यकर है ।

(२८)

अन्नस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे ।

सू० १३, १७

टीका— स्वादिष्ट आहार-पानी में आसक्त नहीं होना चाहिये । योग्य पदार्थों के प्रति मूर्च्छा भाव नही रखना चाहिये । आसक्ति भाव ही अथवा मूर्च्छा भाव ही पतन का सीधा मार्ग है । एक बार पतन का प्रारम्भ होते ही पतन की परम्परा चालू हो जाती है । कहा भी है कि:—"विवेक भ्रष्टानाम् भवति विनिपातः शतमुखः ।"

(२९)

चरे मुणी सव्वउ विप्पमुक्के ।

सू०, १०, ९

टीका—सब प्रकार के मानसिक, वाचिक, शारीरिक और पौद्‌ग-लिक परिग्रहों से रहित होकर तथा अनासक्त होकर, इसी प्रकार अनर्थों से रहित होकर, मुनि या आत्मार्थी पुरुष पूर्ण शांति के साथ अपना जीवन काल व्यतीत करे ।

(३०)

उच्चावएसु विसएसु ताई,
निस्संसयं भिक्खू समाहिपत्ते ।

सू०, १०, १३

टीका—नाना प्रकार के विषयों में राग-द्वेष रहित होकर यानी विषयों से सर्वथा मुंह मोड़कर, जो अहिंसा का पूरी तरह से पालन करता है, निस्संदेह ऐसा पुरुष-साधु है, वह महात्मा है, और वह स्थायी समाधि को प्राप्त करता है ।

(३१)

चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के ।

सू०, १०, ४

टीका—बाहिर और भीतर सभी बंधनों से मुक्त होकर, कषाय से परिमुक्त होकर, योगों से जितेन्द्रिय होकर, पक्षी के समान अनासक्त होकर, मुमुक्षु आत्मा स्वतन्त्र रूप से विचरता रहे । मुक्त-भाव से विहार करता रहे ।

(३२)

सदा जए दंते, निव्वाणं संधए मुणी ।

सू०, ११, २२

टीका—संसार के दुःखों से छुटकारा पाने की इच्छा वाला पुरुष सदा प्रयत्नशील रहता हुआ जितेन्द्रिय रहे। सतत् सुकर्मण्यशील रहे। आत्मा के गुणों का विकास करने के लिये जितेन्द्रियता सर्व-प्रथम सीढ़ी है । जितेन्द्रियता के अभाव में आत्मा के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता है ।

(३३)

दुक्करं तारुण्णे समणत्तणं ।

उ०, १९, ४०

टीका—यौवन अवस्था में ब्रह्मचर्य पूर्वक साधु-धर्म पालना अत्यन्त कठिन है । साधु-धर्म की पालना के प्रति अत्यन्त जागरूकता की आवश्यकता है ।

(३४)

नातिवेलं हसे मुणी ।

सू०, ९, २९

टीका—साधु मर्यादा को छोड़कर नहीं हँसे । मर्यादा का उल्लं-घन करते हुए हँसना साधु और श्रावक दोनों के लिये सभी दृष्टियों से हानिकर है, अवांछनीय है ।

(३५)

अकुसीले सया भिक्खू,
णेव संसग्गियं भए ।

सू०, ९, २८

टीका—साधु स्वयं कुशील न बने, विपरीत मार्ग गामी न हो । किन्तु सदैव सच्चारित्र शील होकर वीतराग देव द्वारा कथित अहिंसा दया-मार्ग पर और सेवा-मार्ग पर ही चलता रहे । पूर्ण ब्रह्मचारी रहे। कुशील यानी दुराचारियों की संगति भी नहीं करे । संगतिका जीवन पर बहुत बड़ा असर हुआ करता है । अतएव सदैव सुशील पुरुषों की ही संगति करनी चाहिये ।

(३६)

सुद्धे सिया जाए न दूसएज्जा ।

सू०, १०, २३

टीका—निर्दोष आहार मिल जाने के बाद साधु आहार के स्वादिष्ट अथवा अस्वादिष्ट होने पर राग-द्वेष करके उसको अशुद्ध नहीं बनावे । भावना द्वारा सदोष न कर दे । यानी स्वादिष्ट आहार के प्रति राग-भाव, मूर्च्छा-भाव नहीं लावे । इसी प्रकार नीरस आहार

के प्रति द्वेष-भाव या घृणा-भाव नहीं लावे। सर्प-बिल प्रवेश-न्याय के समान तटस्थ भाव से आहार-पानीको गले से उतार दे।

(३७)

वियागरेज्जा समयासुपन्ने।

सू०, १४, २२

टीका--उत्तम बुद्धि संपन्न साधु धनवान और दरिद्र सबको समान भाव से ही धर्मोपदेश देवे। धर्म कथा कहते समय साधु धन-वान के प्रति अधिक ध्यान न दे और गरीब के प्रति कम ध्यान नहीं दे, किन्तु सबके प्रति समान भावना के साथ उपदेश दे।

(३८)

ण कत्थई भास विहिंसइज्जा।

सू०, १४, २३

टीका—जो श्रोता उपदेश को ठीक रीति से नहीं समझता है, उसके मनको साधु अनादर के साथ कोई बात कहकर नहीं दुःखावे, तथा कोई श्रोता प्रश्न करे, तो उसकी बात की निन्दा भी नहीं करे, व्याख्याता हर सयय गंभीरता का, प्रियता का, सौष्ठव का और भाषा सौम्य का ध्यान रखे।

(३९)

णो तुच्छए णो य विकंथइज्जा।

सू०, १४, २१

टीका--ज्ञानी पुरुष पूजा-सत्कार को पाकर मान नहीं करे तथा अपनी प्रशंसा भी नहीं करे। आत्मश्लाघा से दूर रहे। पूजा-सत्कार भी एक प्रकार का अनुकूल परिषह है। महा कल्याण के पथिक को इस पर भी विजय प्राप्त करना चाहिये।

(४०)

निद्दं च भिक्खू न पमाय कुज्जा।

सू०, १४, ६

टीका—अनंत शांति का इच्छुक भिक्षु अत्यधिक निद्रा और प्रमाद का सेवन नहीं करे, बल्कि शास्त्र में निर्दिष्ट निद्रा से ज्यादा निद्रा नहीं लेवे।

(४१)

अलोल भिक्खू न रसेसु गिज्झे।

द०, १०, १७

टीका—साधु-मर्यादा ग्रहण करके भिक्षु इन्द्रिय लोलुपता न रखे, इन्द्रियों के रसों में गृद्ध न बने। भोगी और इन्द्रिय-लम्पट न हो। किन्तु रूखे-सूखे, नीरस और निस्वाद भोजन में ही संतोष रखे।

(४२)

सामण्णं दुच्चरं।

उ०, १९, २५

टीका—श्रमण-धर्म का पालना, साधु-वृत्ति का पालना, पांचों महाव्रतों की निर्दोष रूप से परिपालना करना अत्यंत कठिन है, तलवार की धार पर चलने के समान है। बल हीन आत्मा इस प्रशस्त और कल्याण कारी मार्ग पर नहीं चल सकता है।

(४३)

मुणी ण मज्जई।

सू०, २, २, उ, २

टीका—सच्चा मुनि-महात्मा वही है, जो कि अहंकार नहीं करता है, अभिमान नहीं करता है, बल्कि विनय, नम्रता, सरलता को ही जीवन का आधार बनाता है।

(४४)

निम्ममो निरहंकारो,
चरे भिक्खू जिणाहियं।

सू०, ९, ६

टीका—भिक्षु ममता रहित हो, आसक्ति रहित हो, अभिमान

रहित हो, यानी विनय शील हो, ऐसे गुणों से युक्त होकर जिनेन्द्र-भगवान द्वारा कथित धर्म में शांति पूर्वक जीवन व्यतीत करता रहे।

(४५)

चिच्चाण णंतगं सोयं,
निरवेक्खो परिव्वए।

सू०, ९, ७

टीका—आंतरिक शोक को, ताप को, आसक्ति को त्याग कर निरपेक्ष होकर, तृष्णा रहित होकर, मुमुक्षु या परमार्थी पुरुष अपना जीवन-काल व्यतीत करता रहे। सेवा की साधना में संलग्न रहे।

(४६)

जो धोवती लूसयती व वत्थं,
अहाहु से णाग णियस्स दूरे।

सू०, ७, २१

टीका—जो मुनि होकर, त्यागी होकर, शृंगार- भावना से वस्त्र को धोता है, अथवा शोभा की दृष्टि से बड़े वस्त्र को छोटा करता है, या छोटे को बड़ा करता है तो वह संयम से दूर है, ऐसा तीर्थंकरों ने तथा गणधरों ने कहा है।

(४७)

अभयंकरे भिक्खु अणाविलप्पा।

सू०, ७, २८

टीका—मुनि का यही धर्म है कि वह प्राणियों को अभय देने वाला हो, तथा विषय-कषाय से रहित हो। स्वस्थ चित्त वाला होकर अच्छी रीति से संयम को परिपालना करे।

(४८)

भारस्स जाता मुणि भुंजएज्जा।

सू०, ७, २९

टीका—मुनि अथवा निस्पृह त्यागी स्वाद के लिये और शरीर को बलिष्ठ बनाने की भावना से भोजन नहीं करे, बल्कि संयमरूपी यात्रा के लिये और पांच महाव्रत की रक्षा के लिये अनासक्त होकर भोजन करे।

(४९)

दुक्खेण पुट्ठे धुय माइएज्जा ।

सू०, ७, २९

टीका—दुःख का स्पर्श होने पर, कठिनाइयों के आने पर, परिषहों और उपसर्गों के उपस्थित होने पर, साधु विचलित न हो, परन्तु दृढ़ता के साथ, संयम पर स्थित रहें और मोक्ष का ही ध्यान रखें।

(५०)

अणगारे पच्चक्खाय पावए ।

सू०, ८, १४

टीका—साधु या त्यागी महात्मा, पाप कर्मों का-अशुभ मानसिक, वाचिक और कायिक कर्मों का त्याग करके, भोगों को और कषायों को दूर करके निर्मल आत्मा वाला होवे। कषाय यानी क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग करने पर ही मुनि धर्म और त्याग-अवस्था कायम रह सकती है।

(५१)

भिक्खुवत्ती सुहावहा ।

उ०, ३५, १५

टीका—मानव-जीवन प्राप्त करके, सभी सांसारिक सम्बन्धों को त्याग करके, निश्चितता पूर्वक भिक्षा वृत्ति से जीवन चलाना वास्तव में महान् आनन्द दायक है। अनासक्ति के साथ जीवन-व्यवहार को चलाने के लिये भिक्षा वृत्ति निस्संदेह सुख को लाने वाली है।

(५२)

अणगार चरित्त धम्मे दुविहे,
सराग संजमे चेव, वीयराग संजमे चेव ।

ठाणा, २, रा, ठा, उ, १, २५

टीका--अणगार चारित्र अथवा साधु धर्म भी दो प्रकार का है:--१ सराग संयम और २ वीतराग संयम ।

सराग संयम में शरीर, धार्मिक-उपकरण, यश कीर्ति, सन्मान आदि के प्रति ममत्व-भाव रहता है, जब कि वीतराग सयम में ममता, आसक्ति आदि का सर्वथा लोप हो जाता है ।

(५३)

मुणी मोणं समायाय,
धुणे कम्म सरीरगं ।

आ०, २, १००, उ, ६

टीका--आत्मार्थी मुनि मौन को ग्रहण कर, अपनी वृत्तियों को नियंत्रित कर, सात्विक-मार्ग पर उन्हें संयोजित कर, अपने पूर्व संचित कर्मों का और, मानसिक अशुभ संस्कारों का, तथा अनिष्ट वासनाओं का क्षय करता रहता है । अथवा इन्हें क्षय करे ।

(५४)

चत्तारि आयरिया, आमलग महुरफल समाणे,
मुद्दिया महुर फल समाणे खीर महुर फल समाणे,
खंड महुरफल समाणे ।

ठाणा०, ४ था, ठा०, उ, ३, १३

टीका—आचार्य चार प्रकार के होते हैं--१-आंवले के रस के समान शब्द-प्रयोग में उपालंभ आदि रूप खटास-मिटास-पद्धति का प्रयोग

करते हुए हित शिक्षा देने वाले गुरु । २ द्राक्ष के समान अधिक मधुर वचनों का प्रयोग करते हुए और उपालंभ रूप शब्दों का अति सूक्ष्म ही प्रयोग करने वाले शिक्षा-दाता गुरु देव दूसरे प्रकार के आचार्य हैं। ३ क्षीर के समान अति मधुर शब्दों का प्रयोग करके हित-शिक्षा देने वाले गुरु तीसरे प्रकार के हैं। ४ शक्कर के समान सर्वथा मधुर-मधुर शब्दों का प्रयोग करते हुए ही हित-शिक्षा देने वाले आचार्य चौथे प्रकार के गुरु देव हैं।

महापुरुष-सूत्र

(१)

सड्ढी आणाए मेहावी।

आ०, ३, १२५, उ, ४

टीका—जो भगवान की आज्ञा में–वीतराग के आदेश में विश्वास करता है, ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रति आस्था रखता है, वही मेधावी है। वही तत्वदर्शी महापुरुष है।

(२)

विणियट्टंति भोगेसु,
जहा से पुरिसुत्तमो।

द०, २, ११

टीका—जो भोगों से दूर रहते हैं, वे ही वास्तव में पुरुषोत्तम हैं। वे ही श्रेष्ठ और महापुरुष हैं।

(३)

पंडिया पवियक्खणा,
विणियट्टन्ति भोगेसु।

उ०, ९, ६२

टीका—पंडित तथा विचक्षणपुरुष यानी प्रतिभा संपन्न महापुरुष भोगों से निवृत्ति लेते हैं। वे भोगों में कभी भी नहीं फंसते हैं।

(४)

बुद्धो भोगे परिच्चयई।

उ०, ९, ३

टीका—बुद्धिमान् पुरुष, विवेकी पुरुष ही भोगों को छोड़ता है।

मूर्ख तो भोगों में फंस जाता है और अंत में जाल में फंसी हुई मछली के समान दुःख पाता है।

(५)

मेधाविणो लोभ मयावतीता।

सू०, १२, १५

टीका—बुद्धिमान् पुरुष लोभ से दूर रहते हैं। ज्ञानी तृष्णा के जाल में नहीं फंसते हैं। और इस प्रकार अपनी वीतराग भावना की वृद्धि करते रहते हैं।

(६)

अंताणि धीरा सेवंति,
तेण अंतकरा इह ।

सू०, १५, १५

टीका—महापुरुष विषय और कषाय का अन्त कर देते हैं, इसलिये वे संसार का भी अंत कर देते हैं, जहाँ विषय और कषाय हैं, वहीं संसार है; और जहां ये नहीं हैं, वहीं अमर शान्ति है।

(७)

से हु चक्खू मणुस्साणं,
जे कंखाए य अंतए।

सू०, १५, १४

टीका—जिस पुरुष को भोग की तृष्णा नहीं है, वही पुरुष सब मनुष्यों को नेत्र के समान उत्तम मार्ग दिखाने वाला है।

(८)

जिइंदिए जो सहइ, स पुज्जो ।

द०, ९, ८, तृ, उ,

टीका—जितेन्द्रिय होकर, स्थित प्रज्ञ होकर, कर्म योगी होकर जो दूसरों के द्वारा बोले हुए दुष्ट और अनिष्ठ वचनों को भी अकारण सहता है, तथा सत्कार्य में संलग्न रहता है, वही पूजनीय है।

(९)

चउक्कसायावगए स पुज्जो ।

द०, ९, १४, तृ, उ,

टीका---जो पुरुष चारों कषायों से--क्रोध, मान, माया और लोभ से रहित है, वही कर्म योगी है । और वही पुरुष पूजनीय है ।

(१०)

संतोस पाहन्न रए स पुज्जो ।

द०, ९, ५ तृ, उ

टीका---जो उपलब्ध यानी प्राप्त सामग्री में ही संतोष कर लेता है, और इच्छा तृष्णा को नहीं बढ़ाता है, पर-धन को धूल के समान और पर-वनिता को माता-बहिन के समान समझता है, वही पूजनीय है ।

(११)

अणासए जो उ सहिज्ज, कंटए स पुज्जो ।

द०, ९, ६, तृ, उ,

टीका---बिना किसी आशा-तृष्णा के, एवं निष्काम भाव से जो संकट सहता रहता है, और स्व-पर-कल्याण में रत रहता है, वही पूजनीय है ।

(१२)

जो राग दोसेहिं समो स पुज्जो ।

द०, ९, ११, तृ, उ,

टीका---जो पुरुष निन्दा स्तुति में, मान-अपमान में, इष्ट-अनिष्ट के संयोग-वियोग में समान भावना रखता है, तथा हर्ष शोक से दूर रहता है, वही पूजनीय है ।

(१३)

गुरुं तु नासाययई स पुज्जो ।

द०, ९, २, तृ, उ,

टीका—जो अपने गुरु की यानी अपनी से ज्ञान-वृद्ध की, आयु वृद्ध की, चारित्र वृद्ध की, गुण वृद्ध की आशातना नहीं करता है, अविनय नहीं करता है, अभक्ति नहीं करता है, दुर्भावना नहीं करता है । वही पूज्य है-वही आदर्श है ।

(१४)

सूरा दृढ परक्कमा ।

उ०, १८, ५२

टीका—जो शूरवीर होते हैं, जो प्रबल पुरुष होते हैं, वे ही धर्म मार्ग में और सेवा मार्ग में दृढ़ तथा पराक्रम शील और पुरुषार्थी होते हैं ।

(१५)

परिसह रीऊ दंता धूअ मोहा जिइंदिया ।

द०, ३, १३

टीका—जो परिषह-उपसर्ग रूपी शत्रुओं को जीतने वाले हैं, मोह रूपी पर्वत को भेदने वाले हैं और इन्द्रिय रूपी घोड़ों को वश में करने वाले हैं, वे ही महर्षि हैं ।

(१६)

संजया सुसमाहिया ।

द०, ३, १२

टीका—जो वास्तव में संयमी हैं, वे सदैव इन्द्रियों और मन को ज्ञान-ध्यान और समाधि में ही लगाये रखते हैं ।

(१७)

अवि अप्पणो वि देहंमि,
नायरंति ममाइयं ।

द०, ६, २२

टीका—विवेकी पुरुष, सज्जन पुरुष-धन, वैभव, पुत्र, पत्नी, परिवार, मकान, मोटर, परिग्रह, यशः कीर्ति, सुख और सन्मान में मूर्च्छा, ममता या आसक्ति नहीं रखते हैं, यह तो ठीक है, परन्तु अपने शरीर तक में भी ममत्व-भाव, आसक्ति-भाव नहीं रखते हैं। ऐसे महापुरुष हमारे लिये आदर्श हैं।

(१८)

खवंति अप्पाण ममोह दंसिणो।

द०, ६, ६८

टीका—मोह रहित यानी अनासक्ति के साथ साँसारिक दशाओं को और विषमता को देखने वाले, तत्त्व और अतत्व पर विचार करने वाले, प्रकृति के मूल रहस्य का चिंतन करने वाले, ऐसे तत्त्व दर्शी अपने पूर्व जन्मों में संचित सभी कर्मों का क्षय इस प्रकार कर देते हैं जैसे कि आग घास का कर देती है।

(१९)

महप्पसाया इसिणो हवन्ति।

उ०, १२, ३१

टीका—ऋषिगण और स्व-पर की कल्याण कारी भावना वाले मुनिगण सदा ही प्रसन्न चित्त और निर्लिप्त चित्त वाले होते हैं। ये महात्मा निन्दा और स्तुति, मान और अपमान, पूजा और तिरस्कार, सभी अनुकूल और प्रतिकूल संयोगों के प्रति समभावशील रहते हैं। ये हर्ष-शोक से अतीत होते हैं। ये राग द्वेष से रहित होते हैं।

(२०)

हिरिमं पडिसंलीणे सुविणीए।

उ०, ११, १३,

टीका—जो लज्जा वाला है, जो मर्यादा पूर्वक जीवन-व्यवहार को चलाने वाला है, जो इन्द्रियों को वश में करने वाला है, जो भोगों

के प्रति आसक्ति नहीं रखने वाला है, ऐसा पुरुष ही विनीत है, मोक्ष का अधिकारी है ।

(२१)

पियं न विज्जई किंचि,
अप्पियं पि न विज्जई ।

उ०, ९, १५

टीका—सात्विक विचारों वाले पुरुष के लिये न कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय । उसकी दृष्टि में तो सभी समान हैं । किसी पर भी उसका राग अथवा द्वेष नहीं है, चाहे कोई उसकी निन्दा करे या स्तुति करे ।

(२२)

किरियं चरो अप धीरो ।

उ०, १८, ३३

टीका—धीर पुरुष, आत्मार्थी पुरुष, इन्द्रियों का दमन करने वाला पुरुष सत् क्रिया में रुचि रक्खे, नैतिक और धार्मिक क्रियाओं के प्रति आस्तिकता रक्खे । चरित्र के प्रति दृढ़ श्राद्धावान् हो ।

(२३)

धोरेय सीला तवसा उदारा,
धीरा हु भिक्खारियं चरन्ति ।

उ०, १४, ३५

टीका—तप-प्रधान जीवन वाले तपस्वी और धर्म धुरन्धर धीर पुरुष ही भिक्षा-चर्या और मुनिवृत्ति का अथवा मोक्ष मार्ग का अनुसरण कर सकते हैं । निर्बल पुरुषों में, इन्द्रियों के दास पुरुषों में यह शक्ति नहीं हो सकती है ।

(२४)

धीरा बंध गुम्मुक्का ।

सू०, ३, १५ उ, ४

टीका—वीर पुरुष अर्थात् कठिनाइयाँ आने पर भी कर्त्तव्य-मार्ग से पतित नहीं होने वाले महापुरुष—बंधनों से मुक्त हो जाते हैं। वे संसार से शीघ्रही पार होकर मुक्त हो जाते हैं।

(२५)

सव्वेसु काम जाएसु,
पासमाणो न लिप्पई ताई।

उ०, ८, ४

टीका—आत्मार्थी पुरुष संसार के दुःखों को देखता हुआ और संसार की विषमताओं का विचार करता हुआ काम भोगों में लिप्त नहीं होता है। वह विषयों में मूर्च्छित नहीं होता है।

(२६)

भुंजमाणो य मेहावी,
कम्मणा नोवलिप्पइ।

सू०, १, २८, उ, २

टीका—जिसके अन्तःकरण में राग-द्वेष नहीं है, जो अनासक्त है, जो निर्ममत्व शील है, ऐसा ज्ञानी आतमा शरीर-निर्वाह के लिये विविध रीति से आहार करता हुआ एवं जीवन-व्यवहार चलाता हुआ भी कर्मों से लिप्त नहीं होता है। वह संसार में अधिक जन्म-मरण नहीं करता है।

(२७)

मोहावी अप्पणो गिद्धि मुद्धरे।

सू०, ८, १३

टीका—बुद्धिमान् पुरुष और आत्मार्थी पुरुष अपनी ममत्व बुद्धि को, अपने आसक्ति-भाव को हटादे, इन्हें खतम कर दे और निर्ममत्व होकर, अनासक्त होकर विचरे। यही कल्याण-मार्ग है। यही महा-पुरुषों का पंथ है।

(२८)

एत्थोवरए मेहावी सव्वं,
पावं कम्मं झोसइ ।

आ०, ३, ११३, उ, २

टीका—जो मेधावी पुरुष, जो तत्त्वदर्शी पुरुष भगवान् के वचनों पर स्थित है, भगवान् के वचनों पर श्रद्धा शील है और धर्म-मार्ग पर आरूढ़ है, ऐसा पुरुष अपने सभी पाप-कर्मों का क्षय कर डालता है ।

(२९)

न या वि पूयं गरहं च संजए ।

उ०, २१, १५

टीका—संयमी पुरुष और आत्म-कल्याणी पुरुष, अपनी निंदा-स्तुति, तिरस्कार अथवा पूजा की तरफ चित्त वृत्ति को चंचल नहीं करे । सम तोल चित्त-वृत्ति ही समाधि का प्रमुख लक्षण है ।

(३०)

मेरुव्व वाएण अकम्पमाणो,
परीसहे आयगुत्ते सहिज्जा ।

उ०, २१, १९

टीका—संयम निष्ठ और आत्मार्थी पुरुष सदैव कछुए के समान इन्द्रियों को गोप कर, वायु के वेग से कम्पायमान नहीं होने वाले मेरु पर्वत की तरह दृढ़ रह कर कल्याण-मार्ग में आने वाले परिषहों को-उपसर्गों को और कठिनाइयों को सहन करता रहे ।

(३१)

अणुन्नए नावणए महेसी ।

उ०, २१, २०

टीका—महर्षि और महात्मा पुरुष, न तो हर्ष से अभिमानी हो

और न दुःख से दीन हो। दीनता और हीनता से आत्मार्थी सदैव दूर रहे।

(३२)

सउणी धुणयई लियं रय,
एवं कम्मं खवइ तवस्सिमाहणे।

सू०, २, १५, उ, १

टीका—जैसे पक्षिणी अपने शरीर में लगी हुई धूल को गिरा देती है, उसे झाड़ देती है, उसी तरह से तपस्वी महात्मा भी अपने पूर्व-कृत कर्मों को अपने सत्कार्यों द्वारा झाड़ देते हैं, उन्हें अलग कर देते हैं।

(३३)

चिच्चा वित्त च णायओ,
आरंभं च सुसंवुडे चरे।

सू० २, २२, उ, १

टीका—आत्मार्थी के लिये यही सुन्दर मार्ग है कि धन, ज्ञाति-वर्ग, माता-पिता आदि को और आरंभ-परिग्रह को छोड़ कर उत्तम संयमी बन कर जीवन-व्यवहार चलावे।

(३४)

पूयणा पिट्ठतो कता,
ते ठिया सुसमाहिए।

सू०, ३, १७, उ, ४

टीका—जिन्होंने स्व-पूजा, अपनी यशः कीर्ति, सन्मान आदि की इच्छा का त्याग कर दिया है, वे ही सुसमाधि में स्थित हैं। ऐसे ही पुरुषों की इन्द्रियाँ और मन उनके वश में है।

(३५)

सुव्वते समिते चरे।

सू०, ३, १९, उ, ४

टीका—उत्तम व्रतों वाला, कर्त्तव्य-निष्ठ और इन्द्रियों को वश में रखने वाला पुरुष ही समितियों का और विवेक पूर्वक जीवन-व्यवहार का, सम्यक् प्रकार से परिपालन कर सकता है।

(३६)

जे णिव्वुया पावेहिं कम्मेहिं
अणियाणा ते वियाहिया ।

आ०, ८, १९७, उ, १

टीका—जिन धर्मात्मा पुरुषों ने पाप-कर्म की, अनिष्ट प्रवृत्तियों की, अनैतिक-कामों की निवृत्ति कर ली है, जो सदैव दान, शील, तप और भावना रूप संयम में ही संलग्न हैं, वे अनिदान-यानी अपनी धर्म क्रियाओं का मुंह मांगा फल नहीं चाहने वाले कहे गये हैं। वे शल्य-रहित यानी निर्दोष और पवित्र आत्मा वाले कहे गये हैं। उनकी गणना महापुरुषों में की गई है।

(३७)

णीवारे व ण लीएज्जा,
छिन्न सोए अणाविले ।

सू०, १५, १२

टीका—सुअर आदि प्राणी को आकर्षित करके मृत्यु के स्थान पर पहुँचाने वाले चावल के दाने के समान स्त्री प्रसंग है। अतः स्त्री प्रसंग से दूर रहने में ही जीवन की सार्थकता है। इसी प्रकार विषय-भोग में इन्द्रियों की प्रवृत्ति करना ही संसार में आने के द्वार हैं, इस-लिये जिसने विषय भोग रूप आश्रव द्वार को छेदन कर डाला है, वही राग द्वेष रूप मल से रहित है—वही महापुरुष है।

(३८)

सव्व धम्माणु वत्तिणो
देवेसु उववज्जई ।

उ०, ७, २९

टीका—धर्म क्रियाओं का यानी दया, क्षमा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्म-चर्य, संतोष, अनासक्ति, इन्द्रिय-दमन, कषाय-विजय आदि का आच-रण करने वाला देव गति में या उच्च गति में उत्पन्न होता है।

(३९)

जे य बन्ध पमुक्ख मन्नेसी
कुसले पुणो नो बद्धे नो मुक्के।

आ०, २, १०३, उ, ६

टीका—जो प्रशान्त आत्मा, बन्ध और मोक्ष के कारणों का अन्वे-षण करने वाली है, यानी जो वीतराग भावना के साथ निर्जरा करती हुई आत्म-विकास कर रही है, वह नवीन बंध नहीं करती है और वर्तमान में मुक्त नहीं होने पर भी शीघ्र ही मुक्त हो जाने वाली है।

(४०)

बहुं पि अणुसासिए जे तहच्चा,
समे हु से होइ अझंझपत्ते।

सू०, १३, ७

टीका—भूल होने पर गुरुजनों द्वारा उपालंभ आदि के रूप में शासन करने पर जो पुरुष अपनी चित्त-वृत्ति को शुद्ध और निर्मल रखता है, यानी क्रोध नहीं करता हुआ भूल स्वीकार कर पुनः कर्त्तव्य-मार्ग में आरूढ़ हो जाता है, ऐसा पुरुष ही आध्यात्मिक गुणों को, समता और शांति आदि गुणों को प्राप्त करने का अधिकारी है, ऐसा पुरुष ही शुद्ध अन्तःकरण वाला होने से भव्य आत्मा है।

(४१)

विभज्ज वायं च वियागरेज्जा।

सू०, १४, २२

टीका—पंडित पुरुष स्याद्वाद मय भाषा बोले, एकान्त आग्रह पूर्ण और निश्चयात्मक भाषा नहीं बोले। स्याद्वाद युक्त भाषा लोक-व्यवहार से मिलती हुई और सर्वव्यापी भाषा है। यह निर्दोष भी

है और अक्लेशकर भी है, इसलिये ज्ञानी को स्याद्वाद मय भाषा ही बोलना चाहिये ।

(४२)

कई धीरो अहे अहिं,
उम्मत्तो व महिं चरे ।

उ०, १८, ५२

टीका—धैर्य शाली और विचार शील महापुरुष घर गृहस्थी का, परिग्रह का, सुख का और वैभव का त्याग क्या बिना कारण ही और क्या बिना विचारे ही करते हैं ? पृथ्वी पर उन्मत्त की तरह क्या बिना कारण ही घूमते रहते हैं ? नहीं, उनके विचारों के पीछे ठोस आत्म बल, नैतिक पृष्ठ भूमि और आध्यात्मिक विमल विचारों का आधार होता है । इसलिए साधारण पुरुषों को उनका अनुकरण निश्शंक होकर करना चाहिए ।

(४३)

विगय संगामो भवाओ परिमुच्चए ।

उ०, ९, २१

टीका—जिस आत्माने कर्मों और विकारों के साथ संग्राम कर, उन पर विजय प्राप्त कर ली है, यानी अब संसार में जिस आत्मा का किसी के भी साथ कषाय-रूप संग्राम नहीं रहा है, जो आत्मा विगत कषाय हो गई है, वह संसार-बंधन से शीघ्र ही छूट जाती है ।

(४४)

[illegible]

सू०, ११, २४

टीका—अपनी आत्मा को पाप से बचाने वाला, सदा जितेन्द्रिय होकर रहने वाला, संसार की मिथ्यात्व पूर्ण शोक आदि धारा को तोड़ने वाला तथा आश्रव रहित, ऐसा सत्पुरुष ही संसार का सन्मार्ग दर्शक है। वही स्व और पर के कल्याण का उत्कृष्ट साधक है।

(४५)

पंतं लूहं सेवंति वीरा समत्त दंसिणो ।

आ०, २, १००, उ, ६

टीका—सम्यक्त्व दर्शी आत्माएं ही-यानी राग द्वेष रहित वीर आत्माएँ ही काम-वासनाओं और विकारों पर विजय प्राप्त करने के लिये नीरस तथा स्वाद रहित आहार करती हैं, वे रूखा सूखा आहार करके आत्म बल और चारित्र बल का विकास करती हैं तथा ज्ञान बल से सभी प्रकार की काम-वासनाओं को खत्म कर देती हैं।

(४६)

जे गरहिया सणियाणप्पओगा,
ण ताणि सेवंति सुधीर धम्मा ।

सू०, १३, १९

टीका—जो काम निंदनीय हैं, अथवा जो सत् क्रियाएँ फल-विशेष की प्राप्ति की दृष्टि से की जाती हैं, उनको ज्ञानी-पुरुष न तो स्वयं करते हैं, और न करते हुए को अच्छा ही समझते हैं। सज्जन पुरुष तो अनासक्त भाव से और सात्विक-रीति से अपना जीवन-व्यवहार चलाते हैं और इसी में स्व-पर-का कल्याण समझते हैं।

(४७)

नारइं सहई वीरे,
वीरे न सहई रतिं

आ०, २, ९९, उ, ६

टीका--जो अपनी आत्मा को भोगों से और कषायों से हटाता है, उसे ही वीर महापुरुष कहते हैं। ऐसा वीर महापुरुष न तो रति यानी आसक्ति करता है और न भोगों की तरफ जरा भी आकर्षित होता है। इसलिये ऐसे वीर-पुरुषों में "राग" का धीरे धीरे अभाव हो जाता है। इसी प्रकार किसी भी वस्तु के प्रति उनकी घृणा नहीं होती है, इस कारण से उनकी भावना तटस्थ हो जाती है, इसलिये उन में "द्वेष" का भी धीरे धीरे अभाव हो जाता है, तदनुसार वीर-आत्माएं "वीतराग" बनती चली जाती हैं। इस तरह पूर्ण विकास की ओर प्रगति करती जाती हैं।

(४८)

जे अणन्न दंसी से अणण्णारामे,
जे अणण्णारामे से अणन्न दंसी।

आ०, २, १०२, उ, ६

टीका—जो आत्माएं अनन्य दर्शी हैं, यानी अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य और अनासक्ति आदि आदर्श सात्विक मार्ग का ही अवलम्बन लेने वाली हैं और जीवन में विपरीत बातों को स्थान नहीं देती हैं, वे निश्चय ही मोक्ष-गामी हैं। और जो मोक्ष गामी हैं, वे उच्च आदर्शों वाली ही हैं। तात्पर्य यह है कि जो अनन्य दर्शी है वह अनन्य आराम वाला यानी मोक्ष वाला है, और जो अनन्य आराम वाला है, वह अनन्य दर्शी है।

(४९)

चत्तारि समणो वासगा,
अद्दागसमाणे, पडागसमाणे,
खाणुसमाणे, खर कंट समाणे।

ठाणा०, ४ था, ठा, उ, ३, २०

टीका— श्रावकों की चार श्रेणियां और भी इस प्रकार हैं :—

(१) जैसा साधुजी कहते हैं, वैसी ही श्रद्धा रखने वाला श्रावक-दर्पण में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब के समान-आदर्श श्रावक है।

(२) साधुजी की प्रसंगोपात्त-विविध देशना सुनकर चंचल बुद्धि का हो जाने वाला श्रावक पताका समान श्रावक है।

(३) अपना हठ कभी भी नहीं छोड़ने वाला श्रावक ठूंठ के समान स्थाणु श्रावक है।

(४) साधुजी द्वारा हित की शिक्षा देने पर भी कठोर और दुष्ट वचन बोलने वाला श्रावक खर-कंटक समान श्रावक है।

★

प्रशस्त-सूत्र

(१)

नो लोगस्सेसणं चरे।

आ०, ४, १२८, उ, १

टीका---लोक-रुचि के अनुसार आचरण मत करो। लोक तो गाड़रिया प्रवाह हैं, लोक तो दो रंगी चाल वाला है। लोक-समूह तो संस्कारों और वातावरण का गुलाम होता है। अतएव जिसमें अपना कल्याण प्रतीत होता हो, अपना स्वतंत्र विकास होता हो उसी मार्ग का अवलंबन लेना चाहिये। लोक-भावना के स्थान पर कर्त्तव्य-भावना प्रधान है।

(२)

बुद्धा धम्मस्स पारगा।

आ०, ८, १८, उ, ८

टीका—जो बुद्ध होते हैं, जो ज्ञानी होते हैं, जो तत्व दर्शी होते हैं, वे ही धर्म और चारित्र का सम्यक् प्रकार से ज्ञान रखने वाले होते हैं। धर्म के गंभीर रहस्य का सूक्ष्म स्वरूप उनसे छिपा हुआ नहीं रह सकता है।

(३)

नाणी नो परिदेवए।

उ०, २, १३

टीका---ज्ञानी कभी विषाद यानी खेद अथवा शोक नहीं करता है। ज्ञानी जानता है कि खेद करना प्रमादजनक है, ज्ञान-नाशक है, निरर्थक है, आर्त्तध्यान है और शक्ति विनाशक है।

(४)

आणाए अभि समेच्चा अकुओभयं ।

आ०, १, २२, उ, ३

टीका—जैसा वीतराग देव ने फरमाया है, उसी के अनुसार जो जानता है, जो श्रद्धा करता है, तदनुसार जो आचरण करता है, तदनुसार जो प्ररूपणा करता है, उसको संसार का भय कैसे हो सकता है ? उसको संसार का मिथ्या-मोह कैसे आकर्षित कर सकता है ? वह पुरुष कैसे कर्त्तव्य-मार्ग से विचलित होकर भोगों में फंस सकता है ?

(५)

सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं ।

आ०, ३, १२४, उ, ४

टीका—जो प्रमादी नहीं है, यानी जो विषय-विकार, वासना, तृष्णा आदि में फंसा हुआ नहीं है, उसको किसी भी तरह से भय, चिन्ता, अशांति, दुःख आदि नहीं उत्पन्न होते हैं । अप्रमादी को किसी भी ओर से भय नहीं है ।

(६)

आवट्ट सोए·संग मभिजाणइ ।

आ०, ३, १०८, उ, १

टीका—जो सम्यक् दर्शी है, वह आवर्त्त यानी जन्म, जरा, मरण आदि रूप संसार को और श्रुति रूप शब्द आदि को तथा काम-गुण रूप विषय की इच्छा को-इन दोनों के सम्बन्ध को भली-भांति जानता है । और ऐसा जानने वाला ही संसार के चक्र से तथा काम-गुणों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है ।

(७)

जिण भक्खरो करिस्सइ
उज्जोयं सव्व लोगम्मि पाणिणं ।

उ०, २३, ७८

टीका—जिनदेव अर्थात् अरिहंत-रूप सूर्य, संपूर्ण संसार में मोहांधकार से आच्छादित जीवों के लिये ज्ञान और चारित्र के प्रकाश को प्रकट करते हैं, इसी प्रकार भविष्य में भी अनन्त अरिहंत होंगे, जो कि इसी रीति से ज्ञान और चारित्र का प्रकाश करते रहेंगे ।

(८)

मुहादाई मुहाजीवि दो वि गच्छंति सुग्गइं ।

द०, ५, १००, उ, प्र

टीका—निःस्वार्थ भाव से लेने वाले, और निःस्वार्थ भाव से ही देने वाले, दोनों ही सुगति को प्राप्त होते हैं । निःस्वार्थ सेवा ही आदर्श व्रत है । निःस्वार्थ सेवा में किसी भी प्रकार की आशा नहीं होती है, कोई आसक्ति या वासना अथवा विकार नहीं होता है । इसीलिये वह उच्च भावना धर्म ध्यान या शुक्ल ध्यान रूप होती हैं ।

(९)

से यं खु मेयं ण पमाय कुज्जा ।

सू०, १४, ९

टीका—"इसमें मेरा ही कल्याण है" ऐसा सोच-विचार कर, आत्मार्थी प्रमाद का सेवन नहीं करे । जो प्रमाद या आलस्य नहीं करेगा, उसी को लाभ होगा । अतएव प्रमाद के स्थान पर कर्मण्यता को ही जीवन में स्थान देना चाहिये ।

(१०)

चरित्त संपन्नयाए,
सेलेसी भावं जणयइ ।

उ०, २९, ६१वाँ ग,

टीका—चारित्र-संपन्नता से जीवन में निर्मल गुण पैदा होते हैं । सात्विक वृत्ति से कर्मण्यता आती है । इस प्रकार शैलेषी भाव उत्पन्न

होते हैं, आत्मा ऊँचे दर्जे के विकास-भाव को प्राप्त होती है। आत्मा अनंत बलशाली और अनंत गुणशाली बनती है।

(११)

सम्मग्गं तु जिणक्खायं,
एस मग्गे हि उत्तमे।

उ०, २३, ६३

टीका—सम्यक् मार्ग और मोक्ष-मार्ग, भगवान् वीतराग प्रभु श्री जिनदेव का बतलाया हुआ ही है। यही मार्ग उत्तम है, यही श्रेष्ठ है, यही कल्याण कारी है और यही मोक्ष का दाता है।

(१२)

अणुत्तरे नाणधरे जसंसी,
ओभासई सूरि एवं अंतलिक्खे।

उ०, २१, २३

टीका—सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने पर आत्मा, सर्वोत्तम और अप्रतिपाती केवलज्ञान का धारक होकर पूर्ण यश को प्राप्त करता हुआ ऐसा शोभा पाता है, जैसा कि आकाश में सूर्य।

(१३)

अप्पमत्तो जए निच्चं।

द०, ८, १६

टीका—प्रमाद पाप का घर है, इसलिये सदैव अप्रमादी रहना चाहिये, कर्मण्यशील रहना चाहिये, यानी सत्कार्य, सेवा में ही लगे रहना चाहिये। अप्रमाद से इन्द्रियों और मन पर नियंत्रण रहता है। इससे कषाय और विकार जीतने में मदद मिलती है। कर्मण्यता जीवन का शृंङ्गार है—भूषण है।

(१४)

अक्कन्त नियाणा खमा,
एसा मे भासिया वई।

उ०, १८, ५३

टीका—कर्म-मल के शोधन में, पाप को हटाने में दुष्वृत्तियों और विकारों को दूर करने में, अत्यंत समर्थ इस वाणी में यह उपदेश श्री वीतराग प्रभु महावीर द्वारा दिया गया है। यानी यह जिनवाणी, यह जैन धर्म, आत्मा में स्थित संपूर्ण दोषों को, वासना को, आसक्ति को, अज्ञान को और अविवेक को, हटाने में पूर्ण रीति से समर्थ है—शक्ति शाली है।

(१५)

भाव विसोहीए,
निव्वाण मभिगच्छइ।

सू०, १, २७, उ, २

टीका—भावों की विशुद्धि से-अनासक्ति और निर्ममत्व भावना से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। भाव-विशुद्धि से कर्म—बन्धन नहीं होता है, और कर्म-बन्धन के अभाव में स्वभाव से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

(१६)

समो निन्दा पसंसासु
तहा माणावमाणओ।

उ०, १९, ९१

टीका—निन्दा और स्तुति में, मान और अपमान में समभाव रखना चाहिए। अनुकूल और प्रतिकूल सभी परिस्थितियों में समता रखने से बुद्धि का समतोलपना रहता है, विवेक बराबर बना रहता है और इससे पथ-भ्रष्ट होने का डर नहीं रहता है।

(१७)

पणाए वीरे महा विहिं
सिद्धिपहं णेआउयं धुवं।

सू०, २, २१, उ, १

टीका—कर्म का भेदन करने में समर्थ महापुरुष उस महान् मार्ग से चलते हैं, जो मोक्ष के पास ले जाने वाला है, जो ध्रुव है और जो सिद्धि मार्ग है।

(१८)

नोऽवि य पूयण पत्थए सिया।

सू०, २, १६, उ, २

टीका—जिसका ध्येय एक मात्र स्व-कल्याण और पर-सेवा ही है, उसको स्व-पूजा—और स्व-अर्चना की भावना से बिल्कुल दूर ही रहना चाहिये।

(१९)

गुरुणो छंदाणुवत्तगा,
विरया तिन्न महोघ माहिय।

सू०, २, ३२, उ, २

टीका—गुरु की-अनासक्त महात्मा की एवं ज्ञान-चारित्र सम्पन्न महापुरुष की आज्ञा में चलकर और विषय-कषाय से तथा वासनाओं से रहित होकर अनेक सरल आत्माओं ने इस महासागर रूप संसार को पार कर लिया है।

(२०)

सासयं परिणिव्वुए।

उ०, ३६, २१

टीका—जो पुरुष वीतरागी होते हैं, जो राग द्वेष से रहित होते हैं, जो आश्रव-भाव से दूर रहते हैं, वे ही शाश्वत् अवस्था को प्राप्त होते हैं, वे ही मुक्ति स्थान को प्राप्त करते हैं।

(२१)

अप्पमत्तो कामेहिं उवरओ पावकम्मेहिं।

आ०, ३, ११०, उ, १

टीका—जो ज्ञानी आत्मा, कामों से, तथा शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श और आसक्ति आदि से अप्रमादी है, यानी इनमें नहीं फंसा हुआ है और ज्ञान, दर्शन, चारित्र को ही अपना एकमात्र लक्ष्य मानता है; वह पाप कर्मों से और नवीन-बन्धन से छूट जाता है। इस प्रकार वह शीघ्र ही निर्वाण अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

(२२)

अणोम दंसी निसण्णो,
पावेहिं कम्मेहिं।

आ०, ३, ११५, उ, २

टीका—जो सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र वाला है, जो संयमी है, वह पाप कर्मों से निवृत्त हुआ जैसा ही है। क्योंकि उसके जीवन का तो प्रत्येक क्षण आत्म-चिंतन में ही जाता है, आत्म मनन में ही जाता है। ऐसी स्थिति में उसके पाप-कर्मों के बन्धने का कारण ही क्या रहा ?

(२३)

अदीणो वित्ति मेसिज्जा।

द०, ५, २८, उ, द्वि

टीका—अदीन होकर यानी अपना गौरव अक्षुण्ण रख कर और आत्मा की अनन्त शक्ति पर विश्वास रखकर जीवन-निर्वाह के योग्य आवश्यक वस्तुओं की खोज करना चाहिये।

(२४)

जय संघ चंद ! निम्मल-
सम्मत्त विसुद्ध जोण्हागा।

नं०, ९

टीका—निर्मल सम्यक्त्व रूपी शुद्ध चाँदनी वाले हे चन्द्र रूप श्रीसंघ ! तुम्हारी जय हो, सदा तुम्हारी विजय हो।

(२५)

संघ पउमस्स भद्दं,

समण गण सहस्स पत्तस्स

नं०, ८

टीका—श्रीसंघ कमल रूप है, जिसके हजारों साधु रूपी सुन्दर आदर्श और गुणकारी पत्र लगे हुए हैं, ऐसा कमल रूप श्रीसंघ हमारे लिये कल्याण कारी हो। ऐसे श्री संघ का सदैव कल्याण ही कल्याण हो।

योग-सूत्र

(१)

पंच निग्गहणा धीरा ।

द०, ३, ११

टीका—जो पाँचों इन्द्रियों का निग्रह करते हैं, विषयों से हटकर सेवा, त्याग, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति आदि सात्विक मार्ग में इन्द्रियों को चलाते हैं, वे ही धीर पुरुष हैं, वे ही आदर्श पुरुष हैं ।

(२)

आय गुत्ते सया वीरे ।

आ०, ३, ११७ उ, ३

टीका—जो वीर होता है, जो महापुरुष होता है, वह सदैव अपने मन, वचन और काया को नियंत्रण में रखता है । मनोगुप्ति, वचन गुप्ति और काया-गुप्ति का वह सदैव सम्यक् रीत्या पालन करता है।

(३)

भावणा जोग सुद्धप्पा,
जलेणावा व आहिया ।

सू०, १५, ५

टीका—उत्तम-भावना के योग से जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, वह पुरुष संसार के स्वभाव को छोड़कर, संसार के मोह को त्याग कर, जल में नाव की तरह संसार-सागर के ऊपर रहता है । जैसे नाव जल में नहीं डूबती है, उसी तरह वह पुरुष भी संसार-सागर में नहीं डूबता । यह सब महिमा उत्तम भावना के साथ शुद्ध योग की है ।

(४)

पच्छा पुरा व चइयव्वे ।
फेण बुब्बुय सन्निभे ।
उ०. १९, १४

टीका—यह शरीर आगे या पीछे छोड़ना ही पड़ेगा, इसकी स्थिति तो जल के फेन-या झाग के बुलबुले के समान है, जो कि अचानक और शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाला है।

अनित्यवाद-सूत्र

(१)

जीवियं चेववि रूव च,
विज्जु संपाय चंचलं।

उ०, १८, १३

टीका—यह जीवन और रूप-सौन्दर्य, भोग और पौद्गलिक सुख, ये सब बिजली के प्रकाश के समान चंचल हैं, क्षणिक हैं। इसलिये भोगों में मूर्च्छित न बनो। वासना और विकार को छोड़ो।

(२)

इमं सरीरं अणिच्चं,
असुइं असुइ संभवं।

उ०, १९, १३

टीका—यह शरीर अनित्य है। न मालूम किस क्षण नष्ट हो जाने वाला है। अशुचि से भरा हुआ है। मल-मूत्र, मांस, हड्डी, खून आदि घृणित पदार्थों से बना हुआ है। इसी प्रकार अशुचिमय कारणों से ही, घृणित और निंदनीय मैथुन से ही, अब्रह्मचर्यमय क्रिया से ही इसकी उत्पत्ति हुई है।

(३)

असासया वासमिणं,
दुक्ख केसाण भायणं

उ०, १९, १३

टीका—जीव और शरीर का सम्बन्ध अशाश्वत् है, अस्थायी है, क्षणभंगुर है, अचानक और शीघ्र टूट जाने वाला है। इसी प्रकार यह शरीर दुःख और क्लेशों का, विपत्ति और रोगों का घर है।

(४)

एगग्ग मणसंनिवेसणा याए,
चित्तनिरोहं करेइ ।

उ०, २९, २५वाँ, ग

टीका—मनको एकाग्र करने से, चित्तको एक ही शुभ विचार पर स्थिर करने से अव्यवस्थित चित्तवृत्ति और अस्थिर चित्तवृत्ति से छुटकारा मिलता है। चित्त की समाधि होती है। और इससे मनोबल बढ़ता है, जिससे कर्मण्यता, निर्भयता तथा कार्यकुशलता आदि सद्गुणों की वृद्धि होती है।

(५)

मणो साहस्सिओ भीमो,
दुट्ठस्सो परिधावई ।

उ०, २३, ५८

टीका—यह मन ही एक प्रकार का बड़ा दुस्साहसिक, भयंकर और दुष्ट घोड़ा है, अनीति मार्ग पर दौड़ने वाला विनाशकारी घोड़ा है। यह रात और दिन सदैव स्वच्छंद होकर विषयों के मार्ग पर दौड़ता रहता है। इस मन रूपी घोड़े पर नियन्त्रण रखना अत्यन्त आवश्यक है।

(६)

मण गुत्तो वय गुत्तो काय गुत्तो,
जिंइदिओ आवज्जीवं दढव्वओ ।

उ०, २२, ४९

टीका—मनको गोपकर, वचन को गोपकर, जितेन्द्रिय होकर, यावत् जीवन तक व्रत में और धर्म मार्ग में दृढ़ रहना चाहिये। धर्म मार्ग से विचलित नहीं होना चाहिये।

(७)

अल्लीण गुत्तो निसिए।

द०, ८, ४५,

टीका—सदैव मन और इन्द्रियों को वश में रखने वाला बने। वचन, मन और काया को उपयोग के साथ मर्यादा में रखने वाला बने। उठने, बैठने आदि की क्रियाएं मर्यादा वाली और विवेक वाली हों।

(८)

गुत्ते जुत्ते सदा जए आय परे।

सू०, २, १५, उ, ३

टीका—मन, वचन और काया को विषय, कषाय और भोग-उपभोग से हटाते हुए सदैव स्व और पर के कल्याण के लिये यत्न करते रहना ही मानवता है।

(९)

आयाग गुत्ते वलया विमुक्के।

सू०, १२, २२

टीका—कर्त्तव्य-निष्ठ पुरुष मन, वचन और काया को अपने वश में रक्खे, इन्हें स्वच्छंद-रीति से नहीं विचरने दे। जीवन में माया-कपट को स्थान नहीं दे। मायाचार स्व-कल्याण और पर-कल्याण का विघातक है। इसलिये कल्याण की भावना वाला योगों पर संयम रखता हुआ अमायावी होकर जीवन व्यतीत करता रहे।

(१०)

अगुत्ते अणाणाए।

आ० १, ४३, उ, ५

टीका—जो मन, वचन और काया पर नियंत्रण नहीं रखता है, इन योगों द्वारा अशुभ प्रवृत्तियों का सेवन करता है, वह भगवान की आज्ञा का आराधक नहीं है, किन्तु विराधक है।

कर्त्तव्य-मार्ग से अर्थात् मानवता के मार्ग से ऐसा पुरुष बहुत दूर है।

(११)

जे इन्दियाणं विसया मणुन्ना,
न तेसु भावं निसिरे कयाइ।

उ०, ३२, २१

टीका--इन्द्रियों के जो विषय, मनोज्ञ, सुन्दर और आकर्षक दिखाई देते हैं, उनमें चित्त को, आंकाक्षा को और आसक्ति को कभी भी प्रस्थापित नहीं करना चाहिये।

(१२)

नाणा रुइं च छन्दं च,
परिवज्जेज्ज संजओ।

उ०, १८, ३०

टीका—नाना रुचि यानी मन की अस्थिरता को, अव्यवस्था को, अनवस्था को और छन्द यानी आसक्ति एवं मूर्च्छा आदि को साधु पुरुष छोड़ दे। मन की अस्थिरता और चित्त की आसक्ति आत्मा की शक्तियों को छिन्न-भिन्न करने वाली हैं। अतएव आत्मार्थी इनका परित्याग कर दे।

(१३)

अमणुन्न समुप्पायं दुक्खमेव।

सू०, १, १०, उ, ३

टीका—अशुभ अनुष्ठान करने से ही-मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्तियों से ही दुःख की उत्पत्ति होती है।

(१४)

सावज्ज जोगं परिवज्जयंतो,
चरिज्ज भिक्खू सुसमाहि इंदिए।

उ०, २१, १३

टीका—सावद्य योग का-यानी पापकारी प्रवृत्तियों का परित्याग करते हुए समाधिस्थ होकर और चित्त वृत्तियों को रोक कर एवं इन्द्रियों का दमन करते हुए भिक्षु विचरे। आत्मार्थी अपना काल-क्षेप करे।

(१५)

सरीर माहु नावत्ति,
जीवो वुच्चइ नाविओ।

उ०, २३, ७३

टीका—यह मानव-शरीर संसार रूप समुद्र को तैरने के लिये नाव के समान है और भव्य आत्मा तैरने वाला नाविक है।

(१६)

न सव्व सव्वत्थ अभिरोयएज्जा।

उ०, २१, १५

टीका—प्रत्येक स्थान पर और प्रत्येक वस्तु के प्रति यानी सर्वत्र और सब वस्तुओं के प्रति मन को नहीं ललचावें। मन को वश में रक्खें।

(१७)

सद्देसु जो गिद्धि मुवेइ तिव्वं
अकालियं पावइ से विणासं।

उ०, ३२, ३७

टीका—जो शब्दों में-यानी रागात्मक गीत-गायनों में तीव्र गृद्धि भाव रखता है, इनमें मूर्च्छा-भावना और मूढ़ भावना रखता है, उसकी अकाल में ही मृत्यु होती है। वह अकाल में ही घोर-दुःख का भागी होता है।

(१८)

रूवेसु जो गिद्धि मुवेइ तिव्वं
अकालियं पावइ से विणासं।

उ० ३२, २४

टीका—जो पुरुष रूप में और स्त्री-सौंदर्य में तीव्र मूर्च्छा रखता है वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। वह घोर दुर्गति का भागी बनता है।

(१९)

गन्धाणुरत्तस्स नरस्स एवं
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।

उ०, ३२, ५८

टीका—गंध रूप घ्राण-इन्द्रिय के भोग में फंसे हुए मनुष्य के लिये कैसे सुख प्राप्त हो सकता है ? कब सुख प्राप्त हो सकता है ? क्योंकि इन्द्रियां तो कभी तृप्त होती ही नहीं हैं, इनकी तृष्णा तो उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाती हैं।

(२०)

रसेसु जो गिद्धि मुवेइ तिव्वं
अकालियं पावइ स विणासं।

उ०, ३२, ६३

टीका—जो प्राणी रस में, यानी जिह्वा के भोग में तीव्र गृद्धि भावना रखता है, महती आसक्ति रखता है, तो ऐसा प्राणी अनिष्ट एवं नीच कर्मों का उपार्जन करता है और अकाल में ही मृत्यु को प्राप्त होता है।

(२१)

फासेसु जो गिद्धि मुवेइतिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं।

उ०, ३२, ७६

टीका—जो प्राणी स्पर्श इन्द्रिय के भोगों में तीव्र आसक्ति रखता है, जो भोगों में ही तल्लीन है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है।

(२२)

आवज्जई इन्द्रिय चोर वस्से ।

उ०, ३२, १०४

टीका—जो आत्मा इन्द्रिय-भोग रूपी चोरों के वश में पड़ा हुआ है, उसका जन्म-मरण कभी बंद नहीं होने वाला है, वह तो संसार में परिभ्रमण करता ही रहेगा ।

(२३)

जे दूमणा ते हि णो णया,
ते जाणंति समाहिमाहियं ।

सू०, २, २७, उ, २

टीका—मन को दुष्ट बनाने वाले जो शब्द-गंध आदि विषय है, जो इन्द्रियों के सुख है, उनमें जो आत्मायें आसक्त नहीं होती है, वे ही अपने में स्थित राग-द्वेष का त्याग कर, अनासक्त होकर धर्म-ध्यान का असली रहस्य जानते ह या जान सकते हैं । इन्द्रिय सुख-भोग और धर्म-ध्यान का आराधन-दोनों साथ २ नहीं हो सकते हैं ।

(२४)

विहरेज्ज समाहि इंदिए,
अत्तहियं खु दुहेण लब्भइ ।

सू०, २, ३० उ, २

टीका—आत्महित का मार्ग, यानी वास्तविक कल्याण-मार्ग बहुत ही कठिनाई से प्राप्त होता है । इसलिये इन्द्रियों को वश में रखो । मन घोड़ा रूप है और इन्द्रियाँ लगाम रूप है-इसलिये लगाम द्वारा घोड़े को नियंत्रित रखना चाहिये । इस तरह समाधि के साथ संयम का अनुष्ठान करे ।

(२५)

मणसा काय वक्केणं,
णारंभी ण परिग्गही।

सू०, ९, ९

टीका—आत्महित की कामना वाला पुरुष, मन, वचन और काया से न तो आरंभी यानी तृष्णामय प्रयत्न वाला हो और न परिग्रही-यानी ममतामय संग्रह वाला हो। आरंभ और परिग्रह का त्याग करने पर ही आत्मा विकास की ओर गति कर सकती है।

(२६)

तिविहेणावि पाण माहणे।

सू०, २, २१, उ, ३.

टीका—मन, वचन और काया से प्राणियों की हिंसा नहीं करनी चाहिये। मन से किसी भी प्राणी के लिये अनिष्ट और घातक विचार अथवा षड्यन्त्र नहीं सोचना चाहिये। वचन से किसी भी प्राणी के लिये मर्म घातक या कष्ट दायक शब्द नहीं बोलना चाहिये। काया से किसी भी प्राणी को कष्ट, हानि अथवा मरणान्त दुःख नहीं पहुँचाना चाहिये। यानी तीनों योगों से प्राणी मात्र के लिये हित की ही कामना करनी चाहिये, इसी में कल्याण है।

(२७)

झाण जोगं समाहट्टु,
कायं विउसेज्ज सव्वसो।

सू०, ८, २६

टीका—आत्मार्थी पुरुष अथवा परमार्थी पुरुष, ध्यान-योग को ग्रहण करके, चित्त वृत्तियों को सुस्थित और एकाग्र करके, सब प्रकार से शरीर को बुरे व्यापारों से रोक दे। शरीर-कार्यों को एकान्त रूप से स्व-पर सेवा में लगा दे। इस प्रकार स्व-पर कल्याण में ही मग्न हो जाय।

(२८)

तओ गुत्तीओ पण्णात्ताओ,
मणगुत्ती, वयगुत्ती, कायगुत्ती।

ठाणां, ३ रा ठा, १ ला, उ, ९

टीका—गुप्तियाँ तीन प्रकार की कही गई हैं:—१ मन-गुप्ति २ वचन गुप्ति और ३ काया-गुप्ति। मन, शरीर और इन्द्रियों की प्रवृत्तियों पर विवेक-पूर्वक धर्मानुसार नियंत्रण करना गुप्ति-धर्म है।

★

कर्मवाद-सूत्र

(१)

रागो य दोसोऽवि य कम्मबीयं ।

उ०, ३२, ७

टीका—राग और द्वेष, इष्ट पदार्थों पर आसक्ति, प्रिय पदार्थों पर मुर्च्छा और रति भाव, इसी प्रकार अप्रिय पदार्थों पर घृणा, ईर्षा और अरति भाव ही कर्म के मूल बीज हैं ।

(२)

पदुट्ठ चित्तो यो चिणाइ कम्मं ।

उ०, ३२, ५९

टीका—मूर्त्त रूपसे, बाह्य रूप से, शरीर द्वारा कोई कार्य नहीं करने पर भी यदि चित्त में द्वेष भरा हुआ है, तो ऐसा प्राणी भी कर्मों का बंध करता रहता है । निस्संदेह कर्मों के बंधने और छूटने में मन की क्रिया का यानी चित्त की भावना का बहुत बड़ा संबंध रहा हुआ है ।

(३)

कडाण कम्माण न मोक्खो अत्थि ।

उ०, १३. १०

टीका—बांधे हुए कर्मों को भोगे बिना उनसे मोक्ष यानी छुटकारा नहीं मिल सकता है । इसलिये कर्मों की निर्जरा के लिये तप, संयम, दया, दान, परोपकार, सेवा आदि का आचरण जीवन में अति आवश्यक है ।

(४)

कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि ।

उ०, ४, ३

टीका—अपने किये हुए कर्मों को भोगे बिना उनसे छुटकारा नहीं मिल सकता है। इसलिये पाप-कर्मों को त्याग कर, पुण्य कर्मों का अर्थात् शुभ कर्मों का ही आचरण करना चाहिये।

(५)

कम्माणि बलवन्ति हि।

उ०, २५, ३०

टीका—कर्म ही बलवान् हैं। कर्मों के उदय होने पर बुद्धि और बल, धन और जन, सुख और सुविधा, कर्मानुसार हो जाते हैं। पुण्य कर्मों के उदय से अनुकूल संयोगों की प्राप्ति होती है और पापमय कर्मों के उदय से प्रतिकूल संयोगों की प्राप्ति होती है।

(६)

कम्मं च मोहप्पभवं।

उ०, ३२, ७

टीका—कर्म ही मोहको उत्पन्न करता है, यानी द्रव्य-आश्रव से भाव-आश्रव होता है, और भाव-आश्रव से द्रव्य आश्रव होता है।

(७)

गाढा य विवाग कम्मुणो।

उ०, १०, ४,

टीका—कर्मों का फल महान् कटु होता है, भयंकर रूप से त्रास कारी होता है, इसलिये आश्रव को-यानी कर्म-द्वार को रोकना चाहिये। पाप प्रवृत्ति से बचना चाहिये।

(८)

कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो।

सू० २, ४, उ १

टीका---अशुभ-योग वाले प्राणी यानी अशुभ-प्रवृत्तियाँ वाले प्राणी कर्मों से संबंधित होते रहते हैं। उनके कर्मों का निरंतर आश्रव होता ही रहता है।

(९)

कम्मं च जाइ मरणस्स मूलं।

उ०, ३२; ७

टीका---कर्म से ही जन्म और मृत्यु के दुःख उठाने पड़ते हैं। जन्म-मृत्यु का मूल कर्म ही हैं।

(१०)

संसरइ सुहा सुहेहिं कम्मेहिं।

उ०, १०, १५

टीका—शुभ और अशुभ कर्मों के बल पर ही, जीवन और मरण का, सुख और दुःख का, उत्पत्ति और विनाश का चक्कर चलता है।

(११)

आहा कम्मेहिं गच्छई।

उ०, ३, ३

टीका---प्रत्येक आत्मा स्व-कृत शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार ही सुख और दुःख का भागी बनता है। मूल में कर्म ही सुख-दुख के कर्त्ता हैं। अन्य तो निमित्त मात्र हैं।

(१२)

कम्मुणा उवाही जायइ।

आ०, ३, ११०, उ, १

टीका--कर्मों से ही यानी अशुभ कार्यों से ही, जन्म, मरण, वृद्धत्व, रोग, नानापीड़ाऐं, विषम संयोग-वियोग, भव-भ्रमण आदि उपाधियाँ पैदा हुआ करती हैं।

(१३)

इहं तु कम्माइं पुरे कडाइं।

उ०, १३, १९

टीका—यहाँ पर जो कुछ भी सुख-दुःख मिलता है, वह सब पहिले किये हुए कर्मों का ही फल है।

(१४)

सकम्म बीओ अवसो पयाइ,
परं भवं सुंदर पावगं वा।

उ०, १३, २४,

टीका—यह जीव एक तो आप स्वयं और दूसरे कर्म को लेकर कैदी के समान परवशता को प्राप्त होता हुआ कर्मानुसार परलोक में या तो सुन्दर स्थान को अर्थात् देवगति आदि को—अथवा पाप स्थान को यानी नरक आदि को जाता है। यथा कर्म तथा गति अनुसार स्थिति को प्राप्त होता है।

(१५)

असुहाण कम्माणं निज्जाणंपावगं

उ०, २१, ९

टीका—अशुभ कर्मों का अन्तिम फल निश्चय में पाप रूप ही होता है, महान् वेदना रूप ही होता है।

(१६)

अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे,
न मूलओ छिंदइ बन्धणं से।

उ०, २०, ३९

टीका—जो आत्मा निर्बल होकर इन्द्रियों के अधीन हो जाता है तथा रसों में मुर्च्छित हो जाता है, वह राग द्वेष जनित कर्म बंधन का उच्छेद जड़-मूल से नहीं कर सकता है।

(१७)

कत्तार मेव अणुजाइ कम्मं ।

उ०, १३, २३,

टीका--जो जीव कर्मों का बंध करता है, वे कर्म सुख दुःख देने की शक्ति को अर्थात् विपाक-शक्ति को साथ में लेकर ही उस जीव के साथ साथ जाते हैं। कर्म परमाणु जीव-कर्त्ता के अनुयायी होते हैं।

(१८)

कम्मुणा तेण संजुत्तो गच्छई उ परं भवं ।

उ०, १८, १७

टीका—मृत्यु प्राप्त होने पर जीव केवल कर्मों से-यानी पाप-पुण्यों से संयुक्त होता हुआ ही पर-भव को जाता है। धन-वैभव, कुटुम्ब आदि तो सब ज्यों के त्यों यहीं पर रह जाने वाले हैं।

(१९)

अज्झत्थ हेउं निययस्स बन्धो,
संसार हेउं च वयन्ति बन्धं ।

उ०, १४, १९

टीका—अध्यात्म हेतु यानी मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय, अशुभ योग और अव्रत, ये बन्ध के कारण हैं। और यह बन्ध ही संसार को बढ़ाने वाला है। ऐसा महर्षि, सन्त, महात्मा गण कहते हैं।

(२०)

अभिणूम कडेहिं मुच्छिए,
तिव्वं ते कम्मेहिं किच्चती ।

सू०, २, ७, उ, १

टीका—जो पुरुष मायामय कामों में संलग्न है, माया मे मूर्च्छित हैं, वे कर्मों द्वारा अत्यन्त पीड़ित किये जाते हैं। उनको घोर दुःख उठाना पडता है। सुख उनको मिल ही नहीं सकता है।

(२१)

जहा कडं कम्म तहा से भारे ।

सू०, ५, २६, उ, १

टीका—पूर्व जन्म में जिसने जैसे कर्म किये हैं, उन कर्मों के अनुसार ही उसे पीड़ा प्राप्त होती है । यथा कर्म-तथा फलं, इसलिये दुःख के समय धैर्य और संतोष रखना चाहिये ।

(२२)

जं जारिसं पुव्व मकासि कम्मं,
तमेव आगच्छति संपराए ।

सू०, ५, २३, उ, २

टीका—प्राणियों ने पूर्व जन्म में जैसी स्थिति वाले तथा जैसे प्रभाव वाले जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट कर्म किये हैं, दूसरे जन्म में वैसी ही स्थिति वाले और वैसे ही प्रभाव वाले जघन्य, मध्य और संयोग-वियोग रूप फल पाते हैं । इसलिये विचार कर काम करना चाहिये, जिससे इस लोक और पर लोक में शांति मिले ।

(२३)

कम्मी कम्मेहिं किच्चती ।

सू०, ९, ४

टीका—पाप कर्म करने वाला अकेला ही पाप कर्मों के फल को भोगता है । उसमें हिस्सा बटाने के लिये न तो कोई समर्थ है और न कोई हिस्सा बटाने के लिये ही आता है ।

(२४)

बाला वदंति कम्माइं पुरे कडाइं ।

सू०, ५, १, उ, २

टीका—विवेक-भ्रष्ट और अनीति के मार्ग पर चलने वाले अज्ञानी मनुष्य पूर्व जन्म में किये हुए अपने कर्मों का फल अवश्य

भोगते हैं। पाप का फल अवश्य भोगना पड़ता है, यह प्रकृति का अटल नियम है।

(२५)

सकम्मुणा विप्परियासुवेइ।

सू०, ७, ११

टीका—जीव अपने कर्म के बल से ही सुख के लिये इच्छा करता हुआ भी दुःख ही पाता है। कर्म-गति बलीयसी; बड़े २ तीर्थंकर, चक्रवर्ती, गणधर, आचार्य आदि सभी कर्म के आगे क्या कर सकते हैं?

(२६)

चउव्विहे बंधे, पगइ बंधे, ठिइबंधे,
अणुभाव बंधे, पएस बंधे।

ठाणां०, ४ था, ठा, उ, २, २७

टीका—आत्मा के साथ बन्धने वाले कर्मों का बन्ध चार प्रकार का कहा गया है:—१ प्रकृति बन्ध, २ स्थिति बन्ध, ३ अनुभाव बन्ध और ४ प्रदेश बन्ध।

(२७)

आयाणिज्जं परिन्नाय परियाएण विगिंचइ।

आ०, ६, १८१, उ, २

टीका—कर्म-सिद्धान्त के अनुसार कर्मों के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग आदि भेद-प्रभेद को और इनके स्वरूप को जान कर ज्ञानी संयम–धर्म के द्वारा पूर्व संचित कर्मों का क्षय करे। इस रीति से कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष को प्राप्त करे।

(२८)

देह दुक्खं महाफलं।

द०, ८, २७

टीका—दुःखों की उत्पत्ति पूर्व कर्मों के उदय का फल है। इस-लिये यदि कर्मों के उदय से शरीर में व्याधि खड़ी हो जाय, शरीर में नाना रोगों का श्री गणेश हो जाय तो भी चित्त में शांति रक्खे, सहिष्णुता से उन्हें सहन करे। इसीमें महान् सुख का खजाना रहा हुआ है।

कषाय-सूत्र

(१)

छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं ।

द०, २, ५,

टीका—द्वेष, अरति और ईर्षा को छोड़ दो । राग, मोह और आसक्ति का विनाश कर दो ।

(२)

रागस्स हेउं समणुन्न माहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्ना महु ।

उ०, ३२, ३६

टीका—राग का कारण आसक्ति भावना है और द्वेष का कारण घृणा-भावना है । इस प्रकार राग और द्वेष ही विश्व-वृक्ष हैं । संसार भ्रमण के मूल कारण है ।

(३)

राग दोसा दओ तिव्वा,
नेह पासा भयंकरा ।

उ०, २३, ४३

टीका—रागद्वेष आदि कषाय रूपी पाश और तीव्र मोह रूपी पाश बड़ी ही भयंकर है । मोह, माया और ममता पाश रूप ही हैं, जाल रूप ही हैं । संसारी आत्माएँ इसी जाल में फँसी हुई हैं । समर्थ और स्थिर समाधि वाली आत्माएँ ही इस पाश से मुक्ति पा सकती हैं

(४)

कसाया अग्गिणो कुत्ता,
सुय सील तवो जलं ।

उ०, २३, ५३

टीका—कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों जाज्वल्यमान अग्नि हैं, इनको शांत करने के लिये श्रुत-शास्त्र का और सात्विक साहित्यका अध्ययन, पठन-पाठन, मनन-चिन्तन ही शक्तिशाली जल है। ब्रह्मचर्य और मर्यादा पालन कषाय-अग्नि को शांत कर सकता है। तथा बारह प्रकार का बाह्य और आभ्यंतर तप भी कषाय-अग्नि को बुझा सकता है।

(५)

चत्तारि वमे सया कसाए।

द०, १०, ६

टीका—सदैव चारों कषायों का, क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग करते रहना चाहिये। क्योंकि कषाय से मुक्ति होगी, तभी संसार से भी मुक्ति प्राप्त हो सकेगी।

(६)

वमे चत्तारि दोसे उ इच्छंतो हिय मप्पणो।

द०, ८, ३७

टीका—क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चारों दोषों को छोड़ दो। यदि अपना हित चाहते हो तो इनका नाश कर दो। कषाय-मुक्ति ही मोक्ष का सच्चा मार्ग है, यह नहीं भूलना चाहिये।

(७)

चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचन्ति मूलाइं पुणब्भवस्स।

द०, ८, ४०

टीका—ये चारों कषाय-क्रोध, मान, माया और लोभ, पुनर्भव की अर्थात् जन्म-मरण की जड़े सींचते रहते हैं। इन कषायों के बल से ही अनन्त संसार की वृद्धि होती रहती है।

(८)

वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ।

सू०, १०, २१

टीका—वासना और कषाय के वश होकर, भोगों से आकर्षित होकर, जीव वैर तो बाँध लेते हैं, परन्तु यह नहीं जानते हैं कि वैर-बाँधना इस लोक और परलोक में महान भय पैदा करना है, महान् दुःख मोल लेना है ।

(९)

वेराणुगिद्धे णिचयं करेति ।

सू०, १०, ९

टीका—जो प्राणी अन्य प्राणियों के साथ वैर-भाव रखता है, प्रति-स्पर्धा जनित राग-द्वेष के भाव रखता है, वह घोर पाप कर्म का उपार्जन करता है, वह चिकने कर्मों का बंध करता है ।

(१०)

माया मोसं विवज्जए ।

द०, ५, ५१, उ, द्वि०

टीका—बुद्धिमान् अपने कल्याण के लिये, अणु-मात्र भी, थोड़ा सा भी माया-मृषावाद नहीं बोले यानी कपट पूर्वक झूठ मिथ्यात्व का पोषक है और मोक्ष का नाशक है ।

(११)

माया मित्ताणि नासेइ ।

द०, ८, ३८

टीका—माया या कपट, मित्रता का नाश कर देता है । सम्यक्त्व का भी कपट से नाश हो सकता है । कपट से विश्वास उठ जाता है ।

(१२)

माया गई पडिग्घाओ,
लोभाओ दुहओ भयं ।

उ०, ९, ५४

टीका—माया से अच्छी गति का नाश होता है, और लोभ से दोनों लोक में भय पैदा होता है ।

(१३)

पेज्जवत्तिया मुच्छा दुविहा,
माए चेव लोहे चेव ।

ठाणां, २, रा, ठा, उ, ४, १३

टीका—राग यानी मूर्च्छा और राग जनित आसक्ति दो कारणों से हुआ करती हैं :— १ माया से और २ लोभ से ।

(१४)

मायं च वज्जए सया ।

उ०, १, २४

टीका—माया का. कपट का सदैव परित्याग करते रहना चाहिए क्योंकि माया आत्म-विकास के मार्ग में शल्य समान है, कांटे के समान है । माया मैत्री का और सहृदयता का नाश करने वाली है ।

(१५)

जे इह मायाइ मिज्जई,
आगंता गब्भाय णंतसो ।

सू०, २, ९, उ, १

टीका—जो पुरुष यहाँ पर माया आदि कषाय का सेवन करता है, कपट क्रियाओं में ही सुख मानता है, उसे अनन्त बार जन्म-मरण धारण करने पड़ते हैं । उसे अनेक बार गर्भ में आने के दुःख उठाने पड़ेंगे ।

(१६)

जे माण दंसी. से माया दंसी।

आ०, ३, १२६, उ, ४

टीका—जो मान वाला है, उसके हृदय में कपट है ही। जिसके हृदय में मान होता है, उसके हृदय में कपट भी होता ही है। मान और माया का सहचर सम्बन्ध है।

(१७)

माणो विणाय नासणो।

द०, ८, ३८

टीका—मान विनय का नाश करता है, नम्रता को दूर भगाता है। मान से आत्मा में गुणों का विकास होना रुक जाता है।

(१८)

आत्तणं न समुक्कस।

द०, ८, ३०

टीका—अपने आपको बड़ा नहीं समझे, यानी अहंकार का सेवन नहीं करे। अहंकार-सेवन से आत्माकी उन्नति रुकती है, ज्ञान-दर्शन और चारित्र में बाधा पहुँचती है, एवं मरणांत में दुर्गति की प्राप्ति होती है।

(१९)

न बाहिरं परिभवे।

द०, ८, ३०

टीका—कभी किसी का तिरस्कार नहीं करे। तिरस्कार करने से पर के मर्म की हिंसा होती है, तथा अपनी आत्मा में मान-कषाय का पोषण होता है।

(२०)

सुअलाभे न मज्जिज्जा।

द०, ८, ३०

टीका—बहुत विद्वान् होने पर भी विद्या का अभिमान नहीं करे। अपने श्रुत-ज्ञान के प्रति अहंकार-भावना नहीं लावे। अहंकारी का सदैव सिर नीचा ही रहता है।

(२१)

इमा पया बहु माया,
मोहेण पाउडा ।

सू०, २, २२, उ, २

टीका—भौतिक-सुख की मान्यता वाली आत्माऐं माया आदि कषाय से युक्त होती हैं। और मोह से ग्रसित होती हैं। ऐसी आत्माऐं अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करती रहती हैं।

(२२)

छन्नं च पसंस णो करे,
न य उक्कोस पगास माहणे ।

सू०, २, २९, उ, २

टीका—विवेक शील पुरुष, छन्न यानी अभिप्राय को छिपाने रूप माया न करे। प्रशस्य-यानी सभी संसारी आत्माओं में रहने वाला लोभ भी न करे। उत्कर्ष यानी जन साधारण को विवेक हीन कर देने वाला जो अभिमान है, उसको भी स्थान न दे। इसी प्रकार प्रकाश यानी आत्मा के स्वभाव को विकृत रूप से पेश करने वाला जो क्रोध है, उसको भी तिलांजली दे दे। "कषाय-मुक्ति किल मुक्तिरेव" यही सिद्धांत आदर्श है।

(२३)

अहे वयइ कोहेणं,
माणेणं अहमा गई ।

उ०, ९, ५४

टीका—क्रोध से अधोगति में जाता है और मान से नीच गति की प्राप्ति होती है।

(२४)

उक्कसं जलणं णूमं,
मज्झत्थं च विगिंचए ।

सू०, १, १२, उ, ४

टीका—आत्मा का हित चाहने वाला पुरुष, क्रोध. मान, माया और लोभ का त्याग कर दे । कषाय के त्याग में ही आत्मा का अमर सुख रहा हुआ है ।

(२५)

णो कुज्झे णो माणि ।

सू०, २, ६ उ, २

टीका—न तो क्रोध करे और न मान करे । आत्मार्थी का यही मार्ग है । परमार्थी का यही जीवन—व्यवहार है ।

(२६)

कोहं माणं ण पत्थए ।

सू०, ११, ३५

टीका—क्रोध और मान को सर्वथा छोड़ दो । क्रोध नाना पापों को लाने वाला है । यह विवेक, समता, सद्बुद्धि आदि गुणों का नाश करने वाला है । इसी प्रकार मान भी सभी गुणों का नाश करने वाला है । आत्माकी उन्नति को रोक कर उसे पीछे धकेलने वाला है ।

(२७)

जे कोहदंसी से माणदंसी ।

आ०, ३, १२६, उ, ४

टीका—जो क्रोधी है, वह मानी भी है ही । जिसके हृदय में क्रोध का निवास है, उसके हृदय में मान भी अवश्य है । क्रोध और मान का परस्पर में अविनाभाव सम्बन्ध समझना चाहिये ।

(२८)

दोस वत्तिया मुच्छा दुविहा,
कोहे चेव, माणे चेव।

ठाणा, २रा, ठा, उ, ४, १३

टीका--द्वेष-मूर्च्छा, अथवा द्वेष-जनित घृणा, दो कारणों से हुआ करती है :— १ क्रोध से और २ मान से।

(२९)

सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे,
विउमंता पयहिज्ज संथवं।

सू०, २, ११, उ, २

टीका—सूक्ष्म शल्य का नाश करना यानी अभिमान का त्याग करना बड़ा ही दुष्कर काम है। जड़ मूल से इसको उखाड़ फेंकना अत्यन्त कठिन है, इसलिये आत्मार्थी पुरुष वंदना-पूजना आदि रूप परिचय से दूर रहे। मुमुक्षु आत्मा वंदना-पूजना, यश-कीर्ति की वांछा न करे। सेवा और त्याग को ही सर्वस्व समझे।

(३०)

दुविहे बंधे पेज्ज बंधे चेव,
दोस बंधे चेव।

ठाणा, २ रा, ठा, उ, ४, ४

टीका—आत्मा के साथ कर्मों का बंधन दो कारणों से हुआ करता है—१ राग भाव से और २ द्वेष भाव से। माया और लोभ के कारण से राग भाव पैदा होता है, तथा क्रोध और मान से द्वेष भाव पैदा हुआ करता है।

(३१)

इत्थ मोहे पुणो पुणो।

आ०, ५, १४२, उ, १

टीका—जब तक ज्ञान, दर्शन और चारित्र का आराधन करके आत्मा को पूर्ण निर्मल नहीं किया जायगा, शांत और अनासक्त नहीं किया जायगा, तब तक बार बार मोह अपनी ताकत लगाता ही रहेगा। मोह की प्रवृत्तियों का प्रवाह अनासक्त होने पर ही रुक सकता है, अन्यथा नहीं।

(३२)

मोहेण गब्भं मरणाइं एइ।

आ०, ५, १४३, उ, १

टीका—मोह कर्म के कारण से ही संसारी जीव को बार बार गर्भ में आना पड़ता है और बार बार मृत्यु के चक्कर में फंसना पड़ता है। मोह की महिमा बहुत ही गूढ़ है, वह अनेक रूप धारण कर जीवन में आता है। मोह आत्मा को मदिरा के समान बेभान कर देता है। संसार का सारा चक्र मोह रूपी नट के हाथ में ही स्थित है।

(३३)

अहिगरणं न करेज्ज पंडिए।

सू० २, १९, उ, २

टीका—जो पंडित है, यानी जो आत्मा को शाश्वत् सुख में पहुँचाना चाहता है, तो उसको कलह से दूर ही रहना चाहिये। वैर-भाव, लड़ाई-झगड़ा आदि के स्थान पर प्रेम, सहानुभूति और बन्धुत्व भावना रखनी चाहिये।

(३४)

आरंभ संभिया कामा,
न ते दुक्ख विमोयगा।

सू०, ९, ३

टीका—जो विषय लोलुप हैं, और जो तृष्णा मय आरंभ कार्यों से भरे हुए हैं, ऐसे पुरुष दुःखों से यानी आठों कर्मों के जाल से मुक्त होने वाले नहीं हैं। वे तो कोल्हू के बैल के समान निरन्तर संसार में ही चक्कर लगाते रहेंगे।

(३५)

अणुवसन्तेणं दुक्करं दमसागरो।

उ०, १९, ४३

टीका—जिस आत्मा की कषाय वृत्ति शान्त नहीं है, ऐसी आत्मा से दम रूप समुद्र का यानी इन्द्रिय-दमन रूप सागर का–तैरा जाना दुष्कर है। संसार से मुक्ति पाने के लिये कषायों पर विजय प्राप्त करना सर्व प्रथम आवश्यक है।

(३६)

अवि ओसिए धासति पावकम्मी।

सू०, १३, ५

टीका—कलह आदि कषाय में और ईर्षा-द्वेष में संलग्न पुरुष अधम है, वह पाप कर्मी है, और दुःख का ही भागी है।

(३७)

जो विग्गहीए अन्नाय भासी,
न से समे होइ अझंझपत्ते।

सू०, १३, ६

टीका—जिस पुरुष की वृत्ति ही झगड़ा करने की हो गई है, तथा जो न्याय को छोड़कर बोलता है, यानी अनीति पूर्वक भाषण करता है, ऐसा पुरुष राग और द्वेष से युक्त होने के कारण समता धर्म नहीं प्राप्त कर सकता है, वह शांति का अनुभव नहीं कर सकता है और न कलह से ही उसका छुटकारा हो सकता है।

कामादि-सूत्र

(१)

नागो जहा पंक तलाव सन्नो,
एवं वयं काम गुणेसु गिद्धा ।

उ० १३, ३०

टीका—जैसे हाथी कीचड़ वाले तालाब में फंस जाता है और कीचड़ की बहुतायत से वहीं मृत्यू को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही हम संसारी जीव भी काम-भोगों में फंसे हुए हैं और अंत में मर कर दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

(२)

अबंभ चरिश्रं घोरं ।

द०, ६, १६

टीका—अब्रह्मचर्य, मैथुन या वीर्य-नाश घोर पाप है, इससे आत्मा का तो पतन होता ही है, परन्तु शारीरिक, मानसिक और वाचिक शक्तियाँ भी इससे नष्ट होती हैं। सांसारिक आपत्तियाँ भी नाना प्रकार की इससे पैदा हो जाती हैं।

(३)

इत्थी वसं गया बाला,
जिण-सासण परम्मुहा ।

सू०, ३, ९, उ, ४

टीका—स्त्री के वश में गये हुए जीव यानी ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करने वाले मूर्ख-अज्ञानी जीव, जिन-शासन से—अहिंसा धर्म से परांमुख हैं यानी ऐसे कामी पुरुष जिन-शासन के पालक या आराधक नहीं कहे जा सकते हैं।

(४)

रूवेहिं लुप्पंति भयावहेहिं ।

सू० १३, २१

टीका---स्त्री का रूप, अंग-प्रत्यंग आदि भयंकर हैं, जो पुरुष स्त्री के रूप में आसक्त होते हैं, उनकी इस लोक में भी निंदा होती हैं, और पर लोक में नरक-आदि नीच-गति की प्राप्ति होती है। दोनों लोक में स्त्री-आसक्ति से विविध दुःख, ताड़ना, मारना आदि पीड़ाऐं सहन करनी पड़ती हैं।

(५)

कामे कमाही, कमियं खु दुक्खं ।

द०, २, ५

टीका---कामनाओं को यानी पांचों इन्द्रिय संबंधी विषयों को और मन की वासनाओं को हटा दो। इससे दुःख, संक्लेश, जन्म-मरण आदि व्याधियाँ अपने आप ही हट जायगी। विषय-वासना का नाश ही दुःख का नाश है।

(६)

मूलमेय महमस्स ।

द०, ६, १७

टीका---यह अब्रह्मचर्य पाप की जड़ है, अधर्म का मूल है। यह सभी प्रकार के पतन और दुःखों को लाने वाला है। इस लोक और परलोक में शांति चाहने वाले को इससे बचना चाहिये।

(७)

सल्लं कामा विसं कामा,
कामा आसी विसोवमा ।

उ०, ९, ५३

टीका---ये काम-भोग तीक्ष्ण नोंक वाले शल्य यानी कांटे के समान हैं, जो कि शरीर और चित्त में गहरे घुसकर रात और दिन

पीड़ा पहुंचाते रहते हैं। ये मधु-मिश्रित विष के समान हैं, जो कि भोगते समय तो मधुर दिखाई देते हैं, किन्तु परिणाम में घोर दुःख के देने वाले हैं। ये काम-भोग, जिसके डाढ़ में जहर है ऐसे सर्प के समान हैं, जो कि देखने में तो सुन्दर हैं, किन्तु स्पर्श करते ही आत्मा में महान् अनर्थ पैदा करने वाले हैं।

(८)

दुप्परिच्चया इमे कामा,
नो सुजहा अधीर पुरिसेहिं।

उ०, ८, ६

टीका—ये काम-विकार अत्यंत कठिनाई से छूटते हैं, इसलिये अधीर पुरुषों से-निर्बल आत्माओं से ये विकार सरलता के साथ नहीं त्यागे जा सकते हैं। इनके लिये धैर्य और दृढ़ निश्चय की आवश्यकता है।

(९)

कामा दुरतिक्कमा।

आ०, २, १३, उ, ५

टीका—काम-भोगों की इच्छाऐं बहुत ही कठिनाई से जीती जाती हैं। बहुत ही सावधानी के साथ, ज्ञान-पूर्वक प्रयत्न करने पर ही इन पर विजय और नियन्त्रण किया जा सकता है। इसलिये कभी भी काम-इच्छा को जीतने के प्रति ढीलाई नहीं रखनी चाहिये। बल्कि हर क्षण इनके लिये जागृत और प्रयत्न शील रहना चाहिये।

(१०)

काम भोग रसगिद्धा,
उववज्जन्ति आसुरे काए।

उ०, ८, १४,

टीका—काम-भोगों में मूर्च्छित, इन्द्रिय-रसों में आसक्त, विकार और वासनाओं में मूढ़ आत्माऐं मर कर असुर कुमारों में-हलकी जाति के देवों में उत्पन्न होती हैं।

(११)

उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति,
दुमं जहा खीण फलं व पक्खी ।

उ०, १३, ३१

टीका—जैसे पक्षी फल हीन वृक्ष को छोड़कर चले जाते हैं, वैसे ही काम-भोग भी पुरुष को क्षीण करके छोड़ देते हैं, यानी काम-भोगों से पुरुष क्षीण होकर, अशक्त होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं ।

(१२)

भोगा इमे संग करा हवंति ।

उ०, १३, २७

टीका—ये काम भोग ही, इन्द्रिय-पोषण की प्रवृत्तियाँ ही, दुःख देने वाले कर्मों का अर्थात् अनन्त जन्म मरण कराने वाले कर्मों का घोर बंधन कराने वाली होती हैं ।

(१३)

खाणी अणत्थाण उ काम भोगा ।

उ०, १४, १३

टीका—काम-भोग और इन्द्रिय-विषय-विकार, अनर्थों की खान हैं । ये अनन्त विपत्ति और घोर पतन को लाने वाले हैं ।

(१४)

कामे संसार वड्ढणे,
संकमाणो तणुं चरे ।

उ०, १४, ४७

टीका—काम-भोग अर्थात् मूर्च्छा और विकार-वासना, इन्द्रिय-भोगों की आसक्ति संसार के दुखों को बढ़ाने वाली है । भोगों से कदापि तृप्ति होने की नहीं है । ऐसा समझ कर यत्न पूर्वक इन से दूर होकर विचरण करें, अपना जीवन व्यतीत करें ।

(१५)

दुज्जए काम भोगे य
निच्चसो परिवज्जए ।

उ०, १६, १४

टीका—ये काम-भोग अत्यंत कठिनाई से जीते जाने वाले हैं, पूर्ण ज्ञान-साधना और सतत जागरूकता होने पर ही इन काम-भोगों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। अतएव सदैव के लिये ब्रह्मचारी इनका परित्याग कर दे ।

(१६)

काम भोगे य दुच्चए ।

उ०, १४, ४९

टीका—ये काम-भोग अत्यंत कठिनाई से त्यागे जाते हैं। इनसे पिंड छुड़ाना महान् कठिन है। यत्न पूर्वक और ज्ञान पूर्वक ही भोगों का त्याग किया जा सकता है। इसलिये सदैव भोगों के प्रति जागरूक रहने की-सावधान रहने की आवश्यकता है।

(१७)

सत्ता कामेसु माणवा ।

आ०, ६, १७५, उ, १

टीका—आश्चर्य की बात है कि मनुष्य काम-भोगों में फंसे हुए हैं। पर-लोक, मौत और नाना-विध दुःखों का जरा भी विचार भोग भोगते समय नहीं किया करते हैं। आयु क्षीण हो रही है, परन्तु इसका उन्हें जरा भी ख्याल नहीं है। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है ?

(१८)

न कामभोगा समयं उवेन्ति ।

उ०, ३२, १०१

टीका—काम-भोगों में आसक्त रहता हुआ प्राणी कभी भी राग द्वेष से रहित नहीं हो सकता है।

(१९)

काम भोगाणु राएणं केसं संपडिवज्जई ।

उ०, ५, ७

टीका—काम भोग के अनुराग से, भोगों में आसक्ति रखने से क्लेश ही क्लेश प्राप्त होता है। भोगों से सुख की आशा करना बालू से तेल निकालने के समान है।

(२०)

काम भोगा विसं ताल उडं ।

उ०, १६, १३

टीका—काम-भोग तालपुट विष के समान हैं जो कि तत्काल मृत्यु को लाने वाले हैं। आत्मा के गुणों का नाश करने वाले हैं। शीघ्र ही अधोगति को देने वाले हैं। काम-भोगों से सिवाय विनाश के, सिवाय नाना विध दुःखों की प्राप्ति के अन्य कुछ भी प्राप्त होने वाला नहीं है।

(२१)

वित्ते गिद्धे य इत्थसु,
दुहओ मलं संचिणइ ।

उ०, ५, १०

टीका—स्त्रियों में और धन में मूर्च्छित होने से, इनमें आसक्त रहने से, आत्मा इस लोक में भी अपना समय, अपनी शक्ति-और अपना जीवन व्यर्थ खोता है, तथा पर लोक में भी नाना तरह के दुःख उठाता है। वास्तव में भोग घृणित वस्तु है।

(२२)

जहाय किम्पाग फलां मणोरमा,
एओवमा काम गुणाविवागे ।

उ०, ३२, २०

टीका—जैसे किंपाक-फल देखने में सुन्दर और आकर्षक होते हैं, खाने में स्वादिष्ट और मधुर होते हैं, परन्तु परिणाम में विष रूप हैं, प्राण-नाशक हैं, वैसे ही काम-भोग भी देखने में सुन्दर, आकर्षक, मनोरम होते हैं और भोगने में क्षण-भर के लिये-थोड़ी देर के लिये आनन्द-जनक, सुख दायक प्रतीत होते हैं, परन्तु फल में आत्म-घातक, दुर्गति-दायक और अनन्त जन्म-मरण के बढ़ाने वाले होते हैं ।

(२३)

कामाणु गिद्धिप्पभवं खु दुक्खं ।

उ०, ३२, १९

टीका—निश्चय करके दुःखों की उत्पत्ति काम-भोगों में मूर्च्छित होने से पैदा होती है । मूर्च्छा ही दुःख ह ।

(२४)

कुररी वि वाभोग रसाणु गिद्धा,
निरट्ठ सोया परिताव मेइ ।

उ०, २०, ५०

टीका—काम भोगों में और इन्द्रिय रसों में निरन्तर आसक्त जीव, विकार और वासनाओं में मूर्च्छित जीव, निरर्थक शोक करने वाली कुररी नामक पक्षिणी की तरह मरने पर घोर वेदना और असह्य परिताप को ही प्राप्त होता है ।

(२५)

सन्नाइह काम-मुच्छिया,
मोहं जंति नरा असंवुडा ।

सू०, २, १०, उ, १

टीका—जो पुरुष अथवा जो आत्माऐं इस मनुष्य-भव में, अथवा इस संसार में आसक्त हैं, एवं काम-भोग में मूर्च्छित हैं, तथा हिंसा आदि पापों से निवृत्त नहीं हैं, वे पुरुष मोहनीय-कर्म का संचय करते हैं।

(२६)

गिद्ध नरा कामेसु मुच्छिया।

सू०, २, ८, उ, ३

टीका—क्षुद्र मनुष्य ही काम भोग में मूर्च्छित होते हैं। लघु प्रकृति के जीव ही विषयों में आसक्त होकर नरक आदि यातना-स्थान को प्राप्त करते हैं।

(२७)

वज्जए इत्थी विसलित्तं, व कंटगं नच्चा।

सू०, ४, ११, उ, १

टीका—जैसे विष-लिप्त कांटा तत्काल निकाल कर फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार अनन्त जन्म-मरण को उत्पन्न करने वाले स्त्री रूप कांटे को भी तत्काल छोड़ देना चाहिये। यानी पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ जीवन-व्यतीत करना चाहिए। जीवन विकास के इच्छुक को सर्व-प्रथम ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना चाहिये।

(२८)

नो विहरे सह णमित्थीसु।

सू० ४, १२, उ, १

टीका—आत्म-कल्याण की भावना वाला, स्व-पर-सेवा की इच्छा वाला, स्त्रियों के साथ विहार नहीं करे। स्त्रियों की संगति से सदैव दूर रहे।

(२९)

अवक्खु कामाइं रोगवं ।

सू०, २, २, उ, ३

टीका—जिन्होंने निश्चय रूप से, अडोल हृदय से, काम-भोगों को साक्षात् रोग रूप समझ लिया है, मैथुन को दुःखों का मूल-स्थान और आदि-कारण समझ लिया है, वे मुक्त-आत्मा के समान ही हैं, उन्हें शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त होगी, इसमें जरा भी संदेह नहीं है ।

(३०)

विसन्ना विसयं गणाहिं,
दुहओऽवि लोयं अणु संचरंति ।

सू०, १२, १४

टीका—जो जीव विषयों में अर्थात् भोगों में और स्त्रियों में आसक्त हैं, जो विषयांध हैं, भोगांध हैं या कामांध हैं, वे बार बार स्थावर और त्रस-योनियों में जन्म लेते हैं, अनन्त जन्म मरण करते हैं, उनको संसार में अनन्त काल तक परिभ्रमण करना पड़ेगा ।

(३१)

विसएसणं झियायंति,
कंका वा कलुसाहमा ।

सू० ११, २८

टीका—जो विषय-भोगों की प्राप्ति का ध्यान करते रहते हैं, वे ढंक पक्षी की तरह पापी और अधम हैं । जैसे ढंक आदि पक्षी सदैव मछली पकड़ने का ही ख्याल रखते हैं, वैसे ही मूढ़ जन भी सदैव विषय-पोषण और विकार सेवन का ही ख्याल रखते हैं । ऐसे प्राणी निश्चय ही नीच और दुष्ट हैं, तथा निरन्तर दुःख के ही भागी हैं ।

(३२)

सव्व लोयंसि जे कामा,
तं विज्जं परिजाणिया ।

सू०, ९, २२

टीका—समस्त लोक में जो काम-भोग है, विद्वान् पुरुष उनको दुःख के कारण समझ कर तथा संसार में परिभ्रमण कराने वाले समझ कर उन्हें त्याग दे । काम भोग से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद कर दे ।

(३३)

पंचविहे काम गुणे निच्चसो परिवज्जए ।

उ०, १६, १०,

टीका—पांचों प्रकार के काम गुणों को–(१) मधुर काम वर्द्धक शब्द, (२) काम दृष्टि से देखना (३) पुष्प माला आदि सुगन्धित पदार्थों का शृङ्गार, (४) काम वर्द्धक-भोजन और (५) काम वर्द्धक स्पर्श-क्रिया आदि को ब्रह्मचारी सदैव के लिये छोड़ दे । ब्रह्मचर्य की घात करने वाली पांचों इन्द्रियों की प्रवृत्ति का ब्रह्मचारी परित्याग कर दे ।

(३४)

काम कामी खलु अयं पुरिसे,
से सोयइ, जूरइ, तिप्पइ, परितप्पइ ।

आ०, २, १३, उ, ५

टीका—जो कामान्ध होता है, जो भोगान्ध होता है, उसे भोग-पदार्थों का वियोग होने पर, रोग होने पर अथवा मृत्यु के सन्निकट आने पर शोक करना पड़ता है, झुरना पड़ता है, प्रलाप करना पड़ता है, आंतरिक बाह्य रूप से ताप, परिताप भोगना पड़ता है, घोर

वेदना और असह्य मानसिक खेद उठाना पड़ता है। भोगी न तो कभी सुखी हुआ है और न कभी होगा।

(३५)

अज्झोववन्ना कामेहिं,
पूयणा इव तरुण ए।

सू०, ३, १३, उ, ४

टीका—जैसे पूतना नामक डाकिनी अथवा रोग-विशेष बालकों पर आसक्त रहता है, वैसे ही आत्मिक सुख का विरोधी पुरुष भी—कामान्ध पुरुष भी—काम—भोगों में अत्यंत मूर्च्छित रहते हैं। जिसका परिणाम नरक, तिर्यंच आदि गति में परिभ्रमण करना होता है।

(३६)

थम्भा कोहा पमाएणं,
रोगेणालस्सएण य सिक्खा न लब्भई।

उ०, ११, ३

टीका—अहंकार से, क्रोध से, प्रमाद से, रोग से और आलस्य से-इन पांच-कारणों से ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। ज्ञान प्राप्ति के लिये विनय, नम्रता, प्रयत्न, और भावना मय आकांक्षा की आवश्यकता है।

(३७)

थद्धे लुद्धे अणिग्गहे अविणीए।

उ०, ११, २

टीका—जो अहंकार युक्त है, लोभी है, और इन्द्रियों का गुलाम है, वह अविनीत है। वह भगवान की आज्ञा का विराधक है। जो विराधक है, वह मोक्ष से दूर है।

(३८)

वोच्छिद सिणेह मप्पणो।

उ०, १०, २८

टीका—आत्मा मे रहे हुए मोह, मूर्च्छा, आसक्ति, वासना और विकार को काट दो, इन्हें हटा दो।

(३९)

बहिया उड्ढ मादाय,
नावकंखे कयाइ वि।

उ०, ६, १४

टीका—अनासक्त जीवन को ही और स्थितप्रज्ञ अवस्था को ही सर्वोच्च तथा सर्वश्रेष्ठ समझ कर आत्मार्थी पुरुष विषयसुख की किसी भी समय में और किसी भी दशा में आकांक्षा न करे, भोग सुख की तृष्णा न करे।

क्रोध-सूत्र

(१)

कोहो पीइं पणासेइ ।

द०, ८, ३८

टीका—क्रोध, प्रेम का और मित्रता का नाश करता है। क्रोध से हिंसा की, अविवेक आदि दुर्गुणों की उत्पत्ति होती है।

(२)

उवसमेण हणे कोहं ।

द०, ८, ३९

टीका—शांति गुण से क्रोध को हटाना चाहिये। शांति के बल पर हिंसक से हिंसक प्राणी भी और विरोधी से विरोधी मनुष्य भी वश में हो जाता है।

(३)

कोहं असच्चं कुव्वेज्जा ।

उ०, १, ३४

टीका—सदैव क्रोध को दबाते रहना चाहिये। क्रोध का जड़-मूल से नाश हो ऐसा प्रयत्न करते रहना चाहिये। क्योंकि क्रोध वैर-विरोध का मूल है।

(४)

कलहं जुद्धं दूरओ परिवज्जए ।

द०, ५, १२, उ, प्र,

टीका—हित को चाहने वाला पुरुष क्लेश को, वाक्युद्ध को और अन्यविध लड़ाई को दूर से ही छोड़ दे। यानी उसके समीप नहीं जावे।

(५)

आसुरत्तं न गच्छिज्जा,
सुच्चाणं जिण-सासणं।

द०, ८, २५,

टीका—जिन-शासन यानी जैन धर्म के सिद्धान्तों का रहस्य समझ कर कभी किसी पर क्रोध नहीं करे। क्रोध विवेक को भ्रष्ट करने वाला है, बुद्धि को उलझन में डालने वाला है, प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता का भेद नहीं करने वाला है। क्रोध कलह को पैदा करने वाला है और अंत में दुर्गति का दाता है।

(६)

न हु मुणी कोवपरा हवन्ति।

उ०, १२, ३१

टीका—मुनि, आत्मार्थी कभी क्रोध नहीं करते हैं। संयमी कषाय-भाव से दूर ही रहते हैं।

(७)

दुविहे कोहे-आय पइट्ठिए चेव,
पर पइट्ठिए चेव।

ठाणां०, २ रा, ठा, उ, ४, ६

टीका—क्रोध दो प्रकार का कहा गया है—१ आत्म प्रतिष्ठित और २ पर-प्रतिष्ठित। स्वभाव से ही आत्मा में उत्पन्न होने वाला क्रोध तो आत्म-प्रतिष्ठित है और बाह्य-कारणों से आत्मा में उत्पन्न होने वाला क्रोध पर-प्रतिष्ठित है।

*

हिंसक-सूत्र

(१)

पाणि वहं घोरं ।

द०, ६, ११

टीका—प्राणियों का वध करना, मन, वचन और काया से जीवों को कष्ट पहुँचना घोर पाप है ।

(२)

अजयं चरमाणो अ पाण भूयाइं हिंसइ ।

द०, ४, १

टीका—जो अयत्ना से यानी अविवेक से और उच्छृंखलता से चलता है, उसको प्राणियों की उसके द्वारा भले ही हिंसा न होती हो तो भी प्राणियों को मारने का पाप लग जाता है ।

(३)

अजयं भुजमाणो अ,
पाण भूयाइं हिंसइ ।

द०, ४, ५

टीका—जो अयत्ना से, अविवेक से और लोलुपता से, भोजन करता है, उसको प्राणियों की उसके द्वारा भले ही हिंसा न होती हो तो भी प्राणियों को मारने का पाप उसको लग जाता है ।

(४)

हिंसन्नियं वा ण कहं करेज्जा ।

सू०, १०, १०

टीका—जिन कथा-वार्त्ताओं से हिंसा पैदा होने की सम्भावना जिनसे हिंसा का अर्थात् पर-पीड़न को और गरीबों के शोषण

को उत्तेजना मिलती हो, ऐसी कथा-वार्त्ताओं से तथा चर्चाओं से दूर रहे।

(५)

न हु पाण वहं अणुजाणे,
मुच्चेज्ज कयाइ सव्व दुक्खाणं।

उ०, ८, ८

टीका—प्राणियों के प्राणों के वध की, उनको नाश करने की अनुमोदना करने वाला मनुष्य कभी भी सम्पूर्ण दुःखों से छुटकारा नहीं प्राप्त कर सकता है। ऐसा मनुष्य कभी मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता है।

(६)

किं हिंसाए पसज्जसि।

उ०, १८, ११

टीका—हिंसा में क्यों आसक्त होते हो? हिंसा कदापि सुख की देने वाली नहीं है। हिंसा राग और द्वेष को ही पैदा करने वाली है। हिंसा दुःख का ही मूल है।

(७)

ण पंडिए अगणि समारभिज्जा।

सू०, ७, ६

टीका—पंडित मुनि, आत्मज्ञ पुरुष अग्नि का समारम्भ नहीं करे। यानी सम्यक्-दर्शनी और श्रावक आदि मनुष्य बड़े २ मील, कारखाने आदि रूप अग्नि का समारम्भ नहीं करें! क्योंकि इनमें त्रस, स्थावर जीवों की हिंसा के साथ साथ मनुष्यों का शोषण भी होता है तथा साथ में नैतिक पतन भी होता है।

(८)

पाणाणि चेवं विणिहंति मंदा ।

सू०, ७, १६,

टीका—मूर्ख जीव, अज्ञानी नेताओं के पीछे चलकर भोगों के लिये और मनोरंजन के लिये नाना विध प्राणियों की घात करते रहते हैं, और अन्त में घोर कष्ट दायक कर्मों का बन्धन करते रहते हैं ।

लोभ-सुत्र

(१)

लोभो सव्व विणासणो।

द०, ८, ३८

टीका---लोभ सभी आत्मिक-गुणों का नाश कर देता है। लोभ पाप का बाप है। लोभ वशात् मनुष्य न जाने क्या क्या पाप कर बैठता है ?

(२)

इच्छा हु आगास समा अणन्तिया।

उ०, ९, ४८

टीका---विश्व भर की संपत्ति और वैभव प्राप्त हो जाने पर भी लोभी चित्त को शांति नहीं हो सकती है, क्योंकि इच्छा-तृष्णा तो आकाश के समान अनन्त हैं, इनका कोई पार नहीं है, ऐसा सोच कर संतोष को ग्रहण करना चाहिये।

(३)

दुप्पूरए इमे आया।

उ०, ८, १६

टीका---संसार का संपूर्ण वैभव भी प्राप्त हो जाय, पुद्गलों की अपरिमित रूप से सुखमय प्राप्ति हो जाय, तो भी तृष्णा-ग्रस्त आत्मा संतुष्ट नहीं हो सकती है। तृष्णा के आगे तृप्ति अत्यंत कठिन है। इसलिये यह आत्मा दुष्पूर है।

(४)

जहा लाहो तहा लोहो,
लाहा लोहो पवड्ढई ।

उ०, ८, १७

टीका—ज्यों ज्यों लाभ होता जाता है, त्यों त्यों लोभ बढ़ता जाता है, इस प्रकार तृष्णा के रहते हुए लाभ से लोभ बढ़ता ही रहता है।

(५)

मोहाययणं खु तण्हा ।

उ० ३२, ६

टीका—तृष्णा ही मोह का स्थान है, मोह का नाश करने के लिये सर्व-प्रथम तृष्णा का नाश किया जाना चाहिये । तृष्णा रूपी लता के जन्म-मरण रूपी कटु फल हैं।

(६)

मोहं च तण्हाययणं ।

उ०, ३२, ६

टीका—मोह तृष्णा का घर है, तृष्णा के नाश के लिये मोह की वृत्तियों पर नियंत्रण रखना परम आवश्यक है ।

(७)

भव तण्हा लया वुत्ता,
भीमा भीम फलोदया ।

उ०, २३, ४८

टीका—संसार में तृष्णा यानी अतृप्ति एक प्रकार की विष लता के समान कही गई है, जो कि बड़ी ही भयंकर है, और जो भयंकर फलों को, यानी नानाविध आपत्तियों को और विपत्तियों को-

देने वाली है। तृष्णा कभी भी शांत होने वाली नहीं है और यह आकाश के समान अनन्त विस्तृत है।

(८)

करेइ लोहं वेरं वड्ढेइ अप्पणो।

आ०, २, ९५, उ, ५

टीका—जो लोभ करता है, जो तृष्णा-वासना में फंसा रहता है, उसके लिये चारों तरफ से वैर-भावना ही बढ़ती है। उसको प्रति क्षण क्लेश ही क्लेश आते रहते हैं। लोभ में वास्तविक शांति का सर्वथा अभाव है।

(९)

इच्छा कामं च लोभ च,
सज्जओ परिवज्जए।

उ०, ३५, ३

टीका—संयती आत्मा और तत्त्व दर्शी आत्मा अपने में रही हुई इच्छा को, मूर्च्छा को, मूढ़ता को, पांचों इन्द्रियों के काम-गुणों को और लोभ को छोड़ दे।

(१०)

अतुट्ठि दोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आययई अदत्तं।

उ०, ३२, ६८

टीका—जिस प्राणी का चित्त असंतोष से भरा हुआ होता है, वह सदैव दुःखी रहता है। ऐसा प्राणी दूसरे के सुख को देख कर अंदर ही अंदर मन में जला करता है, और लोभांध होकर दूसरे की वस्तु को अदत्ता-रूप से अर्थात् चोरी रूप से-लेने को तैयार हो जाता है।

(११)

इच्छा लोभं न सेविज्जा।

आ० ८, ३९, उ, ८

टीका---सांसारिक पुद्गलों की अथवा सांसारिक सुखों की इच्छा कभी भी नहीं करनी चाहिये। लोभ-तृष्णा का भी परित्याग कर देना चाहिये। लोभ ही-अनर्थों की जड़ है। अतएव लोभ का नाश करना, तृष्णा-जाल को दूर फेंक देना, जीवन-विकास के लिये आवश्यक सीढ़ी है।

(१२)

संतोसिणो नो पकरेंति पावं।

सू०, १२, १५

टीका---संतोषी पुरुष पाप कर्म नहीं करते हैं। संतोष से चित्त वृत्तियां स्थिर होती हैं, और इससे सेवा तथा कर्त्तव्य के मार्ग की तरफ अभिरुचि बढ़ती है। संवर और निर्जरा का आचरण जीवन में बढ़ता है। नवीन कर्म रुकते हैं, और प्राचीन कर्म क्षय होते हैं, इससे आत्मा निर्मल और सबल होती है, यही मोक्ष का मार्ग है।

(१३)

आयं ण कुज्जा इह जीवियट्ठी।

सू०, १०, १०,

टीका---कल्याण के अर्थी पुरुष, संसार का अंत करने वाले पुरुष, चिरकाल तक जीवित रहने की इच्छासे द्रव्य-पदार्थों का संचय नहीं करें। तृष्णा-भाव नहीं रक्खें। धनादि पदार्थों और मकानों का संग्रह नहीं करें।

(१४)

विणीअ तिण्हो विहरे।

द०, ८, ६०

टीका---तृष्णा को हटा कर, लालसा से रहित होकर, जीवन को परम संतोष के साथ व्यतीत करना चाहिये।

(१५)

पहीयए कामगुणेसु तण्हा ।

उ०, ३२, १०७

टीका—शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श, इन काम-भोगों में तृष्णा को हटाओ, इन्हें छोड़ोगे तभी सच्ची शांति प्राप्त होगी ।

(१६)

सव्वं पि ते अपज्जत्तं,
नेव ताणाय तं ।

उ०, १४, ३९

टीका—यदि सारे संसार का वैभव भी प्राप्त हो जाय, तो भी तृष्णा के लिये वह अपर्याप्त है । तृष्णा की शाँति होना अत्यन्त कठिन है । संसार का वैभव आत्मा को जन्म-मरण से मुक्ति प्रदान करने में कदापि समर्थ नहीं हो सकता है । आत्मा की मुक्ति तो भोगों के छोड़ने में ही रही हुई है ।

अधर्म-सूत्र

(१)

अहम्मं कुणमाणस्स,
अफला जन्ति राइओ ।

उ० १४, २४

टीका—अधर्म करने वाले के लिये, पाप का सेवन करने वाले के लिये प्रत्येक रात्रि अर्थात् रात और दिन व्यर्थ ही जा रहे हैं ।

(२)

पडन्ति नरए घोरे,
जे नरा पाव कारिणो ।

उ०, १८, २५

टीका—जो आत्माएं पाप करने वाली हैं, जो पांचों इन्द्रियों के भोग भोगने वाली हैं, जो मोह, माया और ममता में ही मस्त रहने वाली हैं, वे घोर नरक में पड़ती हैं । विविध दुःख को प्राप्त करने वाली होती हैं ।

★

भोग-दुष्प्रवृत्ति-सूत्र

(१)

णिक्खम्म से सेवइ अगारि कम्मं,
ण से पारए होइ विमोयणाए।

सू०, १३, ११

टीका— संयम-मार्ग पर आरूढ़ होकर भी जो पुरुष सांसारिक आरंभ-समारंभ करता है, या भोगों को भोगने की इच्छा करता है, ऐसा पुरुष अपने कर्मों को यानी अपनी दुष्वृत्तियों को और वासनाओं को क्षय नहीं कर सकता है, और इस प्रकार मोक्ष की प्राप्ति भी या अनन्त निर्मलता की प्राप्ति भी-उसे कैसे हो सकती है ?

(२)

भोगा भुत्ता विसफलोवमा,
कडुय विवागा अणुबंध दुहावहा।

उ०, १९, १२

टीका--हमने भोग तो भोगे हैं अथवा भोग रहे हैं, किन्तु इनके फल साक्षात् विष के समान हैं, इनका विपाक-या परिणाम अत्यंत कड़ुआ है. और निरन्तर दुःखों को देने वाला है।

(३)

भुत्ताण भोगाणं परिणामो न सुन्दरो।

उ०, १९, १८

टीका—भुक्त भोगों का परिणाम कभी भी सुन्दर नहीं हो सकता है। इन भोगों का फल कदापि श्रेयस्कर नहीं हो सकता है।

(४)

सद्दाणु गासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइऽणेगरूवे ।

उ०, ३२, ४०

टीका—जो पुरुष शब्द आदि इन्द्रिय-भोगों में सुख की खोज करता है, वह विविध रीति से अनेक त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है ।

(५)

दुक्खाइं अणुहोंति पुणो पुणो,
मच्चु वाहि जरा कुले ।

सू०, १, २६, उ, १

टीका—भोगों में फंसी हुई आत्माऍं बार बार मृत्यु का, रोग का, बुढ़ापे का, संयोग-वियोग का, आदि नाना दु:खों का अनुभव करती हैं।

(६)

रसा पगामं न निसेवियव्वा ।

उ०, ३२, १०

टीका—इन्द्रियों पर संयम की इच्छा रखने वाले को दूध, दही, घृत, तेल, मेवा, मिठाई आदि रस-वर्धक एवं उत्तेजक आहार नहीं करना चाहिये ।

(७)

उवलेवो होइ भोगेसु,
अभोगी नोव लिप्पई ।

उ०, २५, ४१

टीका—पांचों इन्द्रियों के भोगों से कर्मों का ही बन्ध होता है, जीव को भोगों से नानाविध आपत्तियों का और विपत्तियों का ही संयोग होने की परिपाटी कायम होती है । और अभोगी जीव कर्मों से लिप्त नहीं होता है । अभोगी जीव को स्थायी आनन्द और निराबाध सुख की प्राप्ति होती है ।

(८)

भोगी भमइ संसारे,
अभोगी विप्पमुच्चई ।

उ०, २५, ४१

टीका—शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के भोगों में मूर्च्छित भोगी जीव-संसार में एवं नाना योनियों में परिभ्रमण करता ही रहता है। उसका अनन्त जन्म-मरण बढ़ जाता है। किन्तु अभोगी जीव, अनासक्त आत्मा या विषय मुक्त आत्मा, बन्धन के चक्कर से और दुःखों के जाल से छूट जाता है—मुक्त हो जाता है।

(९)

जे गुणे से आवट्टे,
जे आवट्टे स गुणे ।

आ०, १, ४१, उ, ५

टीका—जहाँ पांचों इन्द्रियों के भोग हैं, वहाँ संसार है। और जहाँ संसार है, वहाँ पांचों-इन्द्रियों के भोग हैं। भोग और संसार का परस्पर में कार्य-कारण सम्बन्ध है, सहयोग सम्बन्ध है, तदुत्पत्ति सम्बन्ध है। भोगों के छोड़ने पर ही संसार का तथा सांसारिक तृष्णा और व्यामोह का भी छुटकारा हो सकेगा। गुण यानी भोग और आवट्ट यानी आवर्त्तन-सांसारिक जन्म मरण का चक्र।

(१०)

पुणो पुणो गुणासाए,
वंकसमायारे ।

आ०, १, ४४, उ, ५

टीका—जो पुरुष बार बार इन्द्रियों के भोगों का आस्वादन करता है, भोगों में ही तल्लीन रहता है, वह असंयमी है, वह पतित है, वह भ्रष्ट है। उसमें आत्म-बल, ज्ञान-बल और कर्मण्यता-बल कभी भी विकसित नहीं हो सकते हैं, और जीवन में असंयम के

कारण उसे अनेक नीच योनियों में जन्म-मरण और नानाविध दुःख का संयोग ग्रहण करना पड़ेगा।

(११)

जे गुणे से मूल ट्ठाणे,
जे मूल ट्ठाणे से गुणे।

आ०, २, ६३, उ, १

टीका—जो आत्मा शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श आदि भोगों में फँसा हुआ है, वह संसार के राग-द्वेष रूपी कीचड़ में ग्रसित है ही इसी प्रकार जो संसार के राग-द्वेष में ग्रसित है, वह पांचों इन्द्रियों के भोगों में अवश्यमेव ग्रसित है, जो गुण में यानी भोग में है, वह मूलस्थान में अथवा राग द्वेष में है और जो मूल स्थान में है, वह गुण में है ही।

(१२)

काम समणुन्ने असमिय दुक्खे,
दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणु परियट्टई।

आ०, २, ८२, उ, ३

टीका—जो मनुष्य काम-भोगों को ही प्रिय समझता है, उसके दुःख कभी भी शान्त नहीं होते हैं, वह सदैव दुःखी होता हुआ ही दुःखों की परम्परा को प्राप्त करता रहता है।

(१३)

जीवियं दुप्पडिवूहगं।

आ०, २, ९३, उ, ५

टीका—जो मनुष्य काम-भोगों में फँसकर अपना जीवन पूरा कर देता है, उसको पीछे घोर पश्चात्ताप करना पड़ता है, क्योंकि जीवन तो जितना है, उतना ही रहेगा, वह तो बढ़ाया नहीं जा सकता है, बल्कि भोगों के कारण अकाल मृत्यु भी हो सकती है। अतएव भोग में ग्रस्त रहना मूर्ख आत्माओं की वृत्ति है।

(१४)

सव्वओ पमत्तस्स भयं ।

आ० ३, १२४, उ, ४

टीका—जो प्रमादी है, जो विषय में, विकार में, वासना में, तृष्णा, आदि में फंसा हुआ है, उसको हर तरह से भय, चिन्ता और अशांति घेरे रहती है। प्रमादी को सब तरह से और सब ओर से भय ही बना रहता है।

(१५)

मंदा विसीयंति,
मच्छा विद्धा व केयणे ।

सू०, ३, १३, उ, १

टीका—भोगों में मूर्च्छित जीव एवं मोह में डूबे हुए जीव इस तरह दुःख पाते हैं, जैसे कि जाल में फंसी हुई मछली दुःख पाती है। भोग ही रोग का और दुःख का घर है।

★

अनिष्ट-प्रवृत्ति-सूत्र

(१)

संतप्पती असाहुकम्मा ।

सू०, ५, ६, उ, २

टीका—नीच कर्म करने वाला पुरुष महान् वेदनाऐं और ताप भोगता है। पाप और ताप का स्वाभाविक संबंध है।

(२)

दुक्खो इह दुक्कडेणं ।

सू०, ५, १६, उ, १

टीका—दुष्कृत से, इन्द्रिय-भोगों से, मन की वासनाओं से और तृष्णा से, इस लोक में भी अर्थात् इस जीवन में भी दुःख प्राप्त होते हैं और मरने पर भी दुःख प्राप्त होते हैं।

(३)

जे गारवं होइ सलोग गामी,
पुणो पुणो विप्परियासुवेति ।

सू०, १३ १२

टीका—जो अभिमान करता है, या जो अपनी स्तुति की यशः-कीर्त्ति की इच्छा रखता है, वह बार बार संसार में जन्म-मरण आदि दुःखों को भोगता है, वह अनिष्ट और विपरीत संयोगों को प्राप्त करता है, एवं तदनुसार नाना दुःखों का वह भागी बनता है।

(४)

पाविणी अप्पा दीसंति दुहमेहंता ।

द०,९ , ७, द्वि, उ,

टीका—अविनीत आत्माएं-विकथा, कलह, हास्य, व्यसन, निद्रा, प्रमाद, आज्ञा-विराधना आदि दुर्गुणों में ग्रस्त आत्माएं दुःख, रोग, वियोग, अपयश, अकीर्ति, विपत्ति, दरिद्रता, दुर्गति आदि अनिष्ट और अप्रिय संयोगों को प्राप्त करती हुई देखी जाती हैं।

(५)

वुज्झइ से अविणी अप्पा,
कट्ठं सोअगयं जहा।

द०, ९, ३, द्वि, उ

टीका—जेसे समुद्र में सूखी लकड़ी का टुकड़ा कहीं का कहीं बह जाता है और लापता हो जाता है, वैसे ही अविनीत पुरुष भी धर्म-भ्रष्ट होकर संसार-समुद्र में डूब जाता है। अनन्त जन्म-मरण की वृद्धि कर लेता हं।

(६)

न आवि मुक्खो गुरू हीलणाए।

द०, ९, ७, प्र, उ

टीका—गुरु की हीलना करने से, गुरु का अविनय करने से, उन की आज्ञा का भंग करने से, मोक्ष को प्राप्ति नहीं हो सकती है।

(७)

आसयण नत्थि मुक्खो।

द०, ९, ५, प्र, उ

टीका—आसातना में, यानी दृढ़ श्रद्धा के अभाव में, अविनय में और आज्ञा-भंग में मोक्ष नहीं रहा हुआ है। विकार-पोषण में और विकथा में मोक्ष का अभाव है।

(८)

सिक्खं लज्जइ गुणवं, विहरिज्जासि।

द०, ९, १२, च, द्वि

टीका—लज्जा रहित जीवन और गुण रहित जीवन पृथ्वी पर भार-भूत है। इसलिये जीवन-विकास के लिये लज्जा शील और गुण शील होना चाहिये।

(९)

अगुणप्पेही ण आराहेइ संवरं।

द०, ५, ४३, उ, द्वि

टीका—गुणों को नहीं देखने वाला यानी छल-छिद्र को और अवगुणों को ही देखने वाला, संवर-धर्म का भागी नहीं हो सकता है, उसके लिये आश्रव अवस्था ही रहती है। उसकी आत्मा के साथ कर्मों का घोर बंधन होता रहता है।

(१०)

पूयणट्ठा जसो कामी,
बहुं पसवइ पावं।

द०, ५, ३७, उ, द्वि०

टीका—पूजा की, यश की इच्छा करने वाला, बहुत पाप का भागी होता है, क्योंकि पूजा, सन्मान और यश में आसक्ति रहने से, कपट, कृत्रिमता, झूठ आदि नाना पापों के साथ घोर पतन प्रारम्भ हो जाता है। इसलिये पूजा-सन्मान की और यश-कीर्ति की कामना नहीं रखना चाहिये।

(११)

असेयकरी अन्नेसी इंखिणी।

सू०, २, १, उ, २

टीका—दूसरे की निन्दा करने की बुराई कल्याण का नाश करने वाली है। पर-निन्दा करने से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, इससे कषाय-भाव पैदा होते हैं। इसलिये पर-निन्दा करना आत्म घातक है और वह संसार को बढ़ाने वाली है।

(१२)

जो परिभवइ परं जणं,
संसारे परिवत्तई महं ।

सू०, २, २, उ, २

टीका—जो पुरुष दूसरे का तिरस्कार करता है, जो दूसरे का अपमान करता है, वह संसार में चिर काल तक घूमता है, वह अनेक-जन्म और मरण करता है ।

(१३)

इंखिणिया उ पाविया ।

सू०, २, २, उ, २

टीका—पर निन्दा साक्षात् पाप की प्रति-मूर्त्ति है, पाप की निधि ही है ।

(१४)

दुस्सील पडिणीए मुहरी निक्कसिज्जई ।

उ०, १, ४

टीका—दुराचारी, प्रतिकूल वृत्ति वाला और वाचाल प्रत्येक स्थान पर धिक्कारा जाता है । वह दुत्कारा जाता है । वह बहिष्कृत किया जाता है ।

(१५)

पडिणीए असबुद्धे अविणीए ।

उ०, १, ३

टीका—व्यवहार से और मर्यादा से प्रतिकूल वृत्ति वाला, तथा समझदारी यानी योग्यता नहीं रखने वाला अविनीत कहलाता है । वह विनय-शून्य कहा जाता है ।

(१६)

वेराणुबद्धा नरयं उवेंति ।

उ०, ४, २

टीका—जो अन्य जीवों से वैर बांधता हैं, जो हिंसा, कष्ट, पराधिकार-अपहरण आदि रूप वैर कार्य करते हैं, वे मर कर नरक में उत्पन्न होते हैं। वे घोर-कष्ट प्राप्त करते हैं।

(१७)

पमत्ते अगार मावसे।

आ०, १, ४५, उ, ५

टीका—जो पुरुष साधु वेश धारण करके भी अर्थात् त्याग-भावना का वेश धारण करके भी शब्द आदि इन्द्रिय-विषयों में अनुरागी है, वह द्रव्य साधु है, वह दिखाऊ त्यागी है। ऐसा पुरुष तो भोगों में फंसे हुए पुरुष के समान ही है। गृहस्थ-पुरुष के समान ही वह आरंभी-समारंभी है। वह पाप-पंक में ही मग्न है।

(१८)

दोसं दुग्गइ वड्ढणं।

द०, ६, २९

टीका—दोष यानी आत्म-निर्बलता ही दुर्गति को बढ़ाने वाली है। इसलिये आत्मा को सबल, निर्भय, साहसी और सेवा-मय बनाना चाहिये।

(१९)

सप्पहासं विवज्जए।

द०, ८, ४२

टीका—अत्यन्त हंसना भी नहीं चाहिये। क्योंकि अधिक हंसना असभ्यता का द्योतक है। यह गैर जिम्मेदारी को बढ़ाने वाला होता है।

(२०)

जे इह आरंभ निस्सिया, आत दंडा।

सू०, २, ९, उ, ३

टीका—जो पुरुष यहाँ पर आरंभ-परिग्रह में ही एवं स्वार्थ-पोषण में ही रत रहते हैं, वे अपनी आत्मा के प्रति घोर अन्याय करते हैं, अपनी आत्मा के लिये वे नाना प्रकार का दुःख संचय करते हैं।

(२१)

मज्ज मंसं लसुणं च भोच्चा,
अन्नत्थ वासं परिकप्पयंति।

सू०, ७, १३

टीका—प्राणी मोह-वश, एवं भोग वश, भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार न कर, मद्य, मांस लशुन आदि अभक्ष्य पदार्थों को भोग कर अपना संसार बढ़ाया करते हैं। इन्द्रिय-तृष्णा पर क्या कहा जाय ? मनुष्य इन्द्रियों के दास बन कर नाना दुःख उठाया करते हैं।

(२२)

रसाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।

उ०, ३२, ७१

टीका—जो मनुष्य रात और दिन रसों में ही अनुरक्त है, उसको कभी भी कैसे सुख मिल सकता है।

(२३)

दुक्खी मोहे पुणो पुणो।

सू० २, १२, उ, ३

टीका—दुःखी-प्राणी बार बार मोह को प्राप्त होता रहता है। वह बार बार भले और बुरे के विवेक से रहित होता रहता है।

(२४)

पावाइं कम्माइं करंति रुद्दा,
तिव्वाभितावे नरए पडंति।

सू०, ५, ३, उ, १

टीका—प्राणियों के लिये नाना प्रकार का भय उत्पन्न करने वाले अज्ञानी जीव, सकारण और अकारण घोर पाप करते रहते हैं, और वे मर कर तीव्र ताप वाली एवं घोर अंधकार वाली तथा महा दुख देने वाली नरक में जाकर उत्पन्न होते हैं।

(२५)

पावोवगा य आरंभा,
दुक्खफासा य अंतसो।

सू०, ८, ७

टीका--आरंभ-समारंभ ही, और तृष्णा की तृप्ति के लिये किया जाने वाला प्रयत्न ही, हिंसा झूठ आदि पाप को उत्पन्न करता है, और अन्त में परिणाम स्वरूप दुःख की परंपरा ही उत्पन्न होती है।

(२६)

भुज्जो भुज्जो दुहावासं,
असुहत्तं तहा तहा।

सू०, ८, ११

टीका—अज्ञान-भाव, स्वार्थ-भाव, इन्द्रिय-पोषण भाव और भोग-उपभोग की वृत्ति, ये सब जीव को बार बार दुःख ही दुःख देती रहती हैं, और ज्यों ज्यों अज्ञानी जीव दुःख-भोगता है, त्यों त्यों उसका अशुभ-विचार बढ़ता जाता है। इस प्रकार अज्ञान से अशुभ विचार और अशुभ-विचार से दुःखोत्पत्ति-यह चक्र चलता ही रहता है।

(२७)

मिच्छ दिट्ठी अणारिया।

सू०, ३, १३, उ, ४

टीका—जो अनार्य हैं, जो मांस-मदिरा के खाने वाले हैं, जो

अहिंसा और ब्रह्मचर्य में विश्वास नहीं रखने वाले हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं, वे अनार्य हैं, और जो अनार्य हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं।

(२८)

असमियंति मन्नमाणस्स,
समिया वा असमिया वा असमियाहोइ।

आ०, ५, १६४, उ, ५

टीका—जो आत्मा ज्ञान में, दर्शन में और चारित्र में विश्वास नहीं करता है, जो जिन-वचनों के प्रति अश्रद्धा प्रकट करता है, वह मिथ्यात्वी है। उस मिथ्यात्वी के लिये सत्य भी झूठ हो जाता है। और झूठा ज्ञान तो उसके लिय झूठा है ही। यानी सत्य और झूठ दोनों ही उस मिथ्यात्वी के लिये झूठ रूप ही हैं। यह मिथ्यात्व-श्रद्धा का परिणाम है।

(२९)

पाव दिट्ठी विहन्नई।

उ०, २, २२

टीका—पाप दृष्टि वाला प्राणी विकार का और विषय का पोषण करने वाला होता है। वह मर्यादा का उल्लंघन करने वाला होता है। वह वीतराग भगवान की वाणी और आज्ञा की विराधना करता है।

(३०)

अणियते अयं वासे,
णायएहि सुहीहि य।

सू०, ८, १२

टीका—आत्मा-अज्ञानवश "यह मेरा, यह मेरा" ऐसा कहता ही रहता है और अपने आपको इस मोह में भूलाये रखता है। परन्तु

आत्मा इस बात को भूल जाता है कि ज्ञाति वालों के साथ और बन्धु-बांधवों के साथ तथा वैभव एवं सुख सुविधाओं के साथ आत्मा का सम्बन्ध अनित्य है और एक दिन इन सब को छोड़ कर जाना है।

(३१)

वीरा असमत्त दंसिणो,
असुद्धं तेसिं परक्कंतं।

सू०, ८, २२

टीका—जो मिथ्यात्वी हैं, यानी जिनकी दृष्टि में पौद्गलिक सुख प्राप्त करना ही एक मात्र ध्येय है, ऐसे पुरुष भले ही वीर हों परन्तु उनका सारा प्रयत्न चाहे वह सत् हो या असत् कैसा भी हो—तो भी वह अशुद्ध ही है यानी पाप मय ही है। क्योंकि उनकी भावना, उनका दृष्टिकोण विपरीत है, इसलिये वे संसार में परिभ्रमण कर्त्ता है ।

(३२)

णिद्दं पि नो पगामाए।

आ०, ९, ६९, उ, २

टीका—जिसको अपनी आत्मा का कल्याण करना है, उसके लिये अति निद्रा लेना अपराध है। अति निद्रा लेना प्रमाद है, और प्रमाद सेवन से इन्द्रियाँ सुख की अभिलाषा करने लग जाती हैं। इस प्रकार पतन का प्रारम्भ हो जाता ह, इसलिये अति-निद्रा लेना आत्म- घातक पाप समझो ।

(३३)

तेसिं पि तवो ण सुद्धो,
निक्खंता जे महाकुला।

सू०, ८, २४

टीका—जो महापुरुष-चाहे वे बड़े कुल के ही क्यों न हों, किन्तु यदि उनके तप करने का और पर सेवा करने का ध्येय अपनी यशः

कीर्त्ति और मान मर्यादा प्राप्त करने मात्र जितना ही है, तो उनका यह तप और सेवा कार्य शुद्ध और हितावह नहीं कहा जा सकता है। बल्कि संसार बढ़ाने वाला ही कहा जायगा।

(३४)

कीवा जत्थ य किस्संति,
नाइ संगेहिं मुच्छिया।

सू०, ३, १२, उ, २

टीका—नपुंसक यानी दुर्बल आत्मा वाले पुरुष अपने ज्ञाति वर्ग वालों के साथ, या माता-पिता, पुत्र, भाई-बन्धु आदि के साथ मोह में पड़ कर और भोगों से सम्बन्ध जोड़ कर, कर्त्तव्य-मार्ग से भ्रष्ट हो जाते है और बाद में पश्चात्ताप करते हैं, इस प्रकार वे घोर दुःख उठाते हैं।

(३५)

आरंभा विरमेज्ज सुव्वए।

सू०, २, ३, उ, १

टीका—आरम्भ-समारम्भ के कामों से, जीव-हिंसा और पर-पीड़न के कामों से, बड़े २ कल-कारखानों से, आत्म-हित की इच्छा वाला पुरुष दूर ही रहे। बड़े २ कल-कारखाने अनीति का प्रचार करने वाले, बेकारी को बढ़ाने वाले, जीव-हिंसा को उत्तेजना देने वाले, तृष्णा को बढ़ाने वाले और मोह में ग्रस्त करने वाले होते हैं।

(३६)

चउहिं ठाणेहिं जीवा तिरिक्ख
जोणियत्ताए, कम्मं पगरेंति,
माइल्लयाए, नियडिल्लयाए,
अलियवयणेणं, कूड तुल्ल कूड माणेणं।

ठाणां०, ४ था, ठा, उ, ४, १९

टीका—चार प्रकार के कामों से जीव तिर्यंच-गति का बंध करते हैं:—१, माया के कामों से, २ वंचना करने से ठगाई से, ३ असत्य बोलने से और ४ खोटा तोल तथा खोटा माप करने से।

(३७)

चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए
कम्मं पगरेंति, महारंभयाए,
महापरिग्गहयाए, पचेंदिय वहेणं,
कुणिमहारेणं।

ठाणां०, ४ था, ठा, उ, ४, ३९

टीका—चार प्रकार के कामों से जीव नरक-गति का बंध करते हैं:—१ महा आरंभ के कामों से, २ महा परिग्रह से, ३ पंचेन्द्रिय जीवों की घात करने से और ४ मांस का आहार करने से।

(३८)

पाणा पाणे किलेसेंति।

आ०, ६, १७४, उ, १

टीका—प्राणी ही प्राणियों को दुःख देते हैं। राग-द्वेष-वशात् और कषाय-विकार-वशात् परस्पर में कलह करते हैं। एक-दूसरे को हानि पहुँचाते हैं। एक दूसरे की हत्या करते हैं। परस्पर में ताड़ना, फटकारना—मारना—आदि क्लेश वर्धक कार्य करते हैं।

(३९)

तिविहा उवही,
सच्चित्ते, अच्चित्ते, मीसए।

ठाणां, ३, रा, ठा १, ला, ३, २७

टीका—वस्तुओं का संग्रह करना उपाधि है और वस्तुओं पर ममता-भाव रखना परिग्रह है। उपाधि तीन प्रकार की कही गई हैं:—१ सचित्त उपाधि, २ अचित्त उपाधि, और ३ मिश्र उपाधि।

दास, दासी, नौकर-चाकर, पशु, पक्षी आदि का संग्रह करना सचित्त उपाधि है। मोटर, गाड़ी, खेत, मकान, सोना, चाँदी, धान्य आदि का संग्रह करना अचित्त उपाधि है। सचित्त-अचित्त-दोनों का संग्रह मिश्र उपाधि है।

(४०)

छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्खं।

उ०, ४, ८

टीका—इच्छाओं को तथा वासनाओं को, और आसक्ति को रोकने से ही, इन पर काबू करने से ही आत्मा मोक्ष प्राप्त कर सकती है। इच्छा, वासना और आसक्ति पर काबू नहीं करने वाला अनन्त जन्म-मरण करता है।

★

बाल-जन-सूत्र

(१)

बाल भावे अप्पाणं नो उवदंसज्जा ।

आ०, ५, १६४, उ,५

टीका—अन्य साधारण पुरुषों द्वारा आचरित मार्ग पर अपनी आत्मा को नहीं लगाना चाहिये, यानी जन-साधारण के मार्ग पर अपने जीवन को नहीं खेंचना चाहिये । बल्कि जिस मार्ग को ऋषि-मुनियों ने और संत-महात्माओं ने श्रेष्ठ बतलाया है उसी पर चलना चाहिये । साधारण आदमियों का ज्ञान और आचरण सामान्य कोटि का, एवं इन्द्रिय-सुख प्राप्ति का होता है । साधारण आदमी तत्त्व के तह तक कैसे पहुँच सकते हैं ? अतएव आदर्श मार्ग का अवलंबन करो ।

(२)

बाले य मन्दिए मूढ,
बज्झई मच्छिया व खेलम्मि ।

उ०, ८, ५,

टीका—बाल यानी आत्मा के गुणों की उपेक्षा करने वाला, मंद यानी हित और अहित का विवेक नहीं रखने वाला, मूढ़ यानी काम भोगों में और इन्द्रिय-विकारों में मूच्छित रहने वाला, संसार-चक्र में इस प्रकार फंस जाता है, जैसे कि मक्खी नाक और मुख के मल में यानी श्लेष्म में फँसकर जीवन खतम कर देती है । इसी प्रकार भोगी आत्मा भी अपने सभी गुणों का नाश कर देती है ।

(३)

बालाणं मरणं असइं भवे।

उ०, ५, ३

टीका—मूर्खों की, अज्ञानियों की और भोगियों की मृत्यु बार-बार होती है। उनको अनेक जन्म-मरण करने पड़ते है।

(४)

लुप्पन्ति बहुसो मूढा,
संसारम्मि अणन्तए।

उ०, ६, १

टीका—मूढ़ आत्माऐं यानी विषय और विकारों में ही मूर्च्छित रहने वाली आत्माऐं, इस दुःख पूर्ण संसार में अनन्त बार जन्म और मरण के चक्कर में फँसती है और निरन्तर दुःख ही दुःख भोगती हैं।

(५)

अकोविया दुक्खं ते नाइतुट्टंति,
सउणी पंजरं जहा।

सू०, १, २२, उ, २

टीका—जैसे पक्षी पींजरे को नहीं तोड़ सकता है, वैसे ही अकोविद यानी भोगों में मूर्च्छित प्राणी, आसक्त-प्राणी भी कर्म-बन्धन को नहीं तोड़ सकते है। मूढ़ आत्माऐं तो निरन्तर कर्मों के जाल में फँसती ही रहती है।

(६)

न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला।

सू०, १२, १५

टीका—अज्ञानी जीव तृष्णा और भोगों में फँसे रहते है। इसलिये वे निरन्तर पाप का ही आश्रव करते रहते है और अपने कर्मों का क्षय नहीं कर सकते है। निरन्तर आश्रव होने से निर्जरा का

मौका ही कैसे मिल सकता है ? आश्रव रुके तो संवर की और निर्जरा की सम्भावना हो ।

(७)

अट्टेसु मूढे अजरामरेव्व ।

सू०, १०, १८

टीका—मूढ़ आदमी तृष्णा और वासना के वश होकर धन कमाने में इतना अंधा, आसक्त और अविवेकी हो जाता है कि मानों वह कभी मरेगा ही नहीं । मानों कभी उसको बुढ़ापा आवेगा ही नहीं ।

(८)

अन्नं जणं खिंसति बालपन्ने ।

सू०, १३, १४

टीका—मूर्ख पुरुष, मंदमति पुरुष, अन्य जनों की निंदा करता ही रहता है । अज्ञानी को दूसरे की निंदा करने में ही आनन्द आता है । बाल बुद्धि पुरुष दूसरे का तिरस्कार ही करता है ।

(९)

जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं,
न तं सुइट्ठं कुसला वयन्ति ।

उ०, १२, ३८

टीका—जो केवल बाह्य-विशुद्धि को ही, स्नान-शृंगार-शरीर-सफाई को ही सब कुछ मानते हैं और इसी में कर्त्तव्य की इतिश्री समझते हैं, उन्हें ज्ञान शील पुरुष सुयोग्य, सुदृढ़ और धर्मानुगामी नहीं कहते हैं । आन्तरिक शुद्धि अर्थात् कषाय त्याग के अभाव में बाह्य-शुद्धि निरर्थक है । यह तो मृत पुरुष को शृंगारित करने के समान है ।

(१०)

मिच्छादिट्ठी अणारिया,
संसारं अणुपरियट्टंति ।

सू०, १, ३२, उ, २

टीका—जो मिथ्या दृष्टि हैं, जो भोग-उपभोग को ही सर्वस्व समझने वाले हैं, इन्द्रिय-सुख को ही मोक्ष का सुख समझने वाले हैं, वे अनार्य हैं। और इससे संसार में परिभ्रमण करना ही उनके जीवन का प्रमुख अंग बन जाता है। यानी ऐसी आत्माएं संसार में ही परिभ्रमण करती रहती हैं।

(११)

न सरणं बाला पंडिय माणिणो ।

सू०, १, १ उ, ४

टीका—जो पंडित या आत्म ज्ञानी नहीं होते हुए भी अपने आप को पंडित मानते हैं और इन्द्रिय भोगों में फंसे हुए हैं, ऐसी बाल आत्माओं के लिये संसार में कहीं भी शरण नहीं है, उनके लिये कहीं भी वास्तविक सुख नहीं है। ये आत्माएं तो फुट बाल (Foot Ball) के समान इधर की उधर जन्म-मरण करती रहती हैं।

(१२)

बाल जणो पगब्भइ ।

सू०, २१, उ, २

टीका—जो मूर्ख हैं, जो वासना और विषय में मूर्च्छित है, वही पापी हैं। मूर्च्छा ही पाप है।

(१३)

बाले पापेहिं मिज्जती ।

सू०, २, २१, उ, २

टीका—विवेक हीन आत्माऐं पापों से लिप्त होती हैं। विवेक हीन का सत्कार्य भी असत्य कार्य ही है। ऐसी आत्माएं पौद्गलिक सुख को ही वास्तविक सुख समझती हैं।

(१४)

वित्तं पसवो य नाइओ,
तं बाले सरणं ति मन्नइ ।

सू०, २, १६, उ, ३

टीका—मूर्ख प्राणी, विषयासक्त प्राणी ही धन को, पशु को, कुटुम्ब को, ज्ञाति-बन्धुओं को अपना शरण देने वाले मानता है। उन्हें आधार-भूत मानता है। "ये मुझे दुःख से बचा सकेंगे" ऐसी मान्यता रखता है।

(१५)

हिंडंति भयाउला सढा,
जाइ जरा मरणेहिं अभिद्दुता ।

सू०, २, १८, उ, ३

टीका—जन्म, जरा और मरण से पीड़ित प्राणी, भयाकुल शठ प्राणी, भोगी प्राणी बार बार संसारचक्र में भ्रमण करते हैं। भोगों से इस लोक और परलोक में नाना दुःख उठाते हैं, नाना कष्ट सहते हैं।

(१६)

मंदा मोहेण पाउडा ।

सू०, ३, ११ उ, १

टीका—मूर्ख प्राणी, वासना-ग्रसित प्राणी, विवेकहीन प्राणी, मोह से ढके हुए रहते हैं। उन्हें हित का और अहित का भान नहीं रहता है। ऐसे जीव भोग-सुख को ही आत्म-सुख समझते हैं। स्वछंदता को ही स्वतंत्रता समझते हैं।

(१७)

बुद्धामोति य मन्नंता,
अंत ए ते समाहिए ।

सू०, ११, २५

टीका--जो अपने आप को ज्ञानी मानते हैं, स्वयं को पंडित समझते हैं, तथा ऐसी धारणा रखते हैं कि हम तो परिपूर्ण ज्ञाता हैं, वे अभिमानी हैं, उनका आत्मविकास रुक जाता है, वे वास्तविक मार्ग से बहुत दूर हैं तथा उनका बाल मरण होने से अंत में उन्हें नरक गति, तिर्यंच गति आदि नीच गति की ही प्राप्ति होती है।

(१८)

सीयंति अबुहा ।

सू०, ३, १४, उ, २

टीका--अज्ञानी पुरुष, कर्त्तव्य-मार्ग से पतित होकर और भोगों में आसक्त होकर, महा दुःख भोगते हैं।

(१९)

कीवा वसगया गिहं ।

सू०, ३ १७ उ, १

टीका--कायर पुरुष, इन्द्रियों के दास पुरुष, निर्बल आत्मा-वाले पुरुष, स्व-पर के कल्याण मार्ग में आने वाले उपसर्गों से, कठिनाइयों से घबरा कर पुनः संसार मार्ग पर और इन्द्रिय-पोषण मार्ग पर चलने लग जाते हैं। यानी सेवा-मार्ग को या धर्म-मार्ग को त्याग देते हैं।

(२०)

मंदा विसीयंति,
उज्जाणंसि व दुब्बला ।

सू०, ३, २० उ, २

टीका--जैसे दुर्बल बैल ऊंचे मार्ग में दुःख पाते हैं, गिर जाते हैं और महान् वेदना का अनुभव करते हैं, वैसे ही वासना-ग्रसित और मूर्च्छित मूर्ख जीव भी विभिन्न जन्मों में नाना प्रकार के दुःख उठाते हैं। इन्हें अनेक प्रतिकूल पदार्थों का और प्रिय वस्तुओं के वियोगों का सामना करना पड़ता है।

(२१)

बद्धे विसय पासेहिं,
मोह मावज्जइ पुणो मंदे ।

सू०, ४, ३१, उ, १

टीका—विषय-वासना रूपी जाल में फंसा हुआ मूर्ख मनुष्य बार बार मोह को प्राप्त होता है। वह आत्मा का स्वरूप भूल जाता है, और संसार में अनेक जन्म-मरण की वृद्धि करता है, नाना तरह के प्रतिकूल संयोग-वियोग को वह प्राप्त करता रहता है।

(२२)

रागदोसस्सिया बाला,
पाव कुव्वंति ते बहुं ।

सू०, ८, ८,

टीका—राग-द्वेष के आश्रित होकर तथा मूर्च्छा और ममता में पड़ कर, मूर्ख जीव या अज्ञानी और स्वार्थी जीव नाना प्रकार के पाप कर्म और जघन्य कर्म-करते रहते हैं। वे अंत में दुःख प्राप्त होने पर पश्चात्ताप करते हैं।

(२३)

कूराइं कम्माइं बालपकुव्वमाणे,
तेण दुक्खेण संमूढे विप्परियास मुवेइ ।

आ० २, ८१, उ, ३

टीका—जो मंद बुद्धि वाला है, जो मूर्ख है, ऐसा बाल प्राणी क्रूर कर्म करता है, घोर पाप पूर्ण कर्म करता है। अंत में उन कर्मों के कारण उत्पन्न दुःख से वह मूढ़ होता हुआ, हित-अहित के विवेक से शून्य होता हुआ विपर्यास स्थिति को प्राप्त होता है, राग-द्वेष के चक्कर में फंस जाता है। इस प्रकार मूढ़ बुद्धि वाले की संसार-परम्परा चक्रवत् चालू ही रहती है।

(२४)

मंदस्सा विआणओ ।

आ० १, ५०, उ, ६

टीका—जो मंद बुद्धि है, यानी मिथ्या-शास्त्रों के कारण से जिसकी बुद्धि में भ्रम आ गया है, जो सांसारिक-विषय-वासना को ही सर्वस्व और आराध्य मानता है, वह विवेक हीन है, और ऐसा पुरुष चिर काल तक नाना दुःखों का भाजन बनता है ।

(२५)

मंदा नरयं गच्छन्ति,
बाला पावियाहिं दिट्ठीहिं ।

उ०, ८, ७

टीका—मन्द यानी हित और अहित का विवेक नहीं रखने वाले और बाल यानी आत्मा के गुणों की उपेक्षा करने वाले, पाप-पूर्ण विचारों में ही ग्रस्त रहने के कारण से तथा अनीति पूर्ण आचरणों में ही ग्रस्त रहने के कारण से मर कर नरक में जाते हैं, नीच गति में जाते हैं ।

(२६)

ममाइ लुप्पई बाले ।

सू०, १, ४ उ, १

टीका—"यह मेरा है" ऐसा करके ही मूर्ख आत्मा पापों से-दुष्ट कार्यों से और दुर्भावनाओं से परिलिप्त होती हैं । संसार-समुद्र में डूबती हैं ।

(२७)

सत्ता कामे हि माणवा ।

उ०, १, ६, उ, १

टीका—मंद बुद्धि वाले मनुष्य ही कामों में-यानी इन्द्रीय-भोगों में आसक्त रहते हैं । मूर्च्छित रहते हैं ।

(२८)

अज्ञाणिया नाणं वयंतावि,
निच्छयत्थं न याणंति

सू०, १, १६, उ, २

टीका—अज्ञानी आत्माएं-यानी सांसारिक- भोगों में ही सुख मानने वाली आत्माएं ज्ञान संबंधी चर्चा करती हुई भी निश्चित अर्थ को नहीं जानती हैं। सच्चे मार्ग को या मोक्ष-मार्ग को नहीं जानती हैं।

(२९)

अप्पणो य परं नालं,
कुतो अन्नाणु सासिउं।

सू०, १, ११७, उ, २

टीका—अज्ञानी पुरुष या भोगी पुरुष जब स्वयं को भी ज्ञान देने में समर्थ नहीं हैं, तब वे अन्य को तो ज्ञान दे ही कैसे सकते हैं ? भोगी-पुरुषों द्वारा स्व-पर-हित की साधना नहीं हो सकती है।

(३०)

अन्नप्पमत्ते धणमेसमाणे,
पप्पोति मच्चुं पुरिसे जरं च।

उ० १४, १४

टीका—दूसरों के लिये दूषित प्रवृत्ति करने वाला और धन कमाने में ही जीवन समाप्त कर देने वाला अन्त में बुढ़ापा तथा मृत्यु को प्राप्त कर असह्य कष्टों को प्राप्त होता है।

(३१)

पवड्ढती वेरं मसंजतस्स।

उ०, १०, १७

टीका—जो अपनी इन्द्रियों और मन पर काबू नहीं रखता है, वह असंयमी है। प्रतिदिन विभिन्न प्राणियों के साथ असंयम के कारण उसका वैर-विरोध और शत्रुता बढ़ती रहती है।

(३२)

सव्वं विलवियं गीयं,
सव्वं नट्टं विडम्बियं ।

उ०, १३ १६

टीका—संसार के गीत-गायन विलाप रूप हैं, और सब प्रकार का खेल-तमाशा, मनोरंजन-कार्य, नाचना, नाटक आदि विडम्बना रूप हैं, क्योंकि ये क्षण भर के लिये आनंददायी हैं और अंत में परिणाम की दृष्टि से विष समान हैं।

(३३)

सएण दुक्खेण मूढे विप्परियास मुवेइ ।

आ०, २; ९८, उ, ६

टीका—मोह और अज्ञान के कारण भोगों में फंसा हुआ मूर्ख प्राणी अपने ही किये हुए कर्मों के कारण दुःख पाता है; और सुख का प्रयत्न करने पर भी दुःख ही का संयोग मिलता है। कर्मों के कारण अच्छा करने के प्रयत्न में भी बुरा संयोग ही पाता है।

(३४)

जरा मच्चु व सोवणीए नरे,
सययं मूढे धम्मं नाभि जाणइ ।

आ०, २, १०९, उ, १

टीका—महामोहनीय कर्म के उदय के कारण मूढ़ आत्मा अज्ञान में ग्रसित होता हुआ तथा मृत्यु और जन्म के चक्कर में ही सदैव घूमता हुआ धर्म के स्वरूप को और ज्ञान-दर्शन-चारित्र के रहस्य को नहीं समझ सकता है। वह इस चक्कर से नहीं छूट सकता है।

(३५)

कायरा जणा लूसगा भवंति ।

आ० ६, १९० उ, ४

टीका—जो मनुष्य कायर होते हैं, अस्थिर और चंचल बुद्धि के होते हैं, वे अन्त में जाकर धर्म से भ्रष्ट हो जाते हैं। वे सम्यक् दर्शन से पतित हो जाते हैं, और अपना अनन्त जन्म मरण रूप संसार बढ़ा लेते हैं। कायर पुरुष हर कार्य में विफल होता है, अयशस्वी होता है।

(३६)

सीयन्ति एगे बहु कायरा नरा।

उ०, २०, ३८

टीका—अनेक आत्माएं कायर बनकर, निर्बल बनकर, नैतिक और आध्यात्मिक मार्ग पर चलने में असमर्थ होकर दुःखी बन जाती हैं। हतोत्साह होकर शुभ-कार्य से हट जाना ही कायरता है। ऐसी कायरता ही विनाश का मार्ग है।

(३७)

कुप्पवयण पासंडी,
सव्वे उम्मग्ग पट्ठिया।

उ०, २३, ६३,

टीका—कुदर्शन वादी सभी पाखंडी हैं, मिथ्यात्वी हैं, वे सब उन्मार्ग में—मोक्ष मार्ग से सर्वथा विपरीत मार्ग में स्थित हैं। क्योंकि उनका ध्येय संसार के भोगों को भोगने की तरफ है।

(३८)

सयं सयं पसंसंता, गरहंता
परं वयं, संसारं ते विउस्सिया।

सू० १, २२, उ, २

टीका—जो मूर्ख केवल अपनी मान्यता की प्रशंसा करते रहते हैं और दूसरों की मान्यता की सदैव निंदा करते रहते हैं, वे सँसार में दृढ़ रूपसे बंध जाते हैं, यानी वे अनन्त जन्म मरण करते हैं और विविध आपत्तियों में से गुजरते हैं।

संसार-सूत्र

(१)

जम्मदुक्खं जरा दुक्खं दुक्खो हु संसारो ।

उ०, १९, १६

टीका—यह संसार दुःख ही दुःख से भरा हुआ है, जन्म का दुःख है, जरा यानी बुढ़ापे का दुःख है, रोग, मृत्यु, आकस्मिक संयोग-वियोग का दुःख है, इस प्रकार नाना विपत्तियों का जमघट इस संसार में भरा हुआ है ।

(२)

एगन्त दुक्खे जरिए व लोए ।

सू०, ७, ११

टीका—यह संसार ज्वर के समान एकान्त दुःख रूप ही है । जैसे-ज्वर-ताप-बुखार-एकान्त रूप से दुःखदायी ही है, वैसे ही यह संसार भी जन्म-मरण, संयोग-वियोग से युक्त होने के कारण एकान्त रूप से दुःखमय ही है ।

(३)

दाराणि य सुया चेव,
मयं नाणुव्वयन्ति य ।

उ०, १८, १४

टीका—जीवन में और कुटुम्ब में, वैभव में और भोगों में, इतनी आसक्ति, इतनी मूर्च्छा क्यों रखते हो ? याद रक्खो कि मरने पर स्त्री और पुत्र आदि साथ नहीं आनेवाले हैं, ये तो जहाँ के तहाँ ही रह जाने वाले हैं, केवल पाप और पुण्य ही साथ में आने वाले हैं ।

(४)

उज्झमाणं न बुज्झामो,
राग द्दोसग्गिणा जगं ।

उ०, १४, ४३

टीका—राग और द्वेष की अग्नि से जलते हुए संसार को हम नहीं पहिचान रहे हैं–अर्थात् आत्मा में स्थित राग और द्वेष का हम विचार नहीं कर रहे हैं, यह एक लज्जा जनक और दुख जनक बात है ।

(५)

संसारो अण्णवो वुत्तो ।

उ०, २३, ७३

टीका—संसार एक भयंकर समुद्र है, जिसमें कषाय, विषय, वासना, विकार, मूर्च्छा, परिग्रह, मोह और इंद्रियभोग आदि भयंकर और विषम एवं विनाशकारी जलचर प्राणी हैं, जो कि भव्य आत्मा को निगलने के लिये तैयार बैठे हैं ।

(६)

सारीर माणसा चेव,
वेयणा उ अणंतसो ।

उ०, १९, ४६

टीका—इस संसार में शारीरिक और मानसिक वेदनाऐं अनन्त प्रकार की रही हुई हैं । कर्मोंका उदय आने पर प्रत्येक आत्मा को इन्हें भोगना ही पड़ता है ।

(७)

महब्भयाओ भीमाओ,
नरएसु दुह वेयणा ।

उ०, १९, ७३

टीका—नरक स्थानों में महाभय उत्पन्न करनेवाली, सुनने मात्र से ही भय पैदा करने वाली, प्रचंड और नानाविध दुःख रूप वेदनाऐं हैं ।

(११)

अणिच्चे जीव लोगम्मि किं पसज्जसि ।

उ०, १८, १२

टीका—इस अनित्य, नाशवान् और दुःख पूर्ण संसार में क्यों आसक्त होते हो ? क्यों इसमें मूर्च्छित हो रहे हो ? आत्मा के स्वरूप को क्यों भूल रहे हो ?

(१२)

अणागयं नेव य अत्थिकिंचि,
सद्धा खमं णे विणइत्तु रागं ।

उ०, १४, २८

टीका—संसार में ऐसा कोई पदार्थ बाकी नहीं रहा है, जो कि जीव को अतीत के जन्म-काल में, पूर्व जन्मों में न मिल चुका हो । इसलिये राग-द्वेष को, रति—अरति को, वासना और विकार को मूर्च्छा और माया को हटाकर धर्म में, तप और संयम में पूर्ण श्रद्धा तथा पराक्रम रखना चाहिये ।

(१३)

चउव्विहे संसारे, दव्व संसारे,
खेत्त संसारे, काल संसारे, भाव संसारे ।

ठाणा०, ४, था, ठा, उ, १, ३१

टीका—संसार चार प्रकार का कहा गया है :—द्रव्य संसार, क्षेत्र संसार, काल संसार और भाव संसार । १—जीव द्रव्यों और पुद्गल द्रव्यों का परिभ्रमण ही द्रव्य संसार है । २—चौदह राजू लोक जितना लोकाकाश ही क्षेत्र संसार है । ३—दिन रात्रि आदि से लगाकर पल्योपम सागरोपम आदि तक की परिभ्रमण अवस्था ही काल संसार है । ४—संसारी आत्मा में कर्मोदय से पैदा होनेवाले विभिन्न राग-द्वेषात्मक विचार ही भाव संसार है ।

(१४)

अणंते निइए लोए,
सासए ण विणस्सती ।

सू०, १, ६, उ, ४

टीका---यह लोक अनन्त है, नित्य है, शाश्वत है और इसका कभी भी-किसी भी काल में विनाश नहीं होता है ।

★

प्रकीर्णक-सूत्र

(१)

रमइ अज्ज वयणम्मि,
तं वयं बूम माहणं ।

उ०, २५, २०

टीका—जो आर्य वचनों में, सत्य, अहिंसा, अनुकम्पा, दान, शील, तप, भावना आदि में रमण करता है, विश्वास करता है, तदनुसार आचरण करता है, उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं ।

(२)

राग दोस भयाईयं,
तं वयं बूम महाणं ।

उ०, २५, २१

टीका—जो राग, द्वेष और भय आदि दुर्गुणों से रहित हैं उसीको हम ब्राह्मण कहते हैं । आचरण से और गुणों से वर्ण-व्यवस्था है, न कि जाति से और जन्म से । ऐसा श्री जैन धर्म का आदेश है ।

(३)

कम्मुणा बम्भणो होइ,
कम्मुणा होइ खत्तिओ ।

उ०, २५, ३३

टीका—कर्म से ही (यथा नाम तथा गुण होने पर ही) ब्राह्मण होता है, और कर्म से ही-आचरण से ही क्षत्रिय होता है । जो क्षमा, दान, ध्यान, सत्य, सरलता, धैर्य, ज्ञान-विज्ञान, दया, ब्रह्मचर्य आस्तिकता आदि का आचरण करता हो तो वह चाहे किसी भी जाति अथवा वर्ण में पैदा हुआ हो, तो भी ब्राह्मण ही कहा जायगा । और

इसके विपरीत-सद्गुणों से रहित एवं दुर्गुणों से ग्रसित ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुआ भी वास्तव में ब्राह्मण नहीं हैं। इसी प्रकार जो जनता की रक्षा करे, परोपकार के लिए जीवन न्योछावर करे, वही क्षत्रिय है। गुणों के अभाव में क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न हुआ भी वास्तविक क्षत्रिय नहीं कहा जा सकता है। आचरण-अनुसार वर्ण-व्यवस्था है।

(४)

वईसो कम्मुणा होइ,
सुद्दो हवइ कम्मुणा।

उ०, २५, ३३

टीका—कर्म से ही, आचरण से ही वैश्य होता है, और कर्म से ही शूद्र होता है। जो कृषि-कर्म, पशु-पालन और व्यौपार करता है, वही सच्चा वैश्य है, फिर चाहे वह किसी भी कुल अथवा वर्ण में उत्पन्न हुआ हो।

इसी प्रकार जो शिल्प-कला और सेवा-कार्य में लगा हुआ हो, वही शूद्र है। फिर चाहे जन्म से और वर्ण से कोई भी हो।

जैन धर्म गुणों के आधार से और आचरण के आधार से वर्ण-व्यवस्था का विधान करता है।

रुढ़ि के आधार से और जाति-कुल के आधार से जैन धर्म वर्ण व्यवस्था को नहीं मानता है।

(५)

असंविभागी न हु तस्स मुक्खो।

द०, ९, २३, द्वि० उ,

टीका—असंविभागी को, स्वार्थी को, दूसरों के सुख दुख का, हित-अहित का ख्याल नहीं करने वाले को मोक्ष-सुख प्राप्त नहीं हो सकता है। उसे कदापि शाश्वत् सुख प्राप्त नहीं हो सकता है।

(६)

विवत्ती अविणीयस्स,
संपत्ती विणियस्स य ।

द०, ९, २२ द्वि, उ,

टीका—अविनीत आत्मा को सदैव इस लोक और पर लोक में दुःख ही दुःख मिलता है, तथा विनीत आत्मा को सदैव इस लोक और पर लोक में सुख ही सुख मिलता है ।

(७)

गिद्दे दीव मपासंता,
पुरिसा दाणियानरा ।

सू०, ९, ३४

टीका—भोगों मे फँसे हुए रहने की हालत में न तो ज्ञान रूप दीपक के प्रकाश की प्राप्ति हो सकती है, और न चारित्र रूप द्वीप ही संसार-समुद्र की दृष्टि से प्राप्त हो सकता है । इसीलिये परमार्थ की आकांक्षा वाले पुरुष आध्यात्मिक पुरुषों की शरण लेते हैं ।

(८)

कीलेहिं विज्झंति असाहु कम्मा ।

सू०, ५, ९, उ, १

टीका—पापी नाना प्रकार के दुःख पाते हैं, नरक-आदि गति में कील आदि तीखे शस्त्रों से पीड़ित किये जाते हैं, परम-अधार्मिक देवता उन्हें घोर पीड़ा पहुँचाते हैं, ऐसा शास्त्रीय विधान है ।

(९)

थणंति लुप्पंति तस्संति कम्मी ।

सू०, ७, २०

टीका—पाप कर्म करने वाले प्राणी पाप का उदय होने पर, असह्य वेदना होने पर रोते हैं, तलवार आदि के द्वारा छेदन किये जाते हैं और नाना विधि से डराये जाते हैं, भयभीत किये जाते हैं ।

(१०)

निरुद्धगं वा वि न दीहइज्जा ।

सू०, १४, २३,

टीका—व्याख्याता पुरुष छोटी बात को भी शब्दों के आडम्बर से बड़ी नहीं बनावे । इसी प्रकार जो बात थोड़े में कही जा सकती है या समझाई जा सकती है, उसे लम्बे चौड़े वाक्यों द्वारा और विस्तृत शब्दों द्वारा कभी नहीं कहे । क्योंकि ऐसा व्याख्यान अरुचि आदि दोषों को पैदा करन वाला होता है और इसमें सिवाय समय नष्ट करने के और स्व-विद्वत्ता-प्रकाशन के और दूसरा कोई अर्थ सिद्ध नही होता है ।

(११)

कोलावासं समासज्ज वितहं पाउरे सए ।

आ०, ८, ३३, उ, ८

टीका—जैसे काठ का कीड़ा अपना घर बनाने में मशगूल हो जाता है, और अन्ततोगत्वा घोर परिश्रम कर घर बना कर उसमें रहने लगता है, वैसे ही तत्वदर्शी पुरुष भी अपनी आत्मा की वास्तविकता को ढूँढ़ने में और उसको प्राप्त करने में सदैव लगा रहे । जब तक आत्मा की परिपूर्णता प्राप्त नहीं हो जाय, तब तक निरन्तर ज्ञान की आराधना मे और अपने चारित्र को-अति उज्ज्वल करने में लगा रहे । प्रत्येक क्षण कर्त्तव्य-मार्ग म लगन की दृढता उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाय, ऐसा ही प्रयत्न रहे ।

(१२)

एगे जिए जिया पंच,
पंच जिए जिया दस ।

उ०, २३, ३६

टीका—एक के जीत लेने पर, पांचों को जीत लिया जाता है, और पांचों के जीत लेने पर दसों को जीत लिया जाता है ।

अर्थात् एक यानी आत्मा, पांच यानी मन और चारों कषाय, दस यानी पाँचों इन्द्रियाँ, तीनों योग, कषाय और नोकषाय वृत्ति।

(१३)

दुक्खं च जाई मरणं।

उ०, ३२, ७

टीका--जन्म-मृत्यु ही दुःख है, यानी जन्मने और मरने के बराबर घोर दुःख दूसरा और कोई नहीं है। जन्म-मृत्यु दुःखों की प्रथम श्रेणी में है।

(१४)

पुरिमा उज्जु जड्डा उ,
वक्क जड्डा य पच्छिमा।

उ० २३, ३६

टीका--पहले तीर्थंकर के समय में जनता सरल और अति सामान्य बुद्धि वाली थी, किन्तु चौबीसवें तीर्थंकर के शासन-काल में जनता कपटी, और मूर्ख होती है। मूर्खता को ही चतुरता समझने वाली होती है।

(१५)

मज्झिमा उज्जु पन्ना उ।

उ०, २३, २६

टीका--द्वितीय तीर्थंकर से लगा कर २३ वें तीर्थंकर तक के शासन-काल में जनता सरल हृदय वाली और बुद्धि-शालिनी थी।

(१६)

बहु मायाओ इत्थिओ।

सू०, ४, २४, उ, १

टीका--स्त्रियाँ बहुत माया वाली होती हैं, और इसलिये स्त्रियों के संसर्ग से उनकी संगति करने वालों में भी माया-जाल की उत्पत्ति

हो जाती है। स्त्रियों का सहवास धन, धर्म, शक्ति और सद्गुण आदि का नाश करने वाला है।

(१७)

पुढो य छंदा इह माणवा उ।

सू०, १०, १७

टीका—इस लोक में मनुष्यों की भिन्न भिन्न रुचि होती है, एक समान रुचि होना अत्यंत कठिन है। "मुडे मुडे मति भिन्ना" इसका समर्थक है।

(१८)

जीवो उवओग-लक्खणं।

उ०, २८, १०

टीका—जीव का लक्षण, आत्मा का लक्षण उपयोग है। यानी अनुभूति, ज्ञान या चेतना ही आत्मा का मुख्य और असाधारण धर्म है।

(१९)

वण्ण रस गंध फासा,
पुग्गलाणं तु लक्खणं।

उ०, २८, १२

टीका—पुद्गल का यानी अचेतन रूप जड़ पदार्थ का—रूपी तत्त्व का लक्षण वर्ण, गंध, रस और स्पर्श धर्म वाला होना है। छः द्रव्यों में से केवल इस जड़ द्रव्य में ही रूप, रस, गंध और स्पर्श-धर्म पाये जाते हैं और किसी में नहीं। शेष पांचों द्रव्य अमूर्त्त हैं, अरूपी हैं, अवर्ण वाले हैं, अगंध वाले हैं, अस्पर्श वाले हैं और अरस वाले हैं।

(२०)

गइ लक्खणो उ धम्मो।

उ०, २८, ९

टीका—धर्मास्तिकाय का लक्षण, जीव और पुद्गल को गति देने में—आवश्यकता पड़ने पर सहायक रूप होना है, जैसे जल मछली की चाल में सहायक है।

(२१)

अहम्मो ठाण लक्खणो।

उ०, २८, ९

टीका—अधर्मास्तिकाय का लक्षण जीव और पुद्गल को "स्थिति" धारण करने के समय में सहायक रूप होना है। जैसे—धूप में थके हुए मुसाफिर के लिये वृक्ष की छाया है।

(२२)

भायणं सव्व दव्वाणं,
नहं ओगाह लक्खणं।

उ० २८, ९

टीका—आकाश सभी द्रव्यों का भाजन है, सभी द्रव्यों के अवगाहन के लिये, यानी रहने के लिये स्थान देता है। छः ही द्रव्यों के रहने के लिये आकाश ही केवल एक—आधार भूत द्रव्य है।

(२३)

वत्तणा लक्खणो कालो।

उ०, २८, १०

टीका—काल वर्त्तना लक्षण वाला है, यानी नये को पुराना करना और पुराने को जीर्ण-शीर्ण करना ही, वस्तुओं के विनाश में मदद पहुँचाना ही काल का लक्षण है। जैसे कि कैंची और कपड़े का संबंध है।

(२४)

छक्काय आहिया,
णावरे कोइ विज्जई।

सू०, ११, ८

टीका—संपूर्ण लोक में-संपूर्ण ब्रह्मांड में, सभी जीवों का संविभाजन केवल ६ अवस्थाओं में या ६ काया में किया गया है। इसमें सभी जीवों का समावेश हो जाता है। वे छः काय इस प्रकार हैं- १ पृथ्वीकाय, २ अपकाय, ३ तेजसकाय, ४ वायुकाय, ५ वनस्पतिकाय और ६ त्रसकाय।

(२५)

दुविहा पोग्गला,
सुहुमा चेव बायरा चेव।

ठाणां, २ रा, ठा, उ, ३, ३

टीका—पुद्गल दो प्रकार के कहे गये हैं—१ सूक्ष्म और २ बादर। पुद्गल यानी जड़ और रूपी द्रव्य, जिनमें रूप, रस, गंध और स्पर्श पाया जाता है, ऐसे जड़ द्रव्य पुद्गल कहे जाते हैं। जो आखों से दिखाई देते हैं, वे तो बादर पुद्गल हैं, और जो नहीं दिखाई देते हैं, वे सूक्ष्म पुद्गल हैं।

(२६)

दुविहे आगासे,
लोगागासे चेव, अलोगागासे चेव।

ठाणां०, २रा, ठा, उ, १, २८

टीका—आकाश दो प्रकार का कहा गया है :—१ लोकाकाश और २ अलोकाकाश।

सभी द्रव्यों को स्थान देने वाला-अवकाश देने वाला द्रव्य-आकाश है। जहाँ तक-जिस परिधि तक छः ही द्रव्य पाये जाते हैं, वहाँ तक तो लोकाकाश समझा जाता है, और उससे आगे पांच ही द्रव्यों का अभाव है, इसलिये वह अलोकाकाश कहलाता है। अलोकाकाश की कोई सीमाऐं नहीं हैं। वह तो अनंतानन्त,

अपरिमित और असीम कोसों तक फैला हुआ है। तीर्थंकर और ज्ञानी भी उसकी सीमाऐं नहीं बतला सकते हैं। किन्तु लोकाकाश परिमित है, ससीम है। लोकाकाश की कुल मर्यादा चौदह राजु तक की है।

(२७)

दो दंडा पन्नता तंजहा,
अट्ठा दंडे चेव अणट्ठा दंडे चेव।

ठाणां०, २रा, ठा, १ला उ,२२

टीका—पाप दो कारणों से उत्पन्न हुआ करता है-एक तो इन्द्रियों का पोषण करने से एवं स्वार्थ भावना की दृष्टि से और दूसरा बिना किसी कारण के केवल मूर्खता वश किया जाने से। प्रथम पाप को अर्थ-दंड पाप कहा जाता है, और दूसरे को अनर्थ-दंड पाप कहते हैं। ये दोनों पाप समुच्चय रूप से चारों गति में पाये जाते है, किन्तु व्यक्तिगत रूप से अनेक विवेकी आत्माऐं इनसे बचते भी हैं।

(२८)

लोगे तं सव्वं दुपडीआरं,
जीवा चेव अजीवा चेव।

ठाणां०, २रा ठाणा, १, १ला उ,

टीका—संसार में यानी संपूर्ण ब्रह्मांड में या सम्पूर्ण विश्व में पाये जाने वाले सभी पदार्थों को, सभी द्रव्यों को, सभी वस्तुओं और सभी तत्त्वों को केवल दो मूलभूत द्रव्यों में या दो मूलभूत वस्तुओं में बांटा जा सकता है। इन दो मूलभूत तत्त्वों के सिवाय और तीसरा कोई तत्त्व नहीं है। वे दो हैं:—जीव और अजीव-अर्थात् चेतन और जड। जीव तत्त्व में या चेतन में-सभी आत्म द्रव्य आ जाते हैं और अजीव में—या जड़ तत्त्व में, धर्मास्तिकाय,

अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, और काल द्रव्य समझना चाहिये ।

(२९)

तओ सुसन्नप्पा,
अदुट्ठे अमूढे, अवुग्गाहिए ।

ठाणां० ३रा, ठा, उ, ४, १४

टीका—तीन प्रकार के मनुष्यों को समझाना सुलभ है । १ अदुष्ट यानी द्वेष रहित को–सरल प्रकृति वाले को, २ अमूढ़ को यानी बुद्धि शाली को और ३ कुसंगति में नहीं पड़े हुए को अर्थात् मिथ्यात्वियों से भ्रमित नहीं हुए को ।

(३०)

तओ दुसण्णप्पा,
दुट्ठे, मूढे, कुग्गाहिए ।

ठाणां०, ३रा, ठा, उ, ४, १४

टीका—तीन प्रकार के पुरुषों को समझाना बहुत ही कठिन होता है :—१ दुष्ट यानी सात्विक बातों के कट्टर विरोधी को, खल पुरुष को, २ मूढ़ यानी सर्वथा अज्ञानी को, और ३ मिथ्या धर्म मोह में पूरी तरह से ग्रसित पुरुष को, यानी कुगुरुओं द्वारा अथवा कुसंगति से भ्रमित पुरुष को ।

(३१)

तओ सुग्गया, सिद्ध सुग्गया,
देव सुग्गया, मणुस्स सुग्गया ।

ठाणां०, ३रा, ठा, ३ उ, १५

टीका—सुगति तीन प्रकार की कही गई है :—१ सिद्ध सुगति, २ देव सुगति, और ३ मनुष्य-सुगति ।

(३२)

चउव्विहे संघे, समणा,
समणीओ, सावगा, साविगाओ ।

ठाणां०, ४था, ठा, उ, ४, ३०

टीका—भगवान महावीर स्वामी की शासन-व्यवस्था, यानी महावीर स्वामी के अनुयायी चार भागों में विभाजित किये गये हैं :—१ साधु, २ साध्वी, ३ श्रावक और ४ श्राविका ।

(३३)

चत्तारि वायणिज्जा विणीए,
अविगइपडिवद्धे, विउसवियपाहुडे अमायी ।

ठाणां०, ४था, ठा, उ, ३, २७

टीका—चार प्रकार के पुरुष वाचना देने के योग्य होते हैं :—(१) विनीत, (२) स्वाद-इन्द्रिय में अगृद्ध-अनासक्त, (३) क्षमाशील और (४) सरल हृदय वाला ।

(३४)

चत्तारि अवायणिज्जा,
अविणीए, विगइपडिवद्धे,
अविउसविय पाहुडे, मायी ।

ठाणां०, ४था, ठा, उ, ३, २७

टीका—चार प्रकार के पुरुष वाचना देने के अयोग्य हैं-(१) अविनीत, (२) स्वाद-इन्द्रिय में गृद्ध-आसक्त, (३) क्रोधी और (४) मायावी-कपटी ।

(३५)

चत्तारि समणो वासगा.
अम्मापिइ समाणे, भाइसमाणे
मित्तसमाणे, सवत्ति समाणे ।

ठाणां०, ४था, ठा, उ, ३, २०

टीका—चार प्रकार के श्रावक कहे गये हैं।—

(१) बिना किसी बदले की भावना के विशुद्ध हृदय से "साधु-साध्वियों के लिये सुसमाधि रहे"—ऐसी हितकारी व्यवस्था करने वाला श्रावक माता-पिता समान श्रावक है।

(२) साधु-साध्वियों को प्रमादी देख कर ऊपर से क्रोध करे, किन्तु मन में हित की भावना ही रक्खे—ऐसा श्रावक भाई समान श्रावक है।

(३) साधु-साध्वियों के दोषों को ढंक कर, दोषों की उपेक्षा कर केवल गुणों की तरफ ही लक्ष्य देने वाला श्रावक मित्र समान श्रावक है।

(४) जो श्रावक साधु-साध्वियों के गुणों को तो नहीं देखता है, किन्तु दोष ही दोष देखता है, ऐसा श्रावक शत्रु-श्रावक है।

(३६)

चत्तारि सूरा, खंति सूरे,
तवसूरे, दाणसूरे, जुद्धसूरे।

ठाणां०, ४था, ठा, उ, ३, ७

टीका—चार प्रकार के शूरवीर-माने गये हैं:—१ क्षमा-शूर, कठिनाइयों में और विकट एवं प्रतिकूल परिस्थिति में भी घोर क्षमा रखने वाले क्षमा-शूर हैं।

२ तप-शूर:—तपश्चर्या में-एवं सेवा में असाधारण वीरता रखने वाले तप-शूर हैं।

३ उदारता पूर्वक और अनासक्ति के साथ मुक्त हस्त होकर दान देने वाले महापुरुष दान-शूर हैं।

४ कायरता को भगाकर असाधारण साहस के साथ युद्ध करने वाले युद्ध-शूर होते हैं।

(३७)

खंति सूरा अरहंता, तवसूरा अणगारा,
दाण सूरे वेसमणे, जुद्धसूरे वासुदेवे ।

ठाणां०, ४था, ठा, उ, ३, ७

टीका—क्षमा-शूरों में सर्वोत्तम क्षमा-शूर अरिहंत हैं। तप-शूरों में असाधारण तप-शूर अणगार-साधु होते हैं। दानियों में दान-शूर वैश्रमण हैं और युद्ध में शूर-वीर वासुदेव हैं।

(३८)

चत्तारि विकहाओ पण्णत्ताओ,
इत्थिकहा, भत्त कहा, देस कहा, राय कहा ।

ठाणां०, ४था, ठा, उ, २, ६

टीका—चार प्रकार की विकथाऐं कही गई हैं:—१ स्त्री कथा, २ भोजन कथा, ३ देश-कथा और ४ राज कथा ।

(३९)

चत्तारि झाणा, अट्टे झाणे,
रोद्दे झाणे, धम्मे, झाणे, सुक्के झाणे ।

ठाणां०, ४था, ठा, उ, १, १५

टीका—ध्यान चार प्रकार के कहे गये हैं:—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान ।

(४०)

चउव्विहे कव्वे,
गज्जे, पज्जे, कत्थे, गेये ।

ठाणां०, ४था, ठा, उ, ४, ४३

टीका—चार प्रकार का काव्य कहा गया है:—१ गद्य, २ पद्य, ३ कथा, और ४ गेय ।

(४१)

पंचविहे सोए, पुढविसोए, आउसोए,
तेउ सोए, मंतसोए, बंभसोए।

ठाणां०, ५वां,ठा, उ, ३, ६

टीका—पांच प्रकार की वस्तुओं से पवित्रता का कार्य संपादन किया जा सकता है।

१ पृथ्वी-मिट्टी से, २ पानी से, ३ अग्नि से, ४ मंत्र से और ५ ब्रह्मचर्य से।

(४२)

पंचविहे ववहारे, आगम,
सुए, आणा, धारणा, जीए।

ठाणां०, ५ वां, ठा, उ, २, ७

टीका—पांच प्रकार के व्यवहार कहे गये हैं :—१ आगम, २ सूत्र· ३ आज्ञा, ४ धारना, और ५ जीत।

(१) केवल ज्ञानी, मनः पर्याय ज्ञानी, अवधि ज्ञानी, पूर्वधर आदि का जीवन-व्यवहार-आगम-व्यवहार है।

(२) सूत्रानुसार व्यवहार सूत्र-व्यवहार है।

(३) अनुभवी, विद्वान् महापुरुष की आज्ञानुसार व्यवहार करना आज्ञा-व्यवहार है।

(४) पूर्व महापुरुष कृत व्यवहार को देखकर और प्रसंगोपात्त उसे याद कर तदनुसार व्यवहार करना धारणा-व्यवहार है।

(५) परम्परा से चले आये हुए व्यवहार के अनुसार व्यवहार करना जीत-व्यवहार है।

आगम-व्यवहार के सद्भाव में शेष चार निषिद्ध हैं।

सूत्र-व्यवहार के सद्भाव में शेष तीन निषिद्ध हैं।

आज्ञा-व्यवहार के सद्भाव में शेष दो निषिद्ध हैं।

धारणा-व्यवहार के सद्भाव में जीत-व्यवहार निषिद्ध है।

प्रथम चार व्यवहारों के अभाव में ही जीत-व्यवहार आचरणीय है।

(४३)

पंचणिही-पुत्तणिही, मित्तणिही,
सिप्पणिही, धणणिही धन्नणिही।

ठाणां०, ५वां ठा, उ, ३, ६

टीका—पांच प्रकार की निधि कही गई है :— १ पुत्र निधि, २ मित्र निधि, ३ ज्ञान निधि, ४ धन-निधि, और ५ धान्य निधि।

(४४)

छव्विहे भावे, उदइए, उवसमिए, खइए,
खयोवसमिए, पारिणामिए, संनिवाइए।

ठाणाँ०, ६ ट्ठा, ठा, उ, १, ११५

टीका—छः प्रकार के भाव आत्मा के परिणाम कहे गये है :— १ औदयिक, २ औपशमिक, ३ क्षायिक, ४ क्षायोपशमिक, ५ पारिणामिक और ६ सान्निपातिक।

१—कर्मों के उदय से होने वाले आत्मा के विचार-विशेष औदयिक भाव है। २—कर्मों के उपशम से यानी अनुदय के कारण से आत्मा में पैदा होने वाले विचार-विशेष औपशमिक भाव हैं। ३—कर्मों के क्षय होने से उत्पन्न होनेवाले आत्मा के विचार-विशेष क्षायिक भाव है। ४-कर्मों में से कुछ एक के क्षय होने पर और कुछ एक के उपशम होने पर आत्मा में उत्पन्न होने वाले विचार विशेष क्षायोपशमिक भाव हैं। ५—आत्मिक विचारों का स्वाभाविक स्वरूप परिणमन ही पारिणामिक भाव है।

६—संमिश्रित भावों को सान्निपातिक भाव कहते हैं।

(४५)

सत्त भय ट्ठाणा, इह लोग भए,
पर लोग भए, आदाण भए,
अकम्हा भए, वेयणा भए,
मरण भए, असि लोग भए।

ठाणां०, ७वां, ठा, १५

टीका--सात प्रकार के भय के स्थान कहे गये हैं--(१) इस लोक का भय, यानी मनुष्य को मनुष्य का, (२) पर लोक का भय, (३) चोरी, बंटवारा आदि का भय, (४) अकस्मात् रूप से पैदा होनें वाला भय, (५) वेदना, रोग आदि का भय, (६) मृत्यु भय और (७) अयश, अपकीर्ति का भय।

(४६)

सत्तविहे आउभेदे, अज्झवसाण,
निमित्ते, आहारे, वेयणा, पराघाए,
फासे, आणापाणू।

ठाणां०, ७वां, ठा ३८

टीका--सात प्रकार से आयुष्य टूट सकती है--(१) भयानक विचार से, भयानक कल्पना अथवा भयानक स्वप्न से, (२) शस्त्र आदि के निमित्त से, (३) बहुत आहार करने से, (४) शूल आदि से, (५) पराघात से-दूसरों की चोट आदि देखने पर कायर होने की हालत में हृदय के फेल हो जाने पर, (६) सर्पादि के दंश से, और (७) श्वास आदि रोग से।

—इति—

परिशिष्ट नं. १

अकारादि क्रम से छाया सहित

मूल सूक्ति-कोश

(बायीं ओर प्राकृत भाग और दाहिनी
ओर शब्दानुलक्षी हिन्दी अनुवाद)

—*—*—

नोट :—सूक्तियों के आगे कोष्टक में जो शब्द और संख्या अङ्कित हैं, उनका तात्पर्य विषय-नाम और उसी विषय की सूक्ति संख्या से है, जो कि पुस्तक के मूल भाग में मुद्रित हैं।

अ

१—अकप्पियं न गिण्हिज्जा । (उपदेश, ६९)
२—अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा । (सात्विक, ७)

३—अकिरियं परिवज्जए । (कर्त्तव्य, १)
४—अकुसीले सया भिक्खू, णव संसग्गियं भए, (श्रमण—भिक्षु, ३५)
५—अकुव्वओ णवं णत्थि । (सात्विक, १२)
६—अकोहणे सच्च रए सिक्खा सीले । (सद्गुण, ३)
७—अकोहणे सच्च रते तवस्सी । (तप, ९)
८—अकोविया दुक्खं ते नाइ तुट्टंति, सउणी पंजरं जहा । (बाल, ५)

९—अगुणप्पेही ण आराहेइ संवरं । (अनिष्ट, ९)
१०—अगुणिस्स नत्थि मोक्खो । (मोक्ष, १७)
११—अगुत्ते अणाणाए । (योग, १०)

१२—अच्चन्त नियाण खमा, एसा मे भासिया वई । (प्रशस्त, १४)

१३—अच्चेही अणुसास अप्पगं । (उपदेश, ९४)
१४—अजयं भुजमाणो अ पाण भूयाइं हिंसइ । (हिंसा, ३)

१५—अजयं चरमाणो अ पाण भूयाइं हिंसइ । (हिंसा, २)

१६—अजरा अमरा असंगा । (मोक्ष, ९)

१७—अज्जाइं कम्माइं करेहि । (उपदेश, ६१)

अ

१—अकल्पनीय ग्रहण नहीं करे।

२—धीर पुरुष अकर्म द्वारा, (आश्रव रहित होकर) कर्म का क्षय कर देते हैं।

३—अकर्तव्य का परिवर्जन कर दे।

४—भिक्षु सदा अकुशील हो, संसर्ग वाला नहीं हो।

५—अकर्त्ता होता हुआ नवीन (कर्म वाला) नहीं है।

६—अक्रोधी, सत्य रत, शिक्षा शील (होता है)।

७—अक्रोधी, सत्य रत तपस्वी (होता है)

८—वे अकोविद दुःख को नहीं तोड़ सकते हैं, जैसे कि शकुनि (पक्षी) पींजरे को।

९—अगुणप्रेक्षी संवर को नहीं आराधता है।

१०—अगुणी का मोक्ष नहीं है।

११—अगुप्त अनाज्ञा वाला है। (अगुप्ति वाला आज्ञा से रहित होता है)

१२—मेरे द्वारा भाषित यह वाणी अत्यन्त निदान क्षमा (कर्म काटने में अत्यन्त समर्थ) है।

१३—त्यागी अपनी आत्मा को अनुशासित करे।

१४—अयत्ना पूर्वक भोजन करता हुआ प्राणियों को, और भूतों को हिंसा करता है।

१५—अयत्नापूर्वक चलता हुआ प्राणियों की, और भूतों की हिंसा करता है।

१६—वे (मुक्त जीव) अजर हैं, अमर हैं और असंग हैं। (निरंजन निराकार हैं)

१७—आर्य कर्मों को (श्रेष्ठ कामों को) करो।

१८—अज्झत्थ हेउं निययस्स बन्धो संसार हेउं च वयन्ति बन्धं ।
(कर्म १९)

१९—अज्झप्परए सुसमाहि अप्पा जे स भिक्खू । (श्रमण–भिक्षु ९)

२०—अज्झोववन्ना कामेहिं पूयणा इव तरुण ए । (काम ३५)

२१—अट्टेसु मूढ़े अजरामरेव्वा । (बाल ७)

२२—अणगारे पच्चक्खाय पावए । (श्रमण ५०)

२३—अणगार चरित्त धम्मे दुविहे,
सराग संजमे चेव, वीयराग संजमे चेव । (श्रमण-५२)

२४—अणट्ठा जे य सव्वत्था परिवज्जेज्ज । (कर्त्तव्य ६)

२५—अणाइले या अकसाइ भिक्खू । (श्रमण-भिक्षु ११)

२६—अणागयं नेव य अत्थि किंचि,
सद्धा खमं मे विणइत्तु रागं । (संसार १२)

२७—अणाबाह सुहाभिकंखी,
गुरुप्प सायाभिमुहो रमिज्जा । (उपदेश ७१)

२८—आणासए जो उ सहिज्ज कंटए, स पुज्जो । (महापुरुष ११)

२९—अणिच्चे जीव लोगम्मि किं पसज्जसि । (संसार ११)

३०—अणियते अयं वासे, णायएहि सुहीहि य । (अनिष्ट ३०)

३१—अणियाणभूते सुपरिव्वएज्जा । (अहिंसा २२)

१८—आत्मस्थ हेतु— (मिथ्यात्व आदि) निज का बन्ध करने वाले हैं और बंध को संसार का हेतु कहते हैं।

१९—जो अध्यात्मरत्त सुसमाधि वाली आत्मा है, वही भिक्षु है।

२०—पूतना (रोग विशेष) से जैसे तरुण बालक (दुःखी होते हैं) वैसे ही कामों से —(भोगों से) विषयों में आसक्त (आत्माएँ दुःखी होतीं हैं)

२१—मूढ़ आर्त्त (आर्त्तध्यान संबंधी कामों) में अजर अमर की तरह (फंसे हुए हैं)

२२—प्रत्याख्यात अनगार (प्रतिज्ञा लिया हुआ साधु) प्राप्त करे। (निर्मल आत्मावाला होता है)।

२३—अनगार का चारित्र धर्म दो प्रकार का है, सराग संयम और वीतराग संयम।

२४—जो अनर्थ रूप हैं, उन्हें सर्वथा परिवर्जित कर दे। (छोड़ दे)

२५—अनाविल (पाप रहित) अथवा अकषायी ही भिक्षु होता है।

२६—किंचित् भी अनागत नहीं है (यानी कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो कि पहले नहीं मिला हो) अतः मेरे राग को दूर करने के लिये श्रद्धा ही समर्थ है।

२७—अव्याबाध सुख का आकांक्षी (मोक्ष का अभिलाषी) गुरु की प्रसन्नता के अभिमुख होता हुआ रमण करे। (गुरु की आज्ञानुसार चलता रहे।)

२८—अनासक्त होता हुआ जो कांटों को (कष्टों को) सहता है, वही पूज्य है।

२९—अनित्य (नाशवान्) जीव-लोक में क्यों आसक्त रहता है ?

३०—सुख शील ज्ञाति वालों के साथ यह वास, अनित्य है।

३१—अनिदान भूत होता हुआ (आश्रव रहित होता हुआ) जीवन-व्यवहार चलावे।

३२—अणिहे से पुट्ठे अहियासए । (क्षमा ५)

३३—अणुक्कसे अप्पलीणे, मज्झेण मुणि जावए ।(श्रमण-भिक्षु २३)

३४—अणु चिंतिय वियागरे । (सत्यादि १५)

३५—अणुत्तरे नाणधरे जसंसी, ओभासई सूरिए एवं अंतलिक्खे ।
(प्रशस्त १२)

३६—अणुत्तरं धम्म मिणं जिणाणं, णेया मुणी कासव आसुपन्ने ।
(प्रा. मं. १६)

३७—अणुत्तरे सव्व जगंसि विज्जं, गंथा अतीते अभए अणाऊ ।
(प्रा. मं. १५)

३८—अणुत्तरए नावणए महेसी । (महापुरुष ३१)

३९—अणु पुव्वं पाणेहिं संजए । (अहिंसा १६)

४०—अणुवसन्तेणं दुक्करं दमसागरो । (कषाय ३५)

४१—अणुसासण मेव पक्कमे । (उपदेश ७८)

४२—अणुसासिओ न कुप्पिज्जा । (उपदेश ५४)

४३—अणोम दंसी निसण्णे, पावेहिं कम्मेहिं । (प्रशस्त २२)

३२—अनिह (क्रोध आदि से रहित) होता हुआ स्पर्श किये हुए (प्राप्त हुए उपसर्गों को) सहन करे।

३३—अनुत्कर्ष वाला (किसी भी प्रकार का अहंकार नहीं करने वाला), अप्रलीन वाला (आसक्ति रहित वाला), मुनि मध्यस्थ भाव से (तटस्थ भाव से) विचरे।

३४—अनुचिंतवन करके (गंभीर विचार करके) बोले।

३५—अनुत्तर (श्रेष्ठ) ज्ञान के धारण करने वाले, यशस्वी होते हुए ऐसी शोभा पाते हैं (ऐसे प्रकाश शील होते हैं) जैसा कि सूर्य अन्तरिक्ष में (आकाश में)।

३६—जिनेन्द्रों का (राग द्वेष जीतने वालों का) यह अनुत्तर (श्रेष्ठ) धर्म है, और इसके नेता, मुनि आशु प्रज्ञ (शीघ्र बुद्धिवाले) काश्यप हैं। (प्रभु महावीर द्वारा यह शासित है)

३७—(वे महावीर स्वामी) सारे जगत् में अनुत्तर हैं (श्रेष्ठ हैं) विज्ञ हैं, ग्रंथि से (कषाय और परिग्रह से रहित हैं) अतीत हैं, अभय हैं और अनायु (चरम शरीरी) हैं।

३८—महर्षि न तो उन्नत (अभिमानी) हो और न अवनत (दुःख से दीन) हो।

३९—प्राणियों के साथ अनुपूर्व रीति से (क्रम से) संयम शील हो, (यत्न वाला हो)।

४०—अनुपशान्त द्वारा (जिसका कषाय शान्त नहीं हुआ है, ऐसे मनुष्य द्वारा) इन्द्रिय-दमन रूप सागर, (पार कर लेना) दुष्कर है।

४१—अनुशासन में ही (भगवान की आज्ञा में ही) पराक्रम शील हो।

४२—अनुशासित किया जाता हुआ (उपदेश दिया जाता हुआ) क्रोध नहीं करे।

४३—पूर्ण दर्शी (उच्च ज्ञान-चारित्र वाला) पाप कर्मों से निवृत्त ही होता है।

४४—अणंत गुणिया नरएसु दुःख वेयणा । (संसार ८)

४५—अणंते निइए लोए, सासए ण विणस्सती । (संसार १४)

४६—अत्तत्ताए परिव्वए । (कर्त्तव्य १६)

४७—अत्ताणं न समुक्कसे । (कषाय १८)

४८—अतुट्ठि दोसेण दुही परस्स लाभाविले आययई अदत्तं ।
(लोभ १०)

४९—अतुल सुह सागर गया, अव्वाबाहं अणोवमं पत्ता ।
(मोक्ष ११)

५०—अदक्खु कामाइं रोग वं । (काम २९)

५१—अदिन्नमन्नेसु य णो गहेज्जा । (उपदेश १०)

५२—अदीणो वित्ति मेसिज्जा । (प्रशस्त २३)

५३—अन्तो बहिं विऊस्सिज्ज, अज्झत्थं सुद्ध मेसए । (उपदेश ९१)

५४—अन्नस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे । (श्रमण-भिक्षु २८)

५५—अन्नप्पमत्ते धण मेसमाणं, पप्पोति मच्चुं पुरिसे जरं च ।
(बाल ३०)

५६—अन्नाण मोहस्स विवज्जणाए, एगन्त सोक्खं समुवेइ मोक्खं ।
(मोक्ष १५)

५७—अन्नाणिया नाणं वयंता वि निच्छयत्थं न याणँति ।
(बाल २८)

५८—अन्नं जणं खिंसति बालपन्ने । (बाल ८)

४४—नरकों में दुःख वेदना अनंत गुणी है।

४५—यह लोक अनंत है, नित्य है, शाश्वत् है और विनष्ट नहीं होता है।

४६—आत्मा के त्राण के लिये, (आत्मा को पाप से बचाने के लिये) संयम शील हो।

४७—आत्मा के (निर्मलता के) लिये समुत्कर्ष शील (अहंकारी) न हो।

४८—जो अतुष्ट है, (असंतुष्ट है-लोभी है), वह इस दोष से स्वयं दुःखी है और पर के लिये भी दुःख पैदा करता है। लोभ से व्याकुल होता हुआ अदत्त को भी ग्रहण कर लेता है, (चोरी कर लेता है)।

४९—(मुक्त जीव) अतुल सुख सागर को प्राप्त हुए हैं, अव्याबाध (अनंत) और अनुपम (सर्व श्रेष्ठ), (अवस्था को) प्राप्तहुए हैं।

५०—काम-भोगों को रोग (पैदा करने) वाले ही देखो।

५१—नहीं दी हुई वस्तुओं को नहीं ग्रहण करे।

५२—अदीन (गौरव वाला) होकर वृत्ति—(आहार आदि को) ढूंढे।

५३—आंतरिक और बाह्य रूप से त्यागी होकर आत्मा संबंधी शुद्धि की इच्छा करे। अथवा अनुसंधान करे।

५४—अन्न के लिये और पानी के लिये अनुगृद्ध (आसक्ति वाला) न हो।

५५—अन्य के लिये प्रमाद शील होता हुआ, धन की अकांक्षा या अनुसंधान करता हुआ पुरुष मृत्यु को और बुढ़ापे को प्राप्त होता है।

५६—अज्ञान रूपी मोह के विवर्जन से (त्याग से) एकान्त मोक्ष-सुख को प्राप्त करता है।

५७—अज्ञानी ज्ञान को बोलते हुए भी निश्चित अर्थ को नहीं जानते हैं।

५८—बाल प्रज्ञ (मूर्ख बुद्धि वाला) दूसरे मनुष्य की ही निंदा करता है।

५९—अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे, न मूलओ छिंदई बन्धणं से। (कर्म १६)

६०—अप्पडि चक्कस्स जओ, होउ, सया संघ चक्कस्स। (प्रा. मं. २०)

६१—अप्पणा सच्च मेसेज्जा। (सत्यादि १)

६२—अप्पणो य परं नालं, कुतो अन्नाणु सासिउं। (बाल २९)

६३—अप्पमत्तो कामेंहि उवरओ पाव-कम्मेहिं। (प्रशस्त २१)

६४—अप्पमत्तो जए निच्चं। (प्रशस्त १३)

६५—अप्पमत्तो परिव्वए। (सद्गुण ११)

६६—अप्पाण रक्खी चरे अप्पमत्तो। (उपदेश ८२)

६७—अप्पाहारे तितिक्खए। (क्षमा ६)

६८—अप्पाकत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य। (आत्म. १२)

६९—अप्पा काम दुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणं। (आत्म. १३)

७०—अप्पाणं जइत्ता सुह मेहए। (आत्म. ९)

७१—अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ। (आत्म. ८)

७२—अप्पा दन्तो सुही होइ। (तप १०)

७३—अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूड सामली। (आत्म. १४)

५९—रसों में गृद्ध (मूर्च्छित) और अनिग्रह वाली (अजीतेन्द्रिय) आत्मा मूल से बंधन को (कर्मों को) नहीं काट सकती है।

६०—नहीं है सम कक्ष दूसरा चक्र जिसके, ऐसे संघ रूप चक्र की सदा जय हो।

६१—अपनी आत्मा द्वारा ही सत्य का अनुसंधान करो।

६२—जो स्वयं को शिक्षा देने के लिये समर्थ नहीं है, वह अन्य को शिक्षा देने के लिये कैसे समर्थ हो सकता है ?

६३—जो काम-भोगों से अप्रमत्त हैं, वही पाप-कर्मों से उपरत है—दूर है।

६४—अप्रमादी होता हुआ नित्य संयम में प्रवृत्त रहे।

६५—अप्रमादी होता हुआ ही विचरे।

६६—अपनी आत्मा की रक्षा करने वाला अप्रमादी होता हुआ ही विचरे।

६७—अल्प आहार वाला होता हुआ तितिक्षा वाला होवे,—सहनशीलता वाला होवे।

६८—दुःखों का अथवा सुखों का कर्त्ता या अकर्त्ता आत्मा ही है।

६९—आत्मा ही इच्छा पूर्त्ति करने वाली काम-धेनु है और अपनी आत्मा ही नंदन वन है।

७०—आत्मा को जीतकर ही सुख प्राप्त करो।

७१—आत्मा से ही—(आत्मस्थ कषायों से ही) युद्ध करो, बाह्ययुद्ध से तुम्हें क्या (प्राप्त होने वाला है) ?

७२—दमन करने वाली आत्मा ही सुखी होती है। अथवा आत्मा का (आत्मस्थ कषायों का) दमन करने वाला ही सुखी होता है।

७३—आत्मा ही वैतरणी नदी है और अपनी आत्मा ही कूट-शाल्मली वृक्ष है।

७४—अप्पा मित्त ममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ। (आत्म. ११)

७५—अप्पियस्सावि मित्तस्स रहे कल्लाण भासई। (सद्‌गुण २)

७६—अपुच्छिओ न भासिज्जा। (सत्यादि ३४)
७७—अप्पं भासेज्ज सुव्वए। (सत्यादि ११)
७८—अबंभचरिअं घोरं। (काम २)
७९—अभयं करे वीरे अणंत चक्खू (प्रा. मं, ६)

८०—अभयं करे भिक्खू अणाविलप्पा। (श्रमण-भिक्षु ४७)
८१—अभय दाया भवाहि। (अहिंसा १८)
८२—अभिणूम कडेहिं मूच्छिए, तिव्वं ते कम्मेहिं किच्चती।
(कर्म २०)
८३—अभिसंधए पाव विवेगभिक्खू। (उपदेश ७३)
८४—अमणुन्न समुप्पायं दुक्खमेव। (योग १३)
८५—अरइं आउट्टे से मेहावी, खणंसि मुक्के। (सात्विक १४)

८६—अरए पयासु। (शील १०)
८७—अरूवी सत्ता, अपयस्स पयं नत्थि। (आत्म. ४)

८८—अल्लीण गुत्तो निसिए। (योग ७)

८९—अलोगे पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पडिट्ठिया। (मोक्ष १०)

९०—अलोल भिक्खू न रसेसु गिज्झे। (श्रमण भिक्षु ४१)

७४—आत्मा ही मित्र भी है और अमित्र भी है। दुष्प्रतिष्ठित और सुप्रतिष्ठित करने वाली भी आत्मा ही है।

७५—अप्रिय मित्र के लिए भी एकान्त में जो कल्याण युक्त ही बोलता है, वही आदर्श है।

७६—नहीं पूछा हुआ, नहीं बोले।

७७—सुव्रती अल्प ही बोले।

७८—अब्रह्मचर्य घोर पाप है।

७९—प्रभु महावीर अभय देने वाले हैं और अनन्त चक्षु वाले हैं। (महा ज्ञानी हैं)।

८०—राग-द्वेष रहित आत्मा वाला भिक्षु अभयदान देता रहे।

८१—अभय दान देने वाले होओ।

८२—माया आदि कुकृत्यों से मूर्च्छित, अन्त में वह कर्मों द्वारा तीव्र क्लेश पाता है।

८३—भिक्षु पाप का विवेक रखता हुआ निर्दोष वचन बोले।

८४—अमनोज्ञ की समुत्पत्ति ही दुःख है।

८५—जो अरति को नष्ट कर देता है, वही मेधावी है, वही क्षण भर में मुक्त हो जाता है।

८६—प्रजाओं में अर्थात् स्त्रियों में आसक्त मत हो।

८७—(मुक्त जीव) अरूपी सत्ता वाला होता है, शब्दातीत के लिये शब्द नहीं होता है। अपद के लिये पद नहीं है।

८८—गुरु आदि के आश्रित रहता हुआ, गुप्ति धर्म का पालन करता हुआ बैठे, अथवा रहे।

८९—सिद्ध प्रभु अलोक में जाने से रुके हुए हैं और लोक के अग्र भाग पर प्रतिष्ठित हैं।

९०—अचंचल होता हुआ (अनासक्त होता हुआ) भिक्षु रसों में गृद्ध नहीं हो।

९१—अलोलुए रसेसु नाणु गिज्झेज्जा। (सद्‌गुण १२)
९२—अलं बालस्स संगेणं। (कर्त्तव्य १२)

९३—अव्वाबाहं सुक्खं अणुहोंती सासयं सिद्धा। (मोक्ष ४)

९४—अविअत्तं चेव नो वए। (सत्यादि १८)
९५—अवि अप्पणो वि देहंमि नायरंति ममाइयं। (महापुरुष १७)

९६—अवि ओसिए धासति पाव कम्मी। (कषाय ३६)
९७—अविणी अप्पा दीसंति दुहमेहंता। (अनिष्ट ४)
९८—अवि वास सयं नारिं बंभयारी विवज्जए। (शील ११)
९९—अविस्सासो अ भूआणं तम्हा मोसं विवज्जए। (सत्यादि ४२)

१००—असमियं, ति मन्न माणस्स, समिया वा असमिया वा असमिया होइ। (अनिष्ट २८)
१०१—असावज्जं मियं काले भासं भासिज्ज पन्नवं। (सत्यादि ५)

१०२—असासया वासमिणं दुक्खकेसाण भायणं। (अनित्य ३)

१०३—असाहु धम्माणि ण संवएज्जा। (उपदेश १७)
१०४—असि धारा गमणं चेव दुक्करं चरिउं तवो। (तप १८)

१०५—असुहाण कम्माणं निज्जाणं पावगं। (कर्म १५)
१०६—असेयकरी अन्नेसी इंखिणी। (अनिष्ट ११)
१०७—असंखयं जीवियं मा पमायए। (उपदेश २५)

९१—अलोलुप होता हुआ रसों में अनुगृद्ध नहीं हो।

९२—बाल पुरुषों के (मूर्ख आदमियों के) संसर्ग से बस करो, यानी दूर रहो।

९३—सिद्ध प्रभु शाश्वत् रूप से अव्याबाध सुख का अनुभव करते रहते हैं।

९४—अव्यक्त भाषा नहीं बोले।

९५—(महा पुरुष) अपने शरीर के प्रति भी ममत्व भाव का आचरण नहीं करते हैं।

९६—कषाय में संलग्न पापकर्मी दुःख का ही भागी है।

९७—अविनीत आत्माएं दुःख प्राप्त करती हुई ही देखी जाती हैं।

९८—ब्रह्मचारी सौ वर्ष की आयुवाली स्त्री से भी दूर ही रहे।

९९—झूठ प्राणियों के लिये अविश्वास का स्थान है, अतएव झूठ को छोड़ दो।

१००—असम्यक्त्व को मानने वाले के लिये सम्यक्त्व और असम्यक्त्व, दोनों ही मिथ्यात्व रूप ही होते हैं।

१०१—प्रज्ञावान् समयानुसार असावद्य निर्दोष और परिमित भाषा ही बोले।

१०२—यह वास संयोग अशाश्वत् है और दुःख एवं क्लेशों का ही भाजन है।

१०३—असाधु के धर्मों को—(नीच कर्त्तव्यों को) मत बोलो।

१०४—तप का आचरण करना तलवार की धारा पर चलना है, निश्चय ही यह दुष्कर है।

१०५—अशुभ कर्मों का निदान (अन्तिम फल) पाप ही है।

१०६—दूसरों की निंदा अश्रेयस्कारी—(हानि प्रद) ही है।

१०७—यह जीवन नष्ट हो जाने पर पुनः नहीं जोड़ा जा सकने योग्य है, अतः इसमें प्रमाद मत करो।

१०८—असंभत्तो अमुच्छिओ, भत्तपाणं गवेसिए। (श्रमण भिक्षु १८)

१०९—असंविभागी न हु तस्स मुक्खो। (प्रकी. ५)

११०—असन्मत्तं पलोइज्जा। (उपदेश २८)

१११—अहम्मो ठाण लक्खणो। (प्रकी. २१)

११२—अहम्मं कुणमाणस्स अफला जन्ति राइओ। (अधर्म १)

११३—अहि गरणं न करेज्ज पंडिए। (कषाय ३३)

११४—अहिपासए आय तुले पाणेहिं। (उपदेश ७७)

११५—अहिंसा निउणा दिट्ठा। (अहिंसा ३)

११६—अहीण पचेंदियया हु दुल्लहा। (दुर्लभ ११)

११७—अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई। (कषाय २३)

११८—अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिया।
(श्रमण-भिक्षु १७)

११९—आणाइ सुद्धं वयणं भिउंजे। (मन्यादि ३८)

१२०—आणाए अभिसमेच्चा अकुओभयं। (प्रशस्त ४)

१२१—आणाए मामगं धम्मं। (धर्म २१)

१२२—आयगुत्ते सया दंते, छिन्नसोए अणासवे। (महापुरुष ४८)

१०८—असंभ्रांत होता हुआ, अमूर्छित-(अनासक्त) होता हुआ भोजन-पानी की गवेषणा करे।

१०९—जो दूसरों के साथ विषमता रखने वाला है, उसका मोक्ष नहीं हो सकता है।

११०—आसक्ति पूर्वक किसी भी ओर मत देखो।

१११—अधर्मास्तिकाय का लक्षण ठहरने में सहायता देना है।

११२—अधर्म कार्य करने वाले की रात्रियाँ-दिन और रात निष्फल ही जाती है।

११३—पंडित-अधिकरण क्रिया का (शस्त्र अस्त्र संबंधी क्रियाओं को) नहीं करे।

११४—अपनी आत्मा के समान ही प्राणियों को देखो का अथवा समझो।

११५—अहिंसा, निपुण यानी अनेक प्रकार के सुख को देने वाली देखी गई है।

११६—परिपूर्ण पांचों इन्द्रियों की स्थिति प्राप्त होना दुर्लभ है।

११७—क्रोध से नीचे की गति को जाता है, और मान से अधम गति प्राप्त होती है।

११८—अहा! (हर्ष है कि), जिन द्वारा (अरिहंत-तीर्थंकरों द्वारा) साधुओं की वृत्ति असावद्य कही गई है।

११९—भगवान की आज्ञानुसार शुद्ध वचनों का ही उच्चारण करो।

१२०—आज्ञानुसार अच्छी तरह से निःसंशय पूर्वक (तत्वों को) जान कर (तदनुसार कार्य करने वाले के लिये) कहीं पर भी भय नहीं रहता है।

१२१—आज्ञानुसार चलना ही मेरा धर्म है।

१२२—आत्मा को गोपने वाला, सदा इन्द्रियों का दमन करने वाला, शोक से रहित और आश्रव से रहित (ही महापुरुष होता है)।

१२३—आयगुत्ते सया वीरे। (योग २)

१२४—आयरिअत्तं पुण रावि, दुल्लहं। (दुर्लभ ९)

१२५—आयरियं उवचिट्ठइज्जा, अणंत नाणोवगओ वि संतो।
(सात्विक १३)

१२६—आयरियं विदित्ताणं, सव्व दुक्खा विमुच्चई। (धर्म १४)

१२७—आयाण गुत्ते वलया विमुक्के। (योग ९)

१२८—आयाणिज्जं परिन्नाय परियाएण विगिंचइ। (कर्म २७)

१२९—आयक दंसी न करेइ पावं। (सात्विक १६)
१३०—आयं ण कुज्जा इह जीवियट्ठी। (लोभ १३)
१३१—आरियं उव संपज्जे। (धर्म २२)
१३२—आरियं मग्गं परम च समाहिए। (धर्म २३)
१३३—आरंभ संभिया कामा न ते दुक्ख विमोयगा। (कषाय ३४)

१३४—आरंभा विरमेज्ज सुव्वए। (अनिष्ट ३५)
१३५—आलोयणाए उज्जु भावं जणयइ। (तप २२)
१३६—आवज्जई इन्दिय चोर वस्से। (योग २२)

१३७—आवट्टं सोए संग मभि जाणइ। (प्रशस्त ६)

१३८—आवट्टं तु पेहाए इत्थ, विरमिज्ज वेयवी।(सद्गुण १४)

१२३—प्रभु महावीर सदैव आत्मा को गोपने वाले ही थे। (वीर पुरुष सदा आत्मा को वश में करने वाले ही होते हैं)।

१२४—(सात्विक बातों का) आचरण करना ही सब से अधिक दुर्लभ है।

१२५—(शिष्य) अनंत ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी आचार्य के पास विनय पूर्वक ही बैठे।

१२६—आचरण-योग्य धर्म को जान करके सभी दुःख नाश किये जा सकते हैं।

१२७—आदान पर यानी आश्रव पर गुप्ति रखने वाला संसार से (कषाय से) विमुक्त हो जाता है।

१२८—(ज्ञानी) आश्रव और बंध का स्वरूप जानकर साधुता रूपा पर्याय द्वारा उन्हें दूर करता है।

१२९—आतंक दर्शी-(सम्यक्त्वी) पाप नहीं करता है।

१३०—जीवितार्थी-(आत्महितैषी) लोभ नहीं करे।

१३१—ज्ञानी के शरण में जाओ।

१३२—ज्ञानी का मार्ग ही श्रेष्ठ है और (वही) समाधि वाला है।

१३३—काम-भोग आरंभ से भरे हुए ही होते हैं, इसलिये वे दुःख के विमोचक नहीं हो सकते हैं।

१३४—सुव्रती-ज्ञानी, आरंभ के कामों से दूर रहे।

१३५—आलोचना से ऋजु भाव—याने निष्कपटता के भाव पैदा होते हैं।

१३६—इन्द्रिय रूपी चोर के वश में (पड़ी हुई आत्मा संसार में ही) भ्रमण करती है।

१३७—(जो ज्ञानी है, वह) आवर्त्तन रूप संसार को और श्रुति आदि इन्द्रियों के विषय के पारस्परिक संबंध को भलीभांति जानता है।

१३८—शास्त्रों का ज्ञाता आवर्त्तन रूप संसार को देख कर यहां पर पाप-कामों से दूर हो जाय।

१३९—आसयण नत्थि मुक्खो । (अनिष्ट ७
१४०—आसुरत्तं न गच्छिज्जा, सुच्चाणं जिण सासणं ।(क्रोध ५

१४१—आसं च छंदं च विगिं च धीरे । (उपदेश ४६

१४२—आहा कम्मेहिं गच्छई । (कर्म ११

इ

१४३—इओ विद्धंसमाणस्स, पुणो संबोहि दुल्लभा ।(दुर्लभ १४)

१४४—इच्छा कामं च लोभं च सज्जओ परिवज्जए । (लोभ ९)
१४५—इच्छा लोभं न सेविज्जा । (लोभ ११)

१४६—इच्छा हु आगास समा अणन्तिया । (लोभ २)
१४७—इंखिणिया उ पाविया । (अनिष्ट १३)
१४८—इंगियागार संपन्ने से विणीए । (सात्विक २)

१४९—इत्थिओ जे ण सेवंति, आइ मोक्खा हु ते जणा ।
(शील २)
१५०—इत्थियाहिं अणगारा संवासेण णास मुवयंति ।(शील २४)
१५१—इत्थी निलयस्स मज्झे न बम्भयारिस्स खमो निवासो ।
(शील २०)
१५२—इत्थी वसंगया बाला जिण-सासण परम्मुहा (काम ३)

१५३—इमा पया बहु माया, मोहेण पाउडा । (कषाय २१)

१३९—आसातना में-आज्ञा भंग में मोक्ष नहीं है ।

१४०—जिन-शासन को सुन कर (जैन-धर्म का ज्ञान प्राप्त कर) क्रोध मत करो ।

१४१—हे धीरज वाले आदमी ! तू विषयों संबंधी आशा को और अभिलाषा को छोड़ दे ।

१४२—(आत्मा) अपने किये हुए कर्मों के अनुसार ही (परलोक को) जाता है ।

इ

१४३—यहाँ से विध्वंस हुई आत्मा के लिये पुनः ज्ञान प्राप्त होना दुर्लभ है ।

१४४—संयती, इच्छा को, काम-वासना को, और लोभ को छोड़ दे ।

१४५—(विषय की) इच्छाओं को और लोभ को मत सेवो, इनकी सेवना मत करो ।

१४६—निश्चय करके इच्छाऐं आकाश के समान अनन्त हैं ।

१४७—निन्दा ही पाप है ।

१४८—"इंगित और आकार में ही" याने संकेत-इशारे में ही समझ लेने वाला विनीत कहा जाता है ।

१४९—जो स्त्रियों को नहीं सेवते हैं, वे महापुरुष निश्चय ही आदि मुक्त याने मोक्ष प्राप्त किये हुए ही हैं ।

१५०—स्त्रियों के साथ सहवास करने से अनगार नाश को प्राप्त होते हैं ।

१५१—स्त्रियों के निवास के मध्य में ब्रह्मचारी का निवास योग्य नहीं है ।

१५२—जो बाल-मूर्ख स्त्री के वश में गये हुए हैं, वे जिन-शासन से पराङ्मुख हैं । (यानें दूर हैं)

१५३—ये स्त्रियां बहुत माया वाली हैं और मोह से ढँकी हुई हैं ।

१५४—इमेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ। (कर्त्तव्य १

१५५—इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि, हरा हरंति त्ति क
पमाओ। (उपदेश ५९

१५६—इमं सरीरं अणिच्चं, असुइ, असुइ संभवं। (अनित्य ५
१५७—इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे। (प्रा. मं. ८
१५८- इह माणुस्सए ठाणे, धम्म माराहिउंणरा। (धर्म ६
१५९—इह संति गया दविया, णाव कंखंति जीविउं। (सात्विक २

१६०—इहं तु कम्माइं पुरे कडाइं। (कर्म १३

उ

१६१—उक्कसं जलणं णूमं, मज्झत्थं च विगिंचए। (कषाय २४
१६२—उग्गं महव्वयं बंभं धारेयव्वं सुदुक्खरं। (शील ७

१६३—उच्चावएसु विसएसु ताई, निस्संसरयं भिक्खू समाहिपत्ते
(श्रमण-भिक्षु ३०

१६४—उत्तम धम्म सुई हु दुल्लहा। (दुर्लभ १)
१६५—उदही नाणा रयण पडिपुण्णे, एवं हवइ बहुस्सुए। (ज्ञान १९

१६६—उवणिज्जई जीविय मप्पमायं, मा कासि कम्माइं
महालयाइं। (वैराग्य ११)
१६७—उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोव लिप्पई। (भोग ७)

१५४—(आत्मस्थ कषायों से ही) युद्ध करो, तुम्हारे बाह्य युद्ध से क्या, (लाभ है ?) ।

१५५—यह मेरा है, और यह मेरा नहीं है, ऐसा कहते कहते ही मृत्यु रूपी चोर आत्मा को चुरा ले जाते हैं, तो फिर प्रमादा बनकर कैसे बैठे हो !

१५६—यह शरीर अनित्य है, अशुद्ध है और अशुद्धि से ही उत्पन्न हुआ है।

१५७—इस प्रकार ऋषियों में सर्व श्रेष्ठ श्री वर्धमान महावीर स्वामी हैं।

१५८—इस मनुष्य-लोक में धर्माराधन के लिये मनुष्य ही (समर्थ) है।

१५९—यहां पर शांति को प्राप्त हुई भव्य आत्माएं-जीवन के लिये—(संसार परिभ्रमण के लिये) आकांक्षाएं नहीं रखती हैं।

१६०—यहां पर जो कर्म (फल दे रहे हैं) वे पहिले किये हुए हैं, पहिले बांधे हुए हैं।

१६१—(आत्महितैषी) मान को, क्रोध को, माया को और लोभ को छोड़ दे।

१६२—जो उग्र है, महाव्रत है, सुदुष्कर है, ऐसे ब्रह्मचर्य को धारण करना चाहिये।

१६३—उच्च आपत्तियों को लाने वाले, और महान् दुःखों को पैदा करने वाले बिषयों से जो अपनी रक्षा करता है, निस्संदेह वह भिक्षु है, और उसने समाधि प्राप्त कर ली है।

१६४—निश्चय ही उत्तम धर्म का श्रवण दुर्लभ है।

१६५—जैसे उदधि-समुद्र, नाना रत्नों से परिपूर्ण होता है, वैसे ही बहु-श्रुत भी (विविध ज्ञान से परिपूर्ण) होता है।

१६६—यह जीवन बिना प्रमाद के, बिना ढील किये ही मृत्यु के पास चला जा रहा है, अतः महती दुर्गति के देन वाले कर्मों को तू मत कर।

१६७—भोगों के भोगने पर ही, उपलेप याने कर्मों का लेप होता है, किन्तु अभोगी कर्मों से उपलिप्त नहीं होता है।

१६८—उववाय कारी य हरी मणे, य एगंत दिट्ठी य अमाइ रूवे। (सात्विक. ८)

१६९—उवसमेण हणे कोहँ। (क्रोध २)

१७०—उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति, दुमं जहा खीण फलं व पक्खी। (काम. ११)

ए

१७१—एक्को सयं पच्चणु होइ दुक्खं। (वैराग्य १८)

१७२—एक्को हु धम्मो ताणं न विज्जई अन्नमिहेह किंचि। (धर्म १२)

१७३—एगग्ग मण संनिवेसण याए, चित्तं निरोहं करेइ। (योग ४)

१७४—एगत्त मेयं अभिपत्थएज्जा। (वैराग्य १९)

१७५—एगन्त दुक्खे जरिए व लोए। (संसार २)

१७६—एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इन्दियाणि य। (उपदेश ५०)

१७७—एगस्स जंतो गति रागती य। (वैराग्य २०)

१७८—एगे अह मंसि, न मे अत्थि कोइ, न या हमवि कस्स वि। (वैराग्य १)

१७९—एगे आया। (आत्म १)

१८०—एगे चरित्ते। (चारित्र १)

१८१—एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस। (प्रकी. १२)

१८२—एगे नाणे। (ज्ञान १)

१८३—एगो सयं पच्चणु होइ दुक्खं। (वैराग्य १२)

१६८—आज्ञाकारी, लज्जा वाला, एकान्त सम्यक्-दृष्टि पुरुष अमायावी होता है—निष्कपट होता है।

१६९—शान्ति द्वारा क्रोध का नाश करे।

१७०—जैसे पक्षी नष्ट हुए फल वाले वृक्ष को छोड़ कर चले जाते हैं, वैसे ही भुक्त-भाग भी पुरुष को छोड़ देते हैं। (भोगों से क्षीण होकर अंत में पुरुष मर जाता है।)

ए

१७१—दुःख का अनुभव अकेले को ही और खुद को ही करना पड़ता है।

१७२—अकेला धर्म ही रक्षक है, अन्य कोई यहाँ पर रक्षक नहीं पाया जाता है।

१७३—एकाग्र रूप से मन का संनिवेश करने से चित्त निरोध होता है।

१७४—एकत्व भावना की ही प्रार्थना करो।

१७५—यह लोक ज्वर के समान एकान्त दुःख रूप ही है।

१७६—वश में नहीं किया हुआ आत्मा एक शत्रु रूप ही है, इसी प्रकार कषाय और इन्द्रियाँ भी शत्रुरूप ही हैं।

१७७—प्राणी अकेला ही जाता है और अकेला ही आता है।

१७८—मैं अकेला ही हूँ, मेरा कोई नहीं है, और मैं भी किसी का नहीं हूँ।

१७९—एक ही आत्मा है।

१८०—एक ही चारित्र है।

१८१—एक के जीत लेने पर पाँच जीत लिये जाते हैं, पाँच के जीत लेने पर दस जीत लिए जाते है।

१८२—एक ही ज्ञान है।

१८३—अकेला स्वयं ही दुःख का अनुभव करता है।

१८४—एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ। (आत्म ७)

१८५—एगंत दिट्ठी अपरिग्गहे उ, बुज्झिज्ज लोयस्स वसं न गच्छे। (उपदेश ९०)

१८६—एत्थ मोहे पुणो पुणो। (कषाय ३१)

१८७—एत्थोवरए मेहावी सव्वं पाव कम्मं झोसइ। (महापुरुष २८)

१८८—एयाइं मयाइं विगिंच धीरा। (उपदेश १८)

१८९—एयं खु नाणिनो सारं जन्न हिंसइ किंचणं। (अहिंसा २)

ओ

१९०—एस धम्मे धुवे निच्चे सासए जिण देसिए। (धर्म ११)

१९१—ओए तहीयं फरूसं वियाणे। (सत्यादि ३७)

अं

१९२—ओमा सणाणं दमि इन्दियाणं, न राग सत्तू धरि सेइ चित्तं। (सद्गुण ९)

१९३—अंताणि धीरा सेवंति, तेण अंतकरा इह। (महापुरुष ६)

क

१९४—कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि। कर्म ४)

१९५—कडाण कम्माण न मोक्खो अत्थि। (कर्म ३)

१९६—कत्तार मेव अणुजाइ कम्मं। (कर्म १७)

१९७—कप्पिओ फालिओ छिन्नो, उक्किक्तो अ अणेगसो। (आत्म १६)

१८४—अकेली आत्मा पर ही विजय प्राप्त करो, यही सर्व श्रेष्ठ विजय है।

१८५—एकान्त सम्यक् दृष्टि वाला अपरिग्रही ही है, और वह लोक का स्वरूप समझ कर उसके वश में नहीं जावे।

१८६—यहाँ पर मोह बार बार (आकर्षित करता रहता) है।

१८७—इस मोह से उपरत- (दूर) होता हुआ मेधावी सभी पाप कर्म को जला डालता है।

१८८—धीर पुरुष इन अभिमान– मद के कारणों को दूर कर दे।

१८९—ज्ञानी के लिये यही सार है कि वह किसी की भा हिंसा नहीं करता है।

१९०—जिन भगवान द्वारा उपदिष्ट यह धम ही ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत् है।

ओ

१९१—राग द्वेष रहित हो, किन्तु कठोर हो तो ऐसे वचन नहीं बोले।

१९२—अल्प आहार करने वाले के आर इन्द्रियों का दमन करने वाले के चित्त को राग रूप शत्रु नहीं जीत सकता है।

अं

१९३—धीर पुरुष राग द्वेष को अंत करने वाली क्रियाओं का सेवन करते हैं, इसलिय यहाँ पर वे अन्त करा याने चरम-शरीरी कहलाते हैं।

क

१९४—कृत कर्मों को (भोगे बिना) मोक्ष नहीं है।

१९५—कर्म करने वालों का मोक्ष नहीं है।

१९६—कर्म कर्त्ता का ही अनुगमन करता है।

१९७—(यह आत्मा) अनेक बार कतरा गया, फाड़ा गया;छेदन किया गया, आर उत्कर्त्तन-याने चमडी उतारी गई।

१९८—कम्माणि बलवन्ति हि। (कर्म, ५)

१९९—कम्मी कम्मेहिं किच्चती। (कर्म २३)

२००—कम्मं च मोहप्पभवं। (कर्म ६)

२०१—कम्मं च जाइ मरणस्स मूलं। (कर्म ९)

२०२—कम्मुणा उवाही जायइ। (कर्म १२)

२०३—कम्मुणा तेण संजुत्तो, गच्छई उ परं भवं। (कर्म १८)

२०४—कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
(प्रकी. ३)

२०५—कम्मेहिं लुप्पन्ति पाणिणो। (कर्म ८)

२०६—करेइ लोहं वेरं वड्ढेइ अप्पणो। (लोभ ८)

२०७—कलहं जुद्धं दूरओ परिवज्जए। (क्रोध ४)

२०८—कषाय पच्चक्खाणेणं, वीयराग भावं जणयइ।
(सात्विक २०)

२०९—कसाया अग्गिणो कुत्ता, सुय सील तवो जलं।
(कषाय ४)

२१०—कहं धीरो अहे अहिं, उम्मत्तो व महिं चरे।
(महापुरुष ४२)

२११—काउस्सग्गेणं तीय पडुप्पन्नं, पायच्छित्तं विसोहेइ।
(तप १८)

२१२—काम कामी खलु अयं पुरिसे, से सोयइ, जूरइ, तिप्पइ, परितप्पइ, (काम ३४)

२१३—काम भोग रस गिद्धा, उव वज्जन्ति आसुरे काए।
(काम १०)

२१४—काम भोगाणुराएणं केसं संपडिवज्जई। (काम १९)

१९८--निश्चय में कर्म बलवान हैं ।

१९९--कर्मी कर्मों से ही दुःख पाता है ।

२००--कर्म मोह से ही उत्पन्न होते हैं ।

२०१--कर्म ही जन्म और मरण का मूल है ।

२०२--कर्म से उपाधि (नाना विपत्तियाँ) पैदा होती है ।

२०३--उस कर्म से संयुक्त होता हुआ ही (जीव) परलोक को जाता है ।

२०४--कर्म याने आचरण से ही ब्राह्मण होता है और आचरण से ही क्षत्रिय होता है ।

२०५--प्राणी कर्मों से ही डूबते हैं ।

२०६--जो लोभ करता है, उसके लिये चारों ओर से वैर बढ़ता है ।

२०७--कलह को और युद्ध को दूर से ही छोड़ दे ।

२०८--कषाय का परित्याग करने से वीतराग-भाव उत्पन्न होता है ।

२०९--कषाय को अग्नि कहा गया है और ज्ञान, शील, तप को जल बतलाया है ।

२१०--धीर पुरुष क्यों रात और दिन, इधर उधर उन्मत्त की तरह से पृथ्वी पर घूमते रहते हैं ?

२११--कायोत्सर्ग से अतीत काल का और वर्तमान काल का प्रायश्चित विशुद्ध होता है ।

२१२--जो पुरुष निश्चय करके काम-भोगों का कामी है--इच्छुक है; वह शोक करता है, वह झूरता है, वह ताप भोगता है और वह परिताप को प्राप्त होता है ।

२१३--जो काम-भोगों के रस में गृद्ध हैं, वे अन्त में असुर काया में-(नीच जाति में) उत्पन्न होते हैं ।

२१४--काम-भोगों में अनुराग रखने से (जीव) क्लेश को संप्राप्त होता है ।

२१५—काम भोगा विसं ताल उडं । (काम २०)
२१६—काम भोगे य दुच्चए । (काम १६)
२१७—काम समणुन्ने असमिय दुक्खे, दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणु परियट्टइ । (भोग १२)
२१८—कामाणु गिद्धिप्पभवं खु दुक्खं । (काम २३)
२१९—कामा दुरतिक्कमा (काम ९)
२२०—कामे कमाही, कमियं खु दुक्खं । (काम ५)
२२१—कामे संसार वड्ढणे, संक माणो तणुं चरे। (काम १४)
२२२—कायरा जणा लूसगा भवन्ति । (बाल ३५)
२२३—काले कालं समायरे। (उपदेश २२)
२२४—किरियं चरो अए धीरो। (महापुरुष २२)
२२५—किसए देह मणासणाइहिं । (तप २६)
२२६—किं हिन्साए पसज्जसि । (हिंसा ६)
२२६—कीलेहिं विज्झन्ति असाहु कम्मा। (प्रकी. ८)
२२८—कीवा जत्थ य किस्सन्ति, नाइ संगेहिं मच्छिया । (अनिष्ट ३४)
२२९—कीवा वसगया गिहं । (बाल १९)
२३०—कुज्जा साहूहिं सन्थवं । (उपदेश, ७०)
२३१—कुप्प वयण पासन्डी, सव्वे उम्मग्ग पट्ठिया। (बाल ३७)
२३२—कुम्मुव्व अल्लीण पलीण गुत्तो । (उपदेश ६६)
२३३—कुररी विवाभोग रसाणु गिद्धा, निरट्ठ सोया परिताव मेइ । (काम २४)

२१५—काम-भोग साक्षात् तालपुट विष के समान ही हैं।

२१६—काम-भोग कठिनाई से त्यागे जाते हैं।

२१७—जिसको काम-भोग ही प्रिय हैं, उसके दुःख शांत नहीं होते हैं। वह दुःखी हाता हुआ दुःखों की आवृत्ति की ही प्राप्त करता रहता है।

२१८—दुःख निश्चय ही काम-भोगों में अनुगृद्ध होने से उत्पन्न होते हैं।

२१९—काम-भोगों पर विजय प्राप्त करना बड़ा ही कठिन है।

२२०—काम-भोगों को हटा दो, इससे निश्चय ही दुःख भी हट जायगा।

२२१—काम-भोग संसार को बढ़ाने वाले हैं, ऐसा समझते हुए उन्हें पतला कर दे —(क्षीण कर दे)।

२२२—कायर पुरुष व्रत के नाश करने वाले ही होते हैं।

२२३—काल-क्रम के अनुसार ही जीवन-व्यवहार को चलावे।

२२४—धीर पुरुष सत् क्रिया का आचरण करने वाला होवे।

२२५—अनशन आदि तप द्वारा देह को कृश करे।

२२६—हिंसा में क्यों उद्यत रहते हो?

२२७—नीच कर्म करने वाले कीलों से बींधे जाते हैं।

२२८—ज्ञाति वालों के साथ मूर्च्छित हुए, निर्बल आत्मा वाले पुरुष अन्त में घोर दुःख पाते हैं।

२२९—निर्बल आत्माएं घर-गृहस्थी के जंजाल में ही फंस जाती हैं।

२३०—साधु-सज्जन पुरुषों के साथ संगति और परिचय करो।

२३१—कुप्रवचन वाले पाखंडी याने मिथ्यात्वी सभी उन्मार्ग में ही स्थित हैं।

२३२ गुरु आदि के आश्रय में रहता हुआ कछुए के समान अपनी इन्द्रियों को और मन को संयम में रखने वाला होवे।

२३३—काम-भोगों के रसों में गृद्ध आत्मा अन्त में-निरर्थक शोक करने वाली कुररी नामक पक्षिणी की तरह परिताप को प्राप्त होती है।

२३४--कुसग्गे जह ओस विंदुए, एवं मणुयाण जीवियं। (वैराग्य ५)

२३५--कुसग्गे पणुन्नं निवइयं वाएरियं, एवं बालस्स जीवियं। (वैराग्य ६)

२३६—कुसील वड्ढणं ठाणं, दूरओ परिवज्जए। (शील ८)

२३७—कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे, तेण दुक्खेण संमूढे विप्परियास मुवेइ। (बाल २३)

२३८—कोलावासं समासज्ज वितहं पाउरे सए। (प्रकी. ११)

२३९--कोहो पीइं पणासेई। (क्रोध १)

२४०—कोहं असच्चं कुव्वेज्जा। (क्रोध ३)

२४१—कोहं माणं ण पत्थए। (कषाय २६)

२४२--कंखे गुणे जाव सरीर भेउ। (उपदेश ६)

ख

२४३—खणं जाणाहि पंडिए। (उपदेश ४५)

२४४--खण मित्त सुक्खा बहु काल दुक्खा, पगाम दुक्खा अणिगाम सुक्खा। (उपदेश ५२)

२४५—खन्ती एणं परिसहे जिणइ। (क्षमा २)

२४६—खमा वणयाए पल्हायण भावं जणयइ। (क्षमा ३)

२४७—खमेह अवराहं मे, वइज्ज न पुणु त्ति अ। (सात्विक ३)

२४८—खवंति अप्पाण ममोहदंसिणो। (महापुरुष १८)

२३४—जैसे कुशाग्र भाग पर, (घास पर) ओस की बिंदु अस्थिर होती है; वैसे ही यह मनुष्य-जीवन भा अस्थिर है।

२३५—कुशाग्र पर (ठहरा हुआ) जल बिंदु हवा द्वारा प्रेरणा पाकर गिर पड़ता है, वैसे ही बाल जन का, भोगी का जीवन भी नष्ट हो जाता है।

२३६—कुशील को बढ़ाने वाले स्थान को दूर से ही छोड़ दो।

२३७—मंद बुद्धिवाला क्रूर कर्म करता हुआ और उसके दुःख से विवेक शून्य होता हुआ अंत में विपरीत स्थिति को (राग द्वेष की स्थिति का) प्रप्त होता है।

२३८—जैसे काठ का कीड़ा अपना घर काठ में बनाही लेता है, वैसे ही आत्मार्थी मिथ्यात्व की खोज करता हुआ सत्य को प्राप्त कर ले।

२३९—क्रोध प्रीति का नाश करता है।

२४०—क्रोध को असत्य कर दो, याने क्रोध मत करो।

२४१—क्रोध की और मान की इच्छा मत करो।

२४२—शरीर समाप्ति के अन्तिम क्षग तक भी गुणों की आकांक्षा करते रहो।

ख

२४३—हे पंडित ! हे आत्मज्ञ ! क्षण को अर्थात् समय के मूल्य को पहिचानो !

२४४—काम-भोग क्षण-मात्र के लिये ही सुख रूप हैं, जब कि इनका परिणाम बहुत काल के लिये दुःखदाता है। ये अल्प सुख देने वाले और महान् दुःख देने वाले हैं।

२४५—(उच्च आत्मा) क्षमा द्वारा परिषहों को जीतता है।

२४६—क्षमापना से प्रसन्नता के भाव पैदा होते हैं।

२४७—मेरे अपराध को क्षमा करो, और ऐसा बोले कि "पुनः ऐसा नहीं होगा।"

२४८—अमोहदर्शी याने तत्त्वदर्शी अपने पूर्व कर्मों का क्षय कर डालते हैं।

२४९—खाणी अणत्थाण उ काम भोगा। (काम १३)

२५०—खेमं च सिवं अणुत्तरं। (मोक्ष १)

२५१—खेयन्नए से कुसला सुपन्ने, अणंत नाणी य अणंत दंसी।
(प्रा. मं. १४)

२५२—खंति सूरा अरहंता, तवसूरा अणगारा, दाण सूरे वेसमणे, जुद्ध सूरे वासुदेवे। (प्रकी. ३७)

२५३—खंतिं सेविज्ज पंडिए। (क्षमा १)

२५४—खंते अभिनिव्वुडे दंते, वीतगिद्धी सदा जए।
(चारित्र ४)

ग

२५५—गइ लक्खणो उ धम्मो। (प्रकी २०)

२५६—गाढा य विवाग कम्मुणो। (कर्म ७)

२५७—गिद्ध नरा कामेसु मुच्छिया। (काम २६)

२५८—गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया, सयाण मज्झे लहइ पसंसणं।
(सत्यादि ४४)

२५९—गिहे दीव मपासंता, पुरिसा दाणिया नरा। (प्रकी ७)

२६०—गुणेहिं साहू अगुणेहिं असाहू। (श्रमण–भिक्षु १६)

२६१—गुत्तिदिए गुत्त बम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्ज।
(शील. २१)

२६२—गुत्ते जुत्ते सदा जए आय परे। (योग. ८)

२६३—गुरुणो छंदाणुवत्तगा, विरया तिन्न महोघ माहियं।
(प्रशस्त १९)

२४९—काम-भोग निश्चय ही अनर्थों की खान हैं।

२५०—(मोक्ष) क्षेम स्वरूप है, शिव स्वरूप है और अनुत्तर याने श्रेष्ठ है।

२५१—(प्रभु महावीर) खेदज्ञ याने संसार के दुःख सुखको जानने वाले थे, कुशल और शीघ्र बुद्धि वाले थे, अनंत ज्ञानी और अनन्त दर्शी थे।

२५२—क्षमा शूर अरिहंत हैं, तप शूर अनगार है, दान शूर कुबेर हैं और युद्ध शूर वासुदेव हैं।

२५३—पंडित याने सज्जन पुरुष क्षमा का आचरण करे।

२५४—(आत्महितैषी) क्षमा वाला हो, कषाय से रहित हो, जितेन्द्रिय हो, अनासक्त हो, आर सदा यत्ना शील हो।

ग

२५५—धर्मास्तिकाय का लक्षण जीव-पुद्गलों के लिये गति में सहायक होना है।

२५६—कर्मों का विपाक (फल) प्रगाढ़ याने अत्यंत कड़ुआ होता है।

२५७—गृद्ध मनुष्य काम-भोगों में मूर्च्छित होते हैं।

२५८—सदा दुष्ट वाणी से दूर ही रहो, इससे (ऐसा आत्मा) सज्जनों के मध्य में प्रशंसा को प्राप्त करता है।

२५९—गृद्ध पुरुष न तो ज्ञान रूप दीपक को ही देख सकते हैं और न चारित्र रूप द्वीप को ही प्राप्त कर सकते हैं।

२६०—गुणों द्वारा ही साधु कहा जाता है, और दुर्गुणों से ही असाधु कहा जाता है।

२६१—जितेन्द्रिय और गुप्त ब्रह्मचारी सदा अप्रमादी होकर ही विचरे।

२६२—आत्म भावना वाला सदा गुप्तिशील, जितेन्द्रिय और यत्ना वाला होवे।

२६३—यह संसार महान् प्रवाह रूप समुद्र के समान कहा गया है, आर इसको गुरु की आज्ञानुसार चलने वालों ने तथा पापों से दूर रहने वालों ने ही पार किया हैं।

२६४—गुरुं तु नासाययई स पुज्जो । (महपुरुष १३)

२६५—गंधाणुरत्तस्स नरस्स एवं कत्तो मुहं होज्ज कयाइ किंचि ।
(योग १९)

च

२६६—चउक्कसायावगए स पुज्जो । (महापुरुष ९)

२६७—चउव्विहा बुद्धी; उप्पइया, वेणइया, कम्मिया, पारिणामिया । (ज्ञान ८)

२६८—चउव्विहे कव्वे, गज्जे, पज्जे, कत्थे, गेये । (प्रकी. ४०)

२६९—चउव्विहे पायच्छित्ते, णाणपायच्छित्ते, दंसण, पायच्छित्ते चरित्त पायच्छित्ते, वियत्त किच्चे पायच्छित्ते । (तप २५)

२७०—चउव्विहे बन्धे, पगइ बन्धे, ठिइ बन्धे, अणुभाव बन्धे, पएस बन्धे । (कर्म २६)

२७१—चउव्विहे संघे, समणा, समणीओ, सावगा, साविगाओ ।
(प्रकी. ३२.)

२७२—चउव्विहे संसारे, दव्व संसारे, खेत्त संसारे, काल संसारे भाव संसारे ! (संसार १३)

२७३—चउव्वीसत्थएणं दंसण विसोहिं जणयइ । (दर्शन १०)

२७४—चउहिं ठाणेहिं जीवा तिरिक्ख जोणियत्ताए कम्मं पगरेंति, माइल्लयाए, नियडिल्लयाए, अलिय वयणेणं, कूडतुल्ल कूडमाणेणं । (अनिष्ट ३६)

२७५—चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मं पगरेंति, महारंभयाए, महापरिग्गहयाए पंचेंदिय वहेणं, कुणिमाहारेणं ।
(अनिष्ट ३७)

२६४—जो गुरु की आशातना या अविनय नहा करता है, वही पूज्य है ।

२६५—बंध रूप विषय में अनुरक्त मनुष्य के लिये जरा भी सुख कैसे और कब हो सकता है ?

च

२६६—जो चारों कषायों से रहित हो गया है, वही पूज्य है ।

२६७—चार प्रकार की बुद्धि बतलाई गई हैं, औत्पातिकी, वैनयिकी, कार्मिकी, और पारिणामिकी ।

२६८—काव्य चार प्रकार का है । गद्य, पद्य, कथा और गेय ।

२६९—प्रायश्चित चार प्रकार का है :– १ ज्ञान प्रायश्चित २ दर्शन प्रायश्चित, ३ चारित्र प्रायश्चित और ४ व्यक्तकृत्य प्रायश्चित ।

२७०—बंध चार प्रकार का है :— १ प्रकृति बंध, २ स्थिति बंध, ३ अनुभाव बंध और ४ प्रदेश बंध ।

२७१—संघ चार प्रकार का है, १ साधु, २ साध्वी, ३ श्रावक और ४ श्राविका ।

२७२—संसार चार प्रकार का है, १ द्रव्य संसार, २ क्षेत्र संसार, ३ काल संसार, और ४ भाव संसार ।

२७३—चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति से दर्शन-विशुद्धि (सम्यक्त्व शुद्धि) होती है ।

२७४—चार प्रकार के कामों से जीव तिर्यंच योनि का कर्म बंध करते है १ माया से, २ ठगने का कार्य करने से, ३ झूठ वचन से, और ४ खोटा तोल खोटा माप करने से ।

२७५—चार प्रकार के कामों से जीव नरक-योनि का कर्म-बंध करते हैं । १ महा आरंभ से, २ महा परिग्रह से, ३ पंचेन्द्रिय जीवों की घात करने से और ४ मांस का आहार करने से ।

२७६—चउहिं ठाणेहिं जीवा देवाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, सराग संजमेणं, संजमासंजमेणं, बालतवो कम्मेणं, अकाम निज्जराए। (सद्गुण २४)

२७७—चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुस्सत्ताए कम्मं पगरेंति, पगइ भद्दयाए, विणीयाए, साणुक्कोसयाए, अमच्छरियाए। (सद्गुण २५)

२७८—चत्तारि अवायणिज्जा, अविणीए, विगइप्पडिवद्धे, अविउसविय पाहुडे, मायी। (प्रकी ३४)

२७९—चत्तारि आयरिया, आमलग महुर फल समाणे, मुद्दिया महुर फल समाणे, खीर महुर फल समाणे, खंड महुर फल समाणे। (श्रमण ५४)

२८०—चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचिति मूलाइं पुणब्भवस्स (कषाय ७)

२८१—चत्तारि झाणा, अट्टे झाणे, रोद्दे झाणे, धम्मे झाणे, सुक्के। झाणे। (प्रकी. ३९)

२८२—चत्तारि धम्म दारा, खंति, मोत्ती, अज्जवे, मद्दवे। (धर्म ३६)

२८३—चत्तारि भासाओ भासित्तए, जायणी, पुच्छणी, अणुन्नवणी, पुट्ठस्स, वागरणी। (सत्यादि ४६)

२८४—चत्तारि वमे सया कसाए। (कषाय ५)

२८५—चत्तारि वायणिज्जा, विणीए, अविगइ पडिवद्धे, विउसवियपाहुडे, अमायी। (प्रका ३३)

२८६—चत्तारि विकहाओ पण्णत्ताओ, इत्थि कहा, भत्त कहा, देस कहा, राय कहा। (प्रकी. ३८)

२७६—चार प्रकार के कामों से जीव देव-योनि का कर्म बंध करते हैं:—१ सराग संयम से, २ संयमासंयम से ३ बाल-तपस्या से और ४ अकामनिर्जरा से ।

२७७—चार प्रकार के कामों से जीव मनुष्य-गति का कर्म बंध करते हैं;—१ प्रकृति की भद्रता से, २ विनीत भाव से, ३ दयालु प्रकृति से और ४ मात्सर्य भाव नहीं रखने से ।

२७८—चार प्रकार के पुरुष वाचना देने योग्य नहीं होते हैं:—१ अविनीत, २ स्वाद इन्द्रिय में गृद्ध, ३ क्रोधी और ४ कपटी ।

२७९—चार प्रकार के आचार्य होते हैं १ आंवले के मधुर फल समान, २ द्राक्ष मधुर फल समान, ३ क्षीर मधुर फल समान और ४ खांड मधुर फल समान ।

२८०—ये चारों ही परिपूर्ण कषाय, पुनः पुनः जन्म-मरण की जड़ों को सींचते रहते हैं ।

२८१—ध्यान चार प्रकार का है, आर्त्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म-ध्यान, और शुक्ल ध्यान ।

२८२—चार प्रकार के धर्म द्वार हैं:—१क्षमा, २ विनय, ३ सरलता, और ४ मृदुता याने संतोष ।

२८३—चार प्रकार की भाषा कही गई है:—१, याचनिका, २ पृच्छनिका, ३ अवग्राहिका और ४ पृष्ट-व्याकरणिका ।

२८४—चारों कषाय सदा छोड़ने योग्य हैं ।

२८५—चार प्रकार के पुरुष वाचना देने के योग्य होते हैं:—१ विनीत, २ स्वाद-इन्द्रिय में अगृद्ध, ३ क्षमा-शील और ४ सरल हृदय वाला ।

२८६—चार प्रकार की विकथाऐं कही गई हैं:—१ स्त्री कथा, २ भोजन कथा, ३ देश कथा और ४ राज कथा ।

२८७—चत्तारि समणो वासगा, अद्दागसमाणे, पडाग समाणे, खाणु समाणे, खर कंट समाणे। (महापुरुष ४९)

२८८—चत्तारि समणोवासगा, अम्मापिइ समाणे, भाइ समाणे, मित्त समाणे, सवत्ति समाणे। (प्रकी. ३५)

२८९—चत्तारि सूरा, खंति सूरे, तव सूरे, दाण सूरे, जुद्ध सूरे। (प्रकी. ३६)

२९०—चरिज्ज धम्मं जिण देसियं विऊ। (धर्म २८)

२९१—चरित्त संपन्नयाए सेलेसी भावं जणयइ। (प्रशस्त १०)

२९२—चरित्तेण निगिण्हाइ। (चारित्र २)

२९३—चरियाए अप्पमत्तो पुट्ठो तत्थ अहियासए।
(उपदेश ११)

२९४—चरेज्ज अत्तगवेसए। (कर्त्तव्य. १३)

२९५—चरे मुणी सव्वउ विप्पमुक्के। (श्रमण-भिक्षु २९)

२९६—चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के। (श्रमण-भिक्षु ३१)

२९७—चिच्चाण णंतगं सोयं, निरवेक्खो परिव्वए
(श्रमण- भिक्षु, ४५)

२९८—चिच्चा वित्तं च णायओ आरंभं च सुसंवुडे चरे।
(महापुरुष ३३)

छ

२९९—छक्काय आहिया, णावरे कोइ विज्जई। (प्रकी. २४)

३००—छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्खं। (अनिष्ट ४०)

२८७—चार प्रकार के श्रमणोपासक याने श्रावक कहे गए हैं:—१ दर्पण समान, २ पताका समान, ३ स्थाणु समान, और ४ खर कंटक समान।

२८८—चार प्रकार के श्रमणोपासक याने श्रावक कहे गए हैं:—१ माता पिता समान, २ भाई समान, ३ मित्र समान और ४ शत्रु समान।

२८९—चार प्रकार के शूर कहे गये हैं:—१ क्षमा शूर, २ तप शूर, ३ दान शूर और ४ युद्ध शूर।

२९०—विद्वान् पुरुष जिन भगवान द्वारा उपदिष्ट धर्मका आचरण करे।

२९१—चारित्र की संपन्नता से सेलेशी भाव (चौदहवें गुणस्थान में होने वाली स्थिति विशेष) की उत्पत्ति होती है।

२९२—चारित्र द्वारा ही आश्रव का निरोध किया जा सकता है।

२९३—चारित्र में अप्रमत्त शील होता हुआ उसके (चारित्र के) मार्ग में आने वाले उपसर्गों को धैर्य के साथ सहन करता रहे।

२९४—आत्मा का अनुसंधान करने वाला चारित्र शील हो।

२९५—सब तरह से प्रपंच से दूर रहता हुआ मुनि जीवन-व्यवहार चलावे।

२९६—सब प्रकार से विप्रमुक्त होता हुआ मुनि जीवन-व्यवहार चलावे।

२९७—(साधु) आंतरिक शोक का परित्याग करके निरपेक्ष होता हुआ परिव्रजा शील हो।

२९८—(सज्जन) धन को, ज्ञाति जनों को और आरंभ को छोड़कर सुसंवृत्त याने आत्म निग्रही होता हुआ विचरे।

छ

२९९—काय (जीव-समूह) छः प्रकार का कहा गया है; इसके अतिरिक्त अन्य (काय) कोई नहीं पाया जाता है।

३००—विषयों के प्रति आसक्ति का निरोध करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

३०१—छन्नं च पसंस णो करे, न य उक्कोस पगास माहणे।
(कषाय २२)

३०२—छव्विहे भावे, उदइए, उवसमिए, खइए, खयोवसमिए, पारिणामिए संनिवाइए। (प्रकी. ४४)

३०३—छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं। (कषाय १)

३०४—छिंदिज्ज सोयं लहुभूयगामी। (उपदेश ९२)

३०५—छिन्न सोए अममे अकिंचणे। (उपदेश ७९)

३०६—जग णाहो जग बंधू, जयइ जग प्पिया महो भयवं।
(प्रा. मं. १२)

३०७—जत्थ य एगो सिद्धो, तत्थ अणंता। (मोक्ष १४)

३०८—जमट्ठं तु न जाणिज्जा एव मेअं ति नो वए।
(सत्यादि २१)

३०९—जम्म दुक्खं जरा दुक्खं दुक्खो हु संसारो। (संसार १)

३१०—जयइ गुरु लोगाणं जयइ महप्पा महावीरो।
(प्रा. मं, ९)

३११—जयइ जग-जीव-जोणी-वियाणओ, जग-गुरू, जगाणंदो।
(प्रा. मं. १३)

३१२—जयइ सुआणं पभवो, तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ।
(प्रा. मं. १०)

३१३—जय संघ चंद! निम्मल सम्मत्त विसुद्ध जोण्हागा।
(प्रशस्त २४)

३०१—विवेकी, छन्न याने माया, प्रशस्य याने लोभ, उत्कर्ष याने मान, और प्रकाश याने क्रोध नहीं करे।

३०२—भाव छः प्रकार के हैं; १—औदयिक, २ औपशमिक, ३ क्षायिक, ४ क्षायोपशमिक, ५ पारिणामिक और ६ सान्निपातिक।

३०३—द्वेष को काट डालो और राग को हटा दो।

३०४—शीघ्र ही मोक्ष में जाने की इच्छा रखने वाला शोक-संताप को काट डाले, (इन्हें) दूर कर दे।

३०५—(आत्मार्थी) छिन्न शोक वाला, ममता रहित और अकिंचन धर्म वाला होवे।

३०६—जो जगत् के नाथ हैं, जो जगत् के बंधु हैं, जो जगत् के पितामह हैं, ऐसे भगवान् महावीर स्वामी जय शील हों।

३०७—जहाँ एक सिद्ध है, वहीं अनेक याने अनंत सिद्ध भी हैं।

३०८—जिस अर्थ को तुम नहीं जानते हो, उसको "ऐसा ही है" इस प्रकार मत बोलो।

३०९—यहाँ पर जन्म का दुःख है; जरा याने बुढ़ापे का दुःख है; इस प्रकार संसार निश्चय ही दुःखों का समूह ही है।

३१०—संसार के गुरु, महान् आत्मा, प्रभु महावीर जय-शील हों। सदैव इनकी जय-विजय हो।

३११—जगत् की जीव-योनि के ज्ञाता, जगत् गुरु, जगत् को आनंद देने वाले भगवान् महावीर स्वामी जयशील हों।

३१२—सभी ज्ञान-विज्ञान के उत्पादक और तीर्थंकरों में चरम तीर्थंकर; ऐसे देवाधिदेव महावीर स्वामी जय शील हों।

३१३—निर्मल सम्यक्त्व रूप विशुद्ध चांदनी वाले हे संघ रूप चन्द्रमा ! तुम्हारी जय हो ! विजय हो !!

३१४—अयं चिट्ठे मिअं भासे। (उपदेश ७)

३१५—जरा जाव न पीडेइ, ताव धम्मं समायरे।
(उपदेश २३)

३१६—जरामच्चुवसोवणीए नरे, सययं मूढे धम्मं नाभिजाणइ।
(बाल, ३४)

३१७—जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं। (उपदेश ३७)

३१८—जवा लोहमया चेव चावेयव्वा सुदुक्करं। (चारित्र ५)

३१९—जहा कडं कम्म तहा से भारे। (कर्म २१)

३२०—जहा य किम्पाग फला मणो रमा, ए ओवमा काम गुणा विवागे। (काम-२२)

३२१—जहारिह मभि गिज्झ आ लविज्ज लविज्ज वा।
(सत्यादि ४५)

३२२—जहा लाहो तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढई। (लोभ-४)

३२३—जहा से दीवे असंदीणे एवं से धम्मे आरिय पदेसिए।
(धर्म २०)

३२४— जाइ सद्धाइ निक्खंत्तो तमेव अणुपालिज्जा। (कर्त्तव्य ३)

३२५—जाए सद्धाए निक्खंतो, तमेव अणुपालिज्जा।
(कर्त्तव्य ११)

३२६—जा जा दिच्छसि नारीओ, अट्ठि अप्पा भविस्ससि।
(शील २५)

३२७—जाया य पुत्ता न हवन्ति ताणं। (वैराग्य १४)

३२८—जाव इंदिआ न हायंति, ताव धम्मं समायरे।
(उपदेश २४)

३१४—यत्ना पूर्वक बैठे और परिमित बोले।

३१५—जब तक बुढ़ापा पीड़ा पहुँचाना प्रारंभ नहीं कर दे, तब तक-धर्म का आचरण कर लो।

३१६—बुढ़ापा और मृत्यु के चक्कर में फंसा हुआ, सदैव मूढ़ बनता हुआ मनुष्य, धर्म को नहीं समझ सकता है।

३१७—बुढ़ापे को प्राप्त हुए जीव के लिये निश्चय ही रक्षा का साधन नहीं है।

३१८—जैसे लोहे के, जौ चबाना अत्यंत कठिन है, उतना ही कठिन सयम मार्ग है।

३१९—जैसा कर्म किया है, वैसा ही उसका भार समझो।

३२०—जैसे किंपाक फल मनोरम होते है, यही उपमा फल के लिहाज से काम-भोगों की समझनी चाहिये।

३२१—यथा योग्य स्वीकार करके आलाप–संलाप करें; बात चित करें।

३२२—ज्यों ज्यों लाभ, त्यों त्यों लोभ, लाभ लोभ की वृद्धि करता रहता हैं।

३२३—जैसे समुद्र मध्य मे शरण भूत द्वीप है; वैसे ही संसार समुद्र में अरिहंतों द्वारा उपदिष्ट यह धर्म है।

३२४—जिस श्रद्धा के साथ धर्म मार्ग पर निकले, उसी अनुसार उसका अनुपालन करे।

३२५—जिस श्रद्धा के साथ निकले, उसी के अनुसार अनुपालन करे।

३२६—काम-भावना से जिस जिस नारी की ओर देखोगे; उतनी ही बार आत्मा अस्थिर होगी।

३२७—कर्म–फल भोगने के समय स्त्री और पुत्र रक्षक नहीं हो सकेंगे।

३२८—जब तक इन्द्रियाँ हीन नहीं होवें; तब तक धर्म का आचरण कर लो।

३२९—जिइंदिए जो सहइ, स पुज्जो । (महापुरुष ८)

३३०—जिइन्दिओ सव्वओ विप्पमुक्के, अणुक्कसाई स भिक्खू । (श्रमण-भिक्षु ७)

३३१—जिण भक्खरो करिस्सइ, उज्जोयं सव्व. लोगम्मि पाणिणं । (प्रशस्त ७)

३३२—जिणो जाणइ केवली । (ज्ञान ९)

३३३—जीवियए बहु पच्च वायए, विहुणा हि रयं पुरे कडं । (उपदेश, ६३)

३३४—जीवियं चेव रूवं च, विज्जु संपाय चंचलं । (अनित्य १)

३३५—जीवियं दुप्पडि वूहगं । (भोग १३)

३३६—जीवियं नाभिकंड्खेज्जा, मरणं नो वि पत्थए । (वैराग्य २१)

३३७—जीवियं नावकंखिज्जा, सोच्चा धम्म मणुत्तरं । (धर्म २४)

३३८—जीवो उवओग लक्खणं । (प्रकी १८)

३३९—जीवो पमाय बहुलो । (उपदेश. ३२)

३४०—जुद्धारिहं खलु दुल्लहं । (दुर्लभ. १३)

३४१—जे अज्झत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ, जे बहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ । (आत्मा. ६)

३४२—जे अणन्न दंसी से अणण्णारामे, जे अणण्णारामे से अणन्नदंसी । (महापुरुष ४८)

३४३—जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया । (आत्मा. ५)

३४४—जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा । (सद् गुण. १३)

३२९—जितेन्द्रिय होता हुआ जो उपसर्गों को सहता है; वही पूज्य है ।

३३०—जो जितेन्द्रिय है, जो सब प्रकार से परिग्रह से मुक्त है, जो कषायों को पतला करने वाला है, वहा भिक्षु है ।

३३१—सारे लोक में प्राणियों के लिये जिन—याने तीर्थंकर रूप सूर्य ही (ज्ञान—दर्शन का) उद्योत करेंगे ।

३३२—जिन रूप केवली ही सब कुछ जानते हैं ।

३३३—यह जीवन अनेक विघ्न बाधाओं से परिपूर्ण है; इसलिये शीघ्र ही पूर्व कृत कर्मों का नाश कर दो ।

३३४—यह जीवन और रूप—यौवन विद्युत की चमक के समान-चंचल हैं ।

३३५—यह जीवन—(आयु) बढ़ाया जा सके; ऐसा नहीं है ।

३३६—(महापुरुष) न तो जीवित रहने की आकांक्षा करे और न मृत्यु की वांछा करे !

३३७—श्रेष्ठ धर्म का श्रवण करके (भोगों के लिये) जीवन की आकांक्षा नहीं करे ।

३३८—उपयोग याने ज्ञान ही जीव का लक्षण है ।

३३९—(स्वभाव से ही) जीव बहुत प्रमादी है ।

३४०—आर्य—युद्ध याने कषायों से युद्ध करना बहुत ही दुर्लभ है ।

३४१—जो आंतरिक को जानता है, वही बाह्य को भी जानता है, और जो बाह्य को जानता है, वही आंतरिक को भी जानता है ।

३४२—जो अनन्य दर्शी है; वही अनन्य आराम वाला है, और जा अनन्य आराम वाला है, ही अनन्य-दर्शी है ।

३४३—जो आत्मा है, वही ज्ञाता है, और जो ज्ञाता है, वही आत्मा है ।

३४४—(ज्ञानी के लिये) जो आश्रव-स्थान हैं, वे ही संवर स्थान हो जाते हैं; इसी प्रकार (अज्ञानी के लिये) जो संवर स्थान हैं, वे ही आश्रव—स्थान हो जाते हैं ।,

३४५—जे इन्दियाणं विसया मणुन्ना, न तेसु भावं निसिरे कयाइ । (योग. ११)

३४६—जे इह आरंभ निस्सिया आत दंडा । (अनिष्ट २०)

३४७—जे इह मायाइ मिज्जई, आगंता गब्भाय णंतसो । (कषाय १५)

३४८—जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ । (ज्ञान. १३)

३४९—जे एगं नामे से बहुं नामे, जे बहुं नामे, से एगं नामे । (सात्विक १७)

३५०—जे कम्हि वि न मुच्छिए स भिक्खू । (श्रमण-भिक्षु ५)

३५१—जे कोह दंसी, से माण दंसी । (कषाय २७)

३५२—जे गरहिया सणियाणप्पओगा, ण ताणि सेवंति सुधीर धम्मा । (महापुरुष ४६)

३५३—जे गारवं होइ सलोगगामी, पुणो पुणो विप्परियासुवेति । (अनिष्ट ३)

३५४—जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे । (भाग ९)

३५५—जे गुणे से मूल ट्ठाणे, जे मूलट्ठाणे से गुणे । (भोग ११)

३५६—जेण वियाणइ से आया । (आत्म. ३)

३५७—जे णिव्वुया पावेहिं कम्मेहिं अणियाणा ते वियाहिया । (महापुरुष ३६)

३५८—जे दूमण ते हि णो णया, ते जाणंति समाहि माहियं । (योग · ३)

३५९—जे धम्मे अणुत्तरे तं गिण्ह हियंति उत्तमं । (धर्म २६)

३४५—इन्द्रियों के जो मनोज्ञ विषय हैं, उनमें कभी भी चित्त को संलग्न मत करो।

३४६—जो यहाँ पर "आरंभ" में ही संलग्न हो गये हैं; वे अपनी आत्मा के लिये बंध संग्रह कर रहे हैं।

३४७—जो यहाँ पर माया में डूब जाता है, वह अनन्त बार गर्भ में आने वाला है।

३४८—जो एक को जानता है, वही सभी को जानता है, और जो सभी को जानता हैं, वही एक को भी जानता है।

३४९—जिसने एक (माहेनीय का) क्षय कर दिया है, उसने बहुत (कर्मों) का क्षय कर दिया है, और जिसने बहुत का क्षय कर दिया है; उसने एक का भी क्षय कर दिया है।

३५०—जो किसी में भी मूर्च्छित नहीं होता है, वही भिक्षु है।

३५१—जो क्रोध करने वाला है, वह मान करने वाला भी है।

३५२—जो (क्रियाएँ) निंदनीय हैं और (जो क्रियाएँ) नियाणा पूर्वक की जाती हैं, उनका सुधीर धर्म वाले आचरण नहीं करते हैं।

३५३—जो अभिमान करता है और अपने यश की इच्छा करता हैं, वह बार बार विपरीत संयोगों को प्राप्त करता है।

३५४—जो गुण याने विषय वासना है, वही आवर्त्त याने संसार है, और जो आवर्त्त है, वही गुण (विषय वासना) है।

३५५—जो गुण (विषय-वासना) है, वही मूल स्थान (कषाय) है। और जो मूल स्थान है, वही गुण है।

३५६—जिसके आधार से ज्ञान होता है, वही आत्मा है।

३५७—जो पाप कर्मों से निवृत्त हो गये हैं, वे ही "अनियाणा" वाले कहे गये हैं।

३५८—जो शब्द आदि इन्द्रियों के विषय हैं, उन विषयों में जो नहीं प्रविष्ट हुए हैं, वे ही विख्यात समाधि को जानते हैं।

३५९—जो धर्म श्रेष्ठ हैं; ऐसे हितकारी उत्तम धर्म को ग्रहण करो।

३६०—जे न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे ।
(उपदेश ६५)

३६१—जे माण दंसी से माया दंसी ।   (कषाय १६)

३६२—जे य बन्ध पमुक्ख मन्नेसी, कुसले पुणो नो बद्धे नो मुक्के ।
(महापुरुष ३९

३६३—जे विन्नवणा हि ऽजोसिया संतिन्नेहिं समं वियाहिया ।
(शील ५)

३६४—जो धोवती लूसयती व वत्थं, आहाहु सेणागणियस्स दूरे ।
(श्रमण-भिक्षु ४६)

३६५—जो परिभवई परं जणं, संसारे परिवत्तई महं ।
(अनिष्ट १२)

३६६—जो राग दोसेहिं समो स पुज्जो ।   (महापुरुष १२)

३६७—जो विग्गहीए अन्नाय भासी, न से समे होइ अझंझपत्ते ।
(कषाय ३७)

३६८—जं किच्चा णिव्वुड़ा एगे निट्ठं पावंति पंडिया ।
(उपदेश २१)

३६९—जं छन्नं तं न वत्तव्वं ।   (सत्यादि १४)

३७०जं जारिसं पुव्व मकासि कम्मं, तमेव आगच्छिति संपराए ।
(कर्म २२)

३७१—जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं, न तं सुइट्ठं कुसला वयन्ति ।
(बाल ९)

३७२—जं मयं सव्व साहूणं, तं मयं सल्लगत्तणं । (उपदेश २०)

३७३—जं वदित्ता अणुतप्पती ।   (सत्यादि ४१)

३६०—यदि कोई वंदना नहीं करे तो क्रोधित नहीं हो जाय, इसी प्रकार वंदना किया जाने पर हर्षित भी न हो।

३६१—जो मान करने वाला है, वह माया करने वाला भी है।

३६२—जो बंध और मोक्ष के कारणों का अनुसंधान करने वाला है, वह कुशल है; उसके पुनः बंध नहीं होने वाला है और वह अमुक्त होता हुआ भी शीघ्र मुक्त हो जाने वाला है।

३६३—जो स्त्रियों द्वारा सेवित नहीं हैं, याने पूर्ण ब्रह्मचारी हैं, वे सिद्ध पुरुषों के समान ही कहे गये हैं।

३६४—जो-(शृंगार भावना से) वस्त्र को धोता है, अथवा छोटा बड़ा करता है, वह निर्ग्रंथ-अवस्था से दूर कहा गया है।

३६५—जो दूसरे मनुष्य का अपमान करता है, वह संसार में बार बार परिभ्रमण करता है।

३६६—जो राग और द्वेष से शान्त हो गया है, इनसे दूर हो गया है, वह पूज्य है।

३६७—जो विग्रह-(लड़ाई झगड़ा) करता रहता है, और अन्याय युक्त बोलता है, वह न तो शांति प्राप्त कर सकता है, और न क्रोध-माया से रहित ही हो सकता है।

३६८—जिस (सत् आचरण को) करके अनेक निवृत्त हुए हैं, उसी आधार से पंडित सिद्धि को प्राप्त करते हैं।

३६९—जो गोपनीय हो, उसे नहीं बोलना चाहिये।

३७०—जिसने जैसे पूर्व में कर्म किये हैं, वैसा ही संसार में उसको फल प्राप्त होता है।

३७१—जो बाह्य विशुद्धि की ही खोज करते हैं, उसको पंडित "सुदृष्ट" याने वांछनीय नहीं कहते हैं।

३७२—जो सिद्धान्त सभी साधुओं द्वारा मान्य है; वही, सिद्धान्त, शल्य को (माया, नियाणा, मिथ्यात्व को) छेदने वाला है।

३७३—जिसको बोल कर पछताना पड़े! (वह मत बोलो)

३७४—जं सेयं तं समायरे ।　　　　　　　　(उपदेश ५)

३७५—जं हंतव्वं तं नाभिपत्थए ।　　　　　　(उपदेश ३५)

झ

३७६—झाण जोगं समाहट्टु कायं विउसेज्ज सव्वसो ।
(योग २७)

ड

३७७—डज्झमाण न बुज्झामो, रागद्दोसग्गिणा जगं ।
(संसार ४)

ण

३७८—ण कत्थई भास विहिंसइज्जा ।　　　(श्रमण-भिक्षु ३८)

३७९—णच्चा धम्मं अणुत्तरं कय किरिए ण यावि मामए ।
(धर्म २५)

३८०—ण पंडिए अगणि समारभिज्जा ।　　　(हिंसा ७)

३८१—ण मिज्जई महावीरे ।　　　　　　　(सात्विक ११)

३८२—णमो तित्थयराणं ।　　　　　　　　(प्रा. मं. १)

३८३—णमो सिद्धाणं ।　　　　　　　　　(प्रा. मं २)

३८४—ण य संखय माहु जीवितं, तह वि य बाल जणो पगब्भई ।　　　　　　　　　　　　(वैराग्य ७)

३८५—ण यावि पन्ने परिहास कुज्जा ।　　　(सात्विक ९)

३८६—णाति वेलं वदेज्जा ।　　　　　　　(सत्यादि ३९)

३८७—णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं पि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा ।　　　(वैराग्य १७)

३७४—जो श्रेय हो, कल्याणकारी हो, उसीका आचरण करो।

३७५—जो मारने योग्य है, उसकी आकांक्षा नहीं करे।

झ

३७६—ध्यान-योग का आचरण करके सब प्रकार से काया को अनिष्ट प्रवृत्ति से दूर कर दो !

ड

३७७—राग और द्वेष रूपी अग्नि से जलते हुए संसार को हम नहीं समझ रहें हैं। (यह आश्चर्य है।)

ण

३७८—वह भाषा नहीं कही जाय, जो हिंसा पैदा करने वाली हो।

३७९—अनुत्तर-(श्रेष्ठ) धर्म को जान कर क्रिया करता हुआ ममत्व भावना नहा रखे।

३८०—पंडित अग्नि संबंधी समारंभ नहीं करे।

३८१—महान् शूर वीर, महापुरुष बार बार जन्म मरण नही करता है।

३८२—तीर्थंकरों के लिये नमस्कार हो।

३८३—सिद्धों के लिये नमस्कार हो।

३८४—टूटा हुआ जीवन पुनः नहीं जोड़ा जा सकता हैं, फिर भी बाल-जन पाप करता ही रहता है।

३८५—प्रज्ञावान् पुरुष किसी की भी हंसी मजाक नही करे।

३८६—लम्बे समय तक वार्तालाप नहीं करे।

३८७—(हे आत्मा !) तेरे लिये वे, (ज्ञाति जन) न तो संरक्षक हो सकते हैं और न शरण दाता ही। इसी प्रकार तुम भी उनके लिये न तो संरक्षक और न शरण दाता ही हो सकते हो।

३८८—णिक्खम्म से सेवइ अगारि कम्मं, ण से पारए होइ विमोयणाए। (भोग १)

३८९—णिच्छिण्ण सव्व दुक्खा जाइ जरा मरण बंधण-विमुक्का। (मोक्ष ८)

३९०—णिद्दं पि नो पगामाए। (अनिष्ट ३२)

३९१—णीवारे व ण लीएज्जा, छिन्न सोए अणाविले (महापुरुष ३७)

३९२—णेव वंफेज्ज मम्मयं। (सत्यादि २६)

३९३—णो कुज्झे णो माणि। (कषाय २५)

३९४—णो जीवितं णो मरणाहि कंखी। (कर्त्तव्य ४)

३९५—णा तुच्छए णो य विकंथइज्जा। (श्रमण-भिक्षु ३९)

३९६—णो निग्गंथे इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं, मणोरमाइं आलोएज्जा, निज्झाएज्जा। (शील २३)

३९७—णो निग्गंथे इत्थीणं पुव्व रयं, पुव्व कीलियं अणुसरेज्ज। (शील १३)

३९८—णो निग्गंथे पणीयं आहारं आहारेज्जा। (शील ३०)

३९९—णो निग्गंथेविभूसाणुवादी हविज्जा। (श्रमण-भिक्षु २२)

४००—णो पूयणं तवसा आवहेज्जा। (तप ११)

४०१—णो सुलभं बोहिं च आहियं। (दुर्लभ ५)

त

४०२—तओ गुत्तीओ पण्णत्ताओ मण गुत्ती, वय गुत्ती, काय गुत्ती। (योग २८)

४०३—तओ दुस्सण्णप्पा, दुट्ठे, मूढे, वुग्गाहिए (प्रकी. ३०)

३८८—जो संसार का परित्याग करके भी गृहस्थ जैसे ही कर्म करता है, वह संसार से मुक्ति पाने के लिए पार नहीं जा सकता है।

३८९—सिद्ध प्रभु सभी दुःखों से पार हो गये हैं तथा, जन्म, जरा, मृत्यु और बंधन से विमुक्त हो गये हैं।

३९०—बहुत निद्रा भी मत लो।

३९१—छिन्न शोक वाला, कषाय रहित (आत्मा) धान्य के प्रति (सूअर की तरह) काम-भोगों की तरफ आकर्षित नहीं होवे।

३९२—मर्मघाती वाक्य नहीं बोले।

३९३—न क्रोध करे और न मान करे।

३९४—(अनासक्त महापुरुष) न तो जीवन की आकांक्षा करे और न मृत्यु की ही आकांक्षा करे।

३९५—(ज्ञानी) तो अपने को तुच्छ समझे और न अपनी प्रशंसा करे।

३९६—निर्ग्रंथ स्त्रियों के मनोहर और मनोरम अंगोपांग रूप इन्द्रियों को न तो देखे और न उनका चिंतन करे।

३९७—निर्ग्रंथ स्त्रियों के साथ पूर्व काल में भोगे हुए भोगों को याद नहीं करे।

३९८—निर्ग्रंथ सरस आहार नहीं करे।

३९९—निर्ग्रंथ श्रृंगार वाली नहीं हो।

४००—तप द्वारा पूजा-प्रतिष्ठा की इच्छा मत करो।

४०१—सम्यक् ज्ञान "सुलभ रीति से प्राप्त होने योग्य" नहीं कहा गया है।

त

४०२—तीन प्रकार की गुप्तियां कही गई हैं, मन गुप्ति, वचन गुप्ति, और काया गुप्ति।

४०३—तीन प्रकार की आत्माएं मुश्किल से समझाये जाने योग्य हैं:—(१) दुष्ट; (२) मूढ़ और (३) दुराग्रही।

४०४—तओ सुग्गया, सिद्ध सुग्गया, देव सुग्गया, मणुस्स सुग्गया। (प्रकी. ३१)

४०५—तओ सुसन्नप्पा, अदुट्ठे, अमूढे, अवुग्गाहिए। (प्रकी. २९)

४०६—तण्हा हया जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाइं। (सद्‌गुण ८)

४०७—तमेव सच्चं नीसंकं, जं जिणेहिं पवेइयं। (उपदेश १)

४०८—तरुण ए वास सयस्स तुट्टती, इत्तर वासे य वुज्झह। (वैराग्य ८)

४०९—तवसा धुणइ पुराण पावगं। (तप २)

४१०—तवेण परिसुज्झई। (तप ३)

४११—तवेणं वोदाणं जणयइ। (तप ६)

४१२—तवेसु वा उत्तम बंभचेरं। (शील १)

४१३—तवो गुण पहाणस्स उज्जुमइ। (तप ४)

४१४—तवं कुव्वइ मेहावी। (तप ५)

४१५—तवं चरे। (तप १)

४१६—तस काय समारंभं जाव जीवाइ वज्जए। (अहिंसा २३)

४१७—तसे पाणे न हिंसिज्जा। (अहिंसा ५)

४१८—ताइणो परिणिव्वुडे। (अहिंसा २०)

४१९—ताले जह बंधण—चुए एवं आउक्खयंमि तुट्टती। (वैराग्य ९)

४२०—तिण्णो हु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीर मागओ। उपदेश ४)

४२१—तिव्वलज्ज गुणवं, विहरिज्जासि। (अनिष्ट ८)

४२२—तिविहा उवही, सच्चित्ते, अच्चित्ते, मीसए। (अनिष्ट ३९)

४०४—तीन प्रकार के सद्गत जीव हैं;—(१) सिद्ध सद्गत, (२) देव सद्गत, (३) मनुष्य सद्गत ।

४०५—तीन प्रकार की आत्माएँ सरलता से शिक्षा देने योग्य हैं, (१) अदुष्ट, (२) अमूढ़ और (३) अनाग्रही ।

४०६—जिसकी तृष्णा नष्ट हो गई है, उसके लोभ नहीं होता है जिसका लोभ नष्ट हो गया है, उसके परिग्रह नहीं होता है ।

४०७—उसी को सत्य और निश्शंक समझो, जो कि जिन-वीतराग देवों द्वारा कहा गया है ।

४०८—सौ वर्ष की आयु वाले पुरुष की आयु भी तरुण अवस्था में टूट जाया करती है, अतः यहाँ पर अल्प कालीन वास ही समझो ।

४०९—तप द्वारा पुराने पाप की निर्ज़रा होती है ।

४१०—तप से आत्मा विशेष रीति से शुद्ध होती है ।

४११—तप से निर्ज़रा पैदा होती है ।

४१२—सभी तपों में सर्व श्रेष्ठ तप ब्रह्मचर्य ही है ।

४१३—तप रूप प्रधान गुण वाले की मति सरल होती है ।

४१४—मेधावी पुरुष तप करता है ।

४१५—तप का आचरण करो ।

४१६—त्रस काय का समारंभ जीवन-पर्यंत के लिये छोड़ दो ।

४१७—त्रस प्राणियों की हिंसा मत करो ।

४१८—अभय दान देने वाले संसार से पार उतर जाते हैं ।

४१९—जैसे बंधन से गिरा हुआ ताड़-फल टूट जाता है, वैसे ही आयुष्य के क्षय होते ही प्रणी-(पर लोक को चला जाता है ।)

४२०—निश्चयही महान् संसार रूप समुद्र तो तैर गये हो, फिर क्यों किनारे तक पहुंचे हुए होकर ठहरे हुये हो ।

४२१—गंभीर लज्जा शील होकर विचरो ।

४२२—उपधि तीन प्रकार की है:—सचित्त, अचित्त और मिश्र ।

४२३—तिविहेणा वि पाण माहणे ।   (योग २६)

४२४—तिविहे भगवया धम्मे, सुअहिज्जिए, सुज्झाइए, सुतवस्सिए ।   (धर्म ३५)

४२५—तुमं तुमं ति अमणुन्नं, सव्वसो तं ण वत्तए ।
(सत्यादि १६)

४२६—तेसिं पि तवो ण सुद्धो निक्खंता जे महाकुला ।
(अनिष्ट ३३)

४२७—तं ठाणं सासयं वासं, जं संपत्ता न सोयन्ति । (मोक्ष १९)

थ

४२८—थद्धे लुद्धे अणिग्गहे अविणीए ।   (काम ३७)

४२९—थणंति लुप्पंति तस्संति कम्मी ।   (प्रकी. ९)

४३०—थम्मा कोहा पमाएणं, रोगेणा लस्सएण य सिक्खा न लब्भई ।   (काम ३६)

४३१—थव थुइ मंगलेणं नाण दंसण चरित्त बोहिलाभं जणयइ ।
(धर्म ३२)

४३२—थी कहं तु विवज्जए ।   (शील १२)

द

४३३—दद्धो पक्को अ अवसो, पाव कम्मेहिं पाविओ ।
(आत्मा १७)

४३४—दया धम्मस्स खंतिए, विप्पसीएज्ज मेहावी ।
(अहिंसा ११)

४२३—मन, वचन और काया करके भी प्राणियों को मत मारो।

४२४—भगवान ने तीन प्रकार का धर्म फरमाया है:—१ सम्यक् प्रकार से सूत्र आदि का अध्ययन; २ सम्यक् प्रकार से ध्यान और ३ सम्यक् तप।

४२५—"तू ! तू ! ऐसा अमनोज्ञ" शब्द किसी भी रूप से मत बोलो।

४२६—जो महान् कुल से निकले हुए हैं, (लेकिन जिनका ध्येय अपनी यशः कीर्ति, और पूजा प्रतिष्ठा ही है तो) उनकी तपस्या शुद्ध नहीं हैं।

४२७—वह स्थान शाश्वत् निवास वाला है, जिसको प्राप्त करके शोक रहित हो जाते हैं।

थ

४२८—जो अहंकारी है, जो लोभी है, जो स्वछंद इन्द्रियों वाला है, वह अविनीत है।

४२९—पाप कर्मी अंत में रोते हैं, छेदे जाते हैं और दुःखी किये जाते हैं।

४३०—अहंकार से, क्रोध से, प्रमाद से, रोग से और आलस्य से ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है।

४३१—ईश्वरीय प्रार्थना-स्तुति रूप मंगल से ज्ञान दर्शन चारित्र रूप बोध का प्राप्ति होती है।

४३२—स्त्री-कथा को सर्वथा छोड़ दो।

द

४३३—यह पापी आत्मा पाप कर्मों द्वारा आग से जलाया गया; पकाया गया और दुःख झेलने के लिये विवश किया गया।

४३४—मेधावी दया धर्म के लिये क्षमा-शील होता हुआ अपनी आत्मा को प्रसन्न करे।

४३५– दव्वओ खेत्तओ चेव कालओ भावओ तहा जयणा चउव्विहा वुत्ता ।   (धर्म २९)

४३६—दवदवस्स न गच्छेज्जा ।   (उपदेश ६८)

४३७—दाण भत्ते सणा रया ।   (श्रमण-भिक्षु २०)

४३८—दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं ।   (अहिंसा १)

४३९—दाराणि य सुया चेव, मयं नाणुव्वयन्ति य । (संसार ३)

४४०—दिट्ठिमं दिठ्ठि ण लूसएज्जा ।   (दर्शन ९)

४४१—दिट्ठेहिं निव्वेयं गच्छिज्जा ।   (उ: देश ९३)

४४२—दिव्वं च गइं गच्छन्ति, चरित्ता धम्म मारियं ।   (धर्म १७)

४४३—दीवे व धम्मं ।   (धर्म ३)

४४४—दुक्करं तारुण्णे समणत्तणं   (श्रमण-भिक्षु ३३)

४४५—दुक्खाइं अणुहोंति पुणो पुणो, मच्चु वाहि जरा कुले ।   (भोग ५)

४४६—दुक्खी इह दुक्कडेणं ।   (अनिष्ट २)

४४७—दुक्खी मोहे पुणो पुणो ।   (अनिष्ट २३)

४४८—दुक्खेण पुट्ठे धुयमाइएज्जा,   (श्रमण-भिक्षु ४९)

४४९—दुक्खं च जाई मरणं ।   (प्रकी. १३)

४५०—दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।   (सद्गुण ७)

४५१—दुज्जयए काम भोगे य निच्चसो परिवज्जए ।   (काम १५)

४३५—यतना चार प्रकार की कही गई है:—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से ।

४३६—जल्दी जल्दी, (उतावला उतावला) धब धब करके नहीं चले ।

४३७—(आत्मार्थी) दिये जाने वाले निर्दोष आहार—पानी के अनुसंधान में रत रहते हैं ।

४३८—सभी प्रकार के दानों में श्रेष्ठ दान "अभय दान" देना है ।

४३९—मृत्यु होने पर स्त्री, पुत्र आदि साथ में आने वाले नहीं हैं ।

४४०—सम्यक् दृष्टि वाला अपनी दृष्टि को (अपने विश्वास को) दूषित नहीं करे ।

४४१—विरोधी उपदेशों से निर्वेद अवस्था (उदासीनता) ग्रहण कर लो ।

४४२—आर्य धर्म का आचरण करके अनेक महापुरुष दिव्य गति को जाते हैं ।

४४३—धर्म दीपक के समान है ।

४४४—यौवन अवस्था में साधु धर्म पालना अत्यन्त कठिन है ।

४४५—भोगी, मृत्यु व्याधि और बुढ़ापे से आकुल होते हुए बार बार दुःखों का अनुभव करते हैं ।

४४६—यहाँ पर प्राणी दुष्कृत्यों से ही दुःखी होता है ।

४४७—मोह ग्रस्त (प्राणी) बार बार दुःखी होता है ।

४४८—नीतिवान् दुःखों के आने पर भी ध्रुव रूप से स्थित रहे ।

४४९—बार बार जन्म और बार बार मरण, ये ही दुःख के रूप हैं ।

४५०—जिसको मोह नहीं होता है, उसका दुःख नष्ट हो गया और जिसको तृष्णा नहीं सताती है, उसका मोह भी नष्ट हो गया है ।

४५१—कठिनाई से छोड़ने योग्य इन काम-भोगों को सदैव के लिये छोड़ दो ।

४५२—दुप्परिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीर पुरि सेहिं ।
(काम ८)

४५३—दुप्पूरए इमे आया । (लोभ ३)

४५४—दुम पत्तए पंडुयए जहा, एवं मणुयाण जीवियं ।
(वैराग्य ४)

४५५—दुल्लभे ऽयं समुस्सए । (दुर्लभ १०)

४५६—दुल्लहया काएण फासया । (दुर्लभ ७)

४५७—दुल्लहाओ तहच्चाओ । (दुर्लभ ८)

४५८—दुल्लहे खलु माणुसे भवे । (उपदेश ३१)

४५९ दुल्लहं लहित्तु सामण्णं, कम्मुणा न विराहिज्जासि ।
(उपदेश ७२)

४६०—दुविहा पोग्गला, सुहुमा चेव बायरा चेव । (प्रकी. २५)

४६१- दुविहा बोही, णाण बोही चेव दंसण बोही चेव ।
(ज्ञान ३)

४६२—दुविहे आगासे, लोगागासे चेव, अलोगागासे चेव ।
(प्रकी. २६)

४६३—दुबिहे कोहे-आय पइट्ठिए चेव पर पइट्ठिए चेव ।
(क्रोध ७)

४६४—दुविहे दंसणे, सम्म दंसणे चेव मिच्छा दंसणे चेव ।
(दर्शन १२)

४६५—दुविहे धम्मे पन्नत्ते, सुअ धम्मे चेव चरित्त धम्मे चेव ।
(धर्म. ३४)

४६६—दुविहे माणे, पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव । (ज्ञान ६)

४६७—दुविहे बंधे पेज्ज बंधे चेव दोस बंधे चेव । (कषाय ३०)

४६८—दुविहे सामाइए, अगार सामाइए, अणगार सामाइए ।
(तप १५)

४५२—कठिनाई से छोड़ने योग्य ये काम-भोग अधीर पुरुषों द्वारा सरलता पूर्वक नहीं छोड़े जा सकते हैं।

४५३—यह आत्म स्थित तृष्णा कठिनाई से पूरा जाने वाली है।

४५४—जैसे वृक्ष का पीला पत्ता गिर पड़ता है, वैसे ही मनुष्य के जीवन को (अचानक पूर्ण हो जाने वाला) समझो।

४५५—यह शरीर संपत्ति दुर्लभ है।

४५६—शरीर द्वारा धर्म का परिपालन किया जाना दुर्लभ ही है।

४५७—श्रद्धा अनुसार ही त्याग- प्राप्ति भी दुर्लभ ही है।

४५८—निश्चय ही, मनुष्य-भव दुर्लभ है।

४५९—दुर्लभ श्रमण धर्म प्राप्त करके अकृत्यों द्वारा उसकी विराधना मत करो।

४६०—पुद्गल दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और बादर।

४६१—समझ दो प्रकार की हैं:—१ ज्ञान समझ २ दर्शन समझ।

४६२—आकाश दो प्रकार का है:—लोकाकाश और अलोकाकाश।

४६३—क्रोध दो प्रकार का है—आत्मा प्रतिष्ठित और परप्रतिष्ठित।

४६४—दर्शन दो प्रकार का है:—१ सम्यक्त्व दर्शन और २ मिथ्यात्व दर्शन।

४६५—दो प्रकार का धर्म कहा गया है:—१ श्रुत धर्म और २ चारित्र धर्म।

४६६—ज्ञान दो प्रकार का है:—१ प्रत्यक्ष और २ परोक्ष।

४६७—बंध दो प्रकार का हैं :—१ राग बंध और २ द्वेष बंध।

४६८—सामायिक दो प्रकार की हैं:—१ गृहस्थ सामायिक और २ साध सामायिक।

४६९—दुस्सील पडिणीए मुहरी निक्कसिज्जई। (अनिष्ट १४)

४७०—देव दाणव गन्धव्वा बम्भयारिं नमंसंति। (शील ३)

४७१—देह दुक्खं महाफलं। (कर्म २८)

४७२—दो दंडा पन्नता, तंजहा, अट्ठा दंडे चेव, अणट्ठा दंडे चेव। (प्रका. २७)

४७३—दोस वत्तिया मुच्छा दुविहा, कोहे चेव माणे चेव। (कषाय २८)

४७४—दोसं दुग्गइ वड्ढणं। (अनिष्ट १८)

४७५—दोहिं ठाणेहिं आया केवलि पन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवण-याए, खएण चेव उवसमेण चेव। (धर्म ३३)

४७६—दंसण संपन्न याए, भव मिच्छत्त छेयणं करेइ। (दर्शन ७)

४७७—दंसणेण य सद्दहे। (दर्शन ३)

ध

४७८—धणेण किं धम्म धुरा हि गारे (धर्म ७)

४७९—धम्म ज्झाणरए जे स भिक्खू। (श्रमण-भिक्षु ८)

४८०—धम्म सद्धाए णं साया सोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ। (धर्म १५)

४८१—धम्मस्स विणओ मूलं। (धर्म ५)

४८२—धम्म विऊ उज्जू। (धर्म १३)

४८३—धम्माणं कासवो मुहं। (धर्म ३०)

४६९—दुराचारी, प्रतिकूल वृत्ति वाला, और वाचाल बहिष्कृत किया जाता है ।

४७०—ब्रह्मचारी को देवता, दानव और गन्धर्व भी नमस्कार करते हैं ।

४७१—शरीर में उत्पन्न होने वाले दु;ख पूर्वकृत कर्मों के ही महाफल हैं ।

४७२— दंड दो प्रकार के कहे गयें हैं, वे इस प्रकार हैं :—१ अर्थ दंड और २ अनर्थ दंड ।

४७३—द्वेष वृत्ति वाली मूर्च्छा दा प्रकार की है:—१ क्रोध और २ मान ।

४७४—द्वेष दुर्गति का बढ़ाने वाला है ।

४७५—आत्मा केवली के कहे हुए धर्म को सुनकर दो प्रकार से प्राप्त करता है:—१ क्षय रूप से और २ उपशम रूप से ।

४७६—दर्शन की संपन्नता से (आत्मा) सांसारिक मिथ्यात्वका छेदन करता है ।

४७७—दर्शन के अनुसार ही श्रद्धा रक्खो ।

ध

४७८—धर्म रूपी धुरा के अंगीकार कर लेने पर धन से क्या (तात्पर्य- है) ?

४७९—जो धर्म-ध्यान में रत है, वही भिक्षु है ।

४८०—धर्म के प्रति श्रद्धा के जम जाने पर साता वेदनीय जनित सुखों पर विरक्ति पैदा हो जाती ।

४८१—धर्म का मूल विनय है ।

४८२—धर्म को समझने वाला सरल हृदयी होता है ।

४८३—धर्मों का मुख (आदि स्त्रोत) काश्यप (श्री ऋषभदेव- स्वामी) हैं ।

४८४—धम्मारामे चरे भिक्खू । (श्रमण-भिक्षु १९)

४८५—धम्मे ठिओ सव्व पयाणु कम्पी । (अहिंसा १९)

४८६—धम्मे हरए बम्भे सन्ति तित्थे । (धर्म. ४)

४८७—धम्मो दीवो । (धर्म२)

४८८—धम्मो मंगल मुक्किट्ठं । (धर्म १)

४८९—धम्मं अकाऊणं जो गच्छइ परं भवं, सो दुही होइ ।
(धर्म १८)

४९०—धम्मं च कुणमाणस्स सफला जन्ति राइओ । (धर्म ८)

४९१—धम्मं चर सुदुच्चरं । (धर्म १०)

४९२—धम्मं पि काऊणं जो गच्छइ परं भवं, सो सुही होइ ।
(धर्म ९)

४९३—धितिमं विमुक्केण य पूयणट्ठी न सिलोय गामी य परिव्वएज्जा । (उपदेश १६)

४९४—धीरा बंधणुमुक्का । (महापुरुष २४)

४९५—धीरे मुहुत्त मवि णो पमायए । (उपदेश ३)

४९६—धुय मायरेज्ज । (कर्त्तव्य १५)

४९७—धोरेय सीला तवसा उदारा, धीरा हु भिक्खारियं चरन्ति । (महापुरुष२३)

४८४—भिक्षु धर्म रूपी वाटिका में ही विचरे।

४८५—धर्म में स्थित होते हुए सभी जीवों पर अनुकंपा करने वाले होओ।

४८६—धर्म रूपी तालाब में ब्रह्मचर्य रूप तीर्थ (घाट है)।

४८७—संसार समुद्र में धर्म ही द्वीप है।

४८८—धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है।

४८९—धर्म की बिना आराधना किये ही जो परलोक को जाता है, वह दु:खी होता है।

४९०—धर्म करने वाले के दिन रात सफल ही होते हैं।

४९१—"आचरण में कठिनाई वाला और फल में अच्छाई वाला" ऐसे धर्म का तू आचरण कर।

४९२—जो धर्म का आचरण करके पर भव को जाता है, वह सुखी होता है।

४९३—धैर्य शाली पुरुष विकारों से विमुक्त होता हुआ अपने लिये पूजा की इच्छा नहीं करे। यश-कीर्ति की इच्छा वाला भी न हो, तथा संयम शील होता हुआ विचरे।

४९४—धैर्य शाली बन्धन से उन्मुक्त होते हैं।

४९५—धैर्य शील क्षण मात्र का भी प्रमाद नहीं करे।

४९६—संयम का आचरण करो।

४९७—तप प्रधान जीवन वाले, शील को अग्र गण्य रखने वाले, धर्म धुरंधर धीर पुरुष ही भिक्षा चर्या का अनुसरण करते हैं।

न

४९८—न असब्भ माहु । (सत्यादि ८)
४९९—न आविमुक्खो गुरुहीलणाए । (अनिष्ट ६)
५००—न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला । (बाल ६)

५०१—न काम भोगा समयं उवेन्ति । (काम १८)

५०२—न कंखे पुव्व संथवं । (सद्गुण, १८)
५०३—न चरेज्ज वेस सामंते । (शील ९)
५०४—नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं । (मोक्ष १८)
५०५—नत्थि चरित्तं सम्मत्त विहूणं । (दर्शन २)
५०६—न तं अरी कंठ छित्ता करेइ, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा । (आत्म :१५)
५०७—न तं सुहं कामगुणेसु रायं, जं भिक्खुणं सील गुणे रयाणं । (शील ४)
५०८—न बाहिरं परिभवे । (कषाय १९)
५०९—न भासिज्जा भासं अहिअ गामिणं । (सत्यादि ७)
५१०—नमइ मेहावी (सात्विक ५)
५११—नमो ते संसयातीत ! (प्रा. मं. ४)
५१२—न य रूवेसु मणं करे । (शील, १७)
५१३—न य वित्तासए परं । (अहिंसा १०)
५१४—न या विपूयं गरहं च संजए । (महापुरुष २९)
५१५—न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं । (सत्यादि १२)
५१६—न सरणं बाला पंडिय माणिणो । (बाल ११)

न

४९८—असभ्यता के साथ मत बोलो ।

४९९—गुरुकी हीलना-निंदा करने से कभी भी मोक्ष नहीं मिल सकता है ।

५००—बाल जन, अज्ञानी अपने कार्यों द्वारा कर्म का क्षय नहीं कर सकते ।

५०१—काम-भोग वाले प्राणी शांति (समता) को नहीं प्राप्त कर सकते हैं ।

५०२—(ज्ञानी) पूर्व काल में प्राप्त प्रशंसा आदि की इच्छा नहीं करे ।

५०३—(विवेकी) वेश्या आदि के मकान के आसपास नहीं जावे आवे ।

५०४—कर्मों से अमुक्त के लिये निर्वाण नहीं है ।

५०५—सम्यक् दर्शन के अभाव में चारित्र नहीं होता है ।

५०६—जितनी हानि अपनी पापी आत्मा स्व के लिये कर सकती है, उतनी कंठ का छेदन करने वाला शत्रु भी नहीं कर सकता है ।

५०७—जो सुख शील गुण में रत भिक्षुओं को प्राप्त होता है, वह सुख काम भोगों में राग रखने से नहीं मिल सकता है ।

५०८—बाह्य व्यक्तियों को पराजित मत करो ।

५०९—अहित करने वाली भाषा मत बोलो ।

५१०—मेधावी विनय शील होता है ।

५११—हे संशय से अतीत ! तुम्हें नमस्कार हो ।

५१२—रूप-विषयों में मन को संलग्न मत करो ।

५१३—दूसरे को त्रास मत दो ।

५१४—संयती पूजा और निंदा से (चंचल) नहीं होवे ।

५१५—पूछने पर सावद्य नहीं बोले ।

५१६—अपने आप को पंडित मानने वाले बाल जन शरण रहित होते हैं ।

५१७—न सव्व सव्वत्थ अभिरोयएज्जा । (योग १६)

५१८—न सिया तोत्त गवेसए । (उपदेश ३९)

५१९—न संत संति मरणं ते सीलवन्ता बहुस्सुया । (शील ३२)

५२०—न हणे णो विघायए । (अहिंसा ४)

५२१—न हणे पाणिणो पाणे । (अहिंसा १२)

५२२—न हिंसए किंचण सव्व लोए । (अहिंसा ९)

५२३—न हु पाण वहं अणु जाणे, मुच्चेज्ज कयाइ सव्व दुक्खाणं । (हिंसा ५)

५२४— न हु मुणी कोवपरा हवन्ति । (क्रोध ६)

५२५—नाइमत्तं तु भुंजिज्जा बम्भचेर रओ । (शील २९)

५२६—नाइ वाइज्ज कंचणं । (अहिंसा १४)

५२७—नागो जहा पंक तलाव सन्नो, एवं वयं काम गुणेसु गिद्धा । (काम १)

५२८—नाणब्भट्ठा दंसण लूसिणो । (दर्शन ४)

५२९ नाण संपन्नयाए जीवे, सव्व भावाहि गमं जणयइ । (ज्ञान ७)

५३०—नाणा रुइं च छन्दं च, परिवज्जेज्ज संजओ । (योग १२)

५३१—नाणी नो पमाए कयाइ वि । (उपदेश ३८)

५३२—नाणी नो परिदेवए । (प्रशस्त ३)

५३३—नाणेण जाणई भावे । (ज्ञान ४)

५३४—नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो । (ज्ञान ११)

५३५—नाणेण विना न हुन्ति चरण गुणा । (ज्ञान ५)

५१७—सब जगह किसी भी पदार्थ के प्रति लालायित मत हो।

५१८—पर छिद्रों के ढूंढ़ने वाले मत होओ।

५१९—हे संत ! हे शीलवन्त ! हे बहुश्रुत ! तुम्हारे लिये मृत्यु आदि दुःख नहीं होते हैं।

५२०—(ज्ञानी जीवों को) न तो मारे और न घात करे।

५२१—प्राणियों के प्राणों को मत हणो।

५२२—संपूर्ण लोक में किसी की भी हिंसा मत करो।

५२३—(विवेकी) प्राणि-वध की अनुमति नही दे, क्योंकि इससे सभी दुःखों का कभी भी नाश नहीं होता है।

५२४—मुनि क्रोध करने वाले नहीं होते हैं।

५२५—ब्रह्मचर्य में रत होता हुआ अति मात्रा में भोजन नहीं करे।

५२६—कोई भी बात अति विस्तृत रूप से नहीं कहे।

५२७—जैसे हाथी कीचड़ वाले तालाब में फंस जाता है, वैसे ही हम काम-भोगों में गृद्ध हैं।

५२८—सम्यक् दर्शन से पतित हुए प्राणी सम्यक् ज्ञान से भी भ्रष्ट हो जाते हैं।

५२९—ज्ञान की संपन्नता से जीव सभी पदार्थों का ज्ञान उत्पन्न कर लेता है।

५३०—संयमी नाना रुचि का और विषयों की अभिलाषा को छोड़ दे।

५३१—ज्ञानी कभी भी प्रमाद नहीं करे।

५३२—ज्ञानी खेद नहीं करे।

५३३—ज्ञान द्वारा ही पदार्थ जाना जाता है।

५३४—ज्ञान से ही मुनि होता है और तप से ही तपस्वी होता है।

५३५—सम्यक् ज्ञान के बिना सम्यक् चारित्र नहीं हो सकता है।

५३६—नाति वेलं हसे मुणी । (श्रमण-भिक्षु ३४)

५३७—ना दंसणिस्स नाणं । (ज्ञान १०)

५३८—ना पुट्ठो वागरे किंचि । (सत्यादि १३)

५३९—नायएज्ज तणा मवि । (सात्विक २१)

५४०—नारइं सहई वीरे, वीरे न सहई रतिं ।
(महापुरुष ४७)

५४१—नारीसु नोवगिज्झेज्जा, धम्मं च पेसलं णच्चा ।
(शील १६)

५४२—निग्गंथा उज्जु दंसिणो । (श्रमण-भिक्षु १४)

५४३—निग्गंया धम्म जीविणो । (श्रमण-भिक्षु १३)

५४४—निद्देसं नाइवट्टेज्जा मेहावी । (उपदेश ५६)

५४५—निद्दं च न बहु मन्निजा । (उपदेश ३०)

५४६—निद्दं च भिक्खू न पमाय कुज्जा । (श्रमण-भिक्षु ४०)

५४७—निमम्मे निरहंकारे । (सद्गुण १)

५४८—निम्ममो निरहंकारो, चरे भिक्ख् जिणाहियं ।
(श्रमण-भिक्षु ४४)

५४९—निरट्ठाणि उवज्जए । (सात्विक ६)

५५०—निरासवे संखवियाण कम्मं, उवेइ ठाणं विउलुत्तमं धुवं ।
(उपदेश ८३)

५५१—निरुद्धगं वा वि न दीहइज्जा । (प्रकी.१०)

५५२—निव्वाण वादी णिह णायपुत्ते (प्रा. मं. ७)

५५३—निव्वाणं संधए मुणि । (उपदेश ७५)

५५४—निविण्ण चारी अरए पयासु । (शील १८)

५५५—निव्वि देज्ज सिलोग पूयणं । (कर्त्तव्य १८)

५३६—मुनि बहुत समय तक नहीं हंसे ।

५३७—सम्यक् दर्शन से रहित का सम्यक् ज्ञान नहीं होता है ।

५३८—बिना पूछे कुछ भी नहीं बोले ।

५३९—बिना आज्ञा के (किसी का) तृण मात्र भी नहीं लेवे ।

५४०—वीर पुरुष न तो रति (राग) रखता है और न अरति (द्वेष) ही रखता है ।

५४१— (साधक) धर्म को सुन्दर समझ कर स्त्रियों में गृद्ध नहीं होवे।

५४२—निर्ग्रंथ सरल दृष्टि वाले होते हैं ।

५४३—निर्ग्रंथ धर्म जीवी होते हैं ।

५४४—मेधावी (गुरु जनों की) आज्ञा का उल्लंघन नहीं करे ।

५४५—(आत्मा हितैषी) बहुत निद्रा नहीं लेवे ।

५४६—भिक्षु निद्रा और प्रमाद नहीं करे ।

५४७—ममता रहित और अहंकार रहित होओ ।

५४८—ममता रहित और अहंकार रहित होता हुआ भिक्षु जिन आज्ञानुसार विचरे ।

५४९—निरर्थक कार्यों को छोड़ दो ।

५५०—(मुमुक्षु) आश्रव रहित होता हुआ, कर्मों का सम्यक् प्रकार से क्षय करके, विपुल, उत्तम और ध्रुव स्थान को प्राप्त होता है ।

५५१—स्वल्प को दीर्घ रूप नहीं दे ।

५५२—निर्वाण वादियों में ज्ञात पुत्र महावीर स्वामी सर्व श्रेष्ठ हैं ।

५५३—मुनि निर्वाण को ही साधे ।

५५४—वैराग्य शील होकर विचरने वाला स्त्रियों के प्रति रति-भाव नहीं लावे ।

५५५—अपनी प्रशंसा और पूजा प्रतिष्ठा से दूर ही रहो !

५५६—निव्वेएणं दिव्व माणुस तेरिच्छिएसु काम भोगेसु निव्वेयं हव्व मागच्छइ । (वैराग्य २३)

५५७—नो अत्ताणं आसाइज्जा नो परं आसाइज्जा । (उपदेश ४७)

५५८ नोऽवि य पूयण पत्थए सिया । (प्रशस्त १८)

५५९—नो इन्दिय गेज्झ अमुत्त भावा, अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो । (आत्म २)

५६०—नो निहणिज्ज वीरियं । (उपदेश ४०)

५६१—नो रक्खसीसु गिज्झेज्जा, गंड बच्छासु अणेग चित्तासु । (शील २६)

५६२—नो लोगस्सेसणं चरे । (प्रशस्त ·)

५६३—नो विहरे सहणमित्थीसु । (काम २८)

५६४—नो सुलभं पुणरावि जीवियं । (दुर्लभ १२)

प

५६५—पच्चक्खाणेणं आसव दाराइं निरुम्भइ । (तप १९)

५६६—पच्चमाणस्स कम्मेहिं नालं दुक्खाओ मोअणे । (सात्विक १९)

५६७—पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेण बुब्बुय सन्निभे । (अनित्य ४)

५६८—पन्डित नरए घोरे जे नरा पावकारिणो । (अधर्म २)

५६९—पडिक्कमणेणं वयछिद्दाणि पिहेइ । (तप १७)

५७०—पडिणीए असंवुद्धे अविणीए । (अनिष्ट १५)

५७१—पढमं नाणं तओ दया । (ज्ञान २)

५५६—विरक्ति भावना से देवता मनुष्य और तिर्यंच संबंधी काम-भोगों पर शीघ्र ही वैराग्य उत्पन्न हो जाता है ।

५५७—न तो अपनी आत्मा को दुःखी करो और न दूसरे की आत्मा को दुःखी करो ।

५५८—अपनी पूजा–प्रतिष्ठा के प्रार्थी मत बनो ।

५५९—आत्मा अमूर्त्त स्वरूप वाली है, इसीलिये इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है । अमूर्त्त स्वरूप वाली होने से ही निश्चय पूर्वक वह नित्य है ।

५६०—आत्म–बल का विनाश मत करो ।

५६१—स्तन वाली, चंचल चित्त वाली ऐसी राक्षसी समान स्त्रियों में गृद्ध मत होओ ।

५६२—संसार की इच्छानुसार मत विचरा ।

५६३—स्त्रियों के साथ विहार मत करो ।

५६४—बार बार जीवन प्राप्त होना सुलभ नहीं है ।

प

५६५—प्रत्याख्यान से आश्रव के द्वार बंद हो जाते हैं ।

५६६—कर्मों से पीड़ित प्राणी के लिये दुःखों से छुड़ाने में कोई भी समर्थ नहीं है ।

५६७—यह शरीर पीछे या पहले छोड़ना ही होगा, इसकी स्थिति फेन या बुल बुले के समान है।

५६८—जो मनुष्य पापकारी हैं, वे घोर नरक में पड़ते हैं ।

५६९—प्रतिक्रमण से व्रतों के छिद्र ढंक जाते हैं ।

५७०—प्रतिकूल वृत्ति वाला और समझदारी नहीं रखने वाला अविनीत होता है ।

५७१—पहले ज्ञान और पीछे दया ।

५७२—पणए वीरे महाविहिं, सिद्धि पहं णेआउयं धुवं ।
(प्रशस्त १७)

५७३—पण्ण समत्ते सया जए, समता धम्म मुदाहरे ।
(कर्त्तव्य २१)

५७४—पदुट्ठ चित्तो यो चिणाइ कम्मं । (कर्म २)

५७५—पमत्ते अगार मावसे । (अनिष्ट १७)

५७६—परक्कमिज्जा तव संजमंमि । (तप ७)

५७७—पर किरिअं च वज्जए नाणी । (उपदेश ५७)

५७८—परिजूरइ ते सरीर यं, समयं गोयम ! मा पमायए ।
(वैराग्य २)

५७९—परिव्वयन्ते अणियत्त कामे, अहो य राओ परितप्पमाणे ।
(उपदेश ६०)

५८०—परिसह रिऊ दंता धूअमोहा जिइंदिया ।
(महापुरुष १५)

५८१—पवड्ढती वेर मसंजतस्स । (बाल ३१)

५८२—पहीयए कामगुणेसु तण्हा । (लोभ १५)

५८३—पाडिओ फालिओ छिन्नो, विप्फुरन्तो अणेगसो ।
(आत्म. १८)

५८४—पाणाणि चेवं विणि हंति मंदा । (हिंसा ८)

५८५—पाणातिवाता विरते ठियप्पा । (अहिंसा २१)

५८६—पाणा पाणे किलेसंति । (अनिष्ट ३८)

५८७—पाणि वहं घोरं । (हिंसा १)

५८८—पाणे य नाइ वाएज्जा, निज्जाइ उदगं व थलाओ ।
(अहिंसा ८)

५८९—पायच्छित्त करणेणं पाव कम्म-विसोहिं जणयइ ।
(तप २०)

५७२—जो सिद्धि पथ, महान् विधि रूप है, न्याय युक्त है, ध्रुव है, उसी पर विनात वीर चलता है।

५७३—पूर्ण बुद्धिमान् सदा यत्न शील होता हुआ समता धर्म का उपदेश करता रहे।

५७४—जो द्वेष पूर्ण चित्त वाला है, वह कर्म को इकट्ठा करता है।

५७५—जो साधु प्रमादी है, वह गृहस्थ अवस्था में ही रहा हुआ है।

५७६—तप-संयम में पराक्रम बतलाओ।

५७७—ज्ञानी दूसरों के लिये भोग-उपभोग की क्रियाएं करना छोड़ दे।

५७८—तुम्हारा शरीर निश्चय ही जीर्ण होने वाला है, इसलिये हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो

५७९—जो काम-भोगों को नहीं छो ते हैं, वे रात दिन परिताप पाते हुए परिभ्रमण करते रहते हैं।

५८०—जो परिषह रूप शत्रु को जीतने वाले हैं, जो मोह को नष्ट करने वाले हैं, वे ही जितेन्द्रिय हैं।

५८१—असंयती के लिए वैर ही बढ़ता है।

५८२—काम-भोगों में रही हुई तृष्णा हटाई जाय।

५८३—यह आत्मा अनेक बार इधर उधर भागते हुए पटका गया, फाड़ा गया, छिन्न भिन्न किया गया।

५८४—मंद बुद्धि वाले, प्राणियों की हिंसा करते हैं।

५८५—स्थितप्रज्ञ आत्मा प्राणातिपात से विरतिवाली होती ह।

५८६—प्राणी ही प्राणियों का क्लेश पहुँचाते हैं।

५८७—प्राणियों का वध घोर पाप है।

५८८—जा प्राणियों की हिंसा नहीं करता है, उसके कर्म इस प्रकार दूर हो जाते हैं, जसे कि ढालू जमीन से पानी दूर हो जाता है

५८९—प्रायश्चित्त करने से पाप-कर्मों की विशुद्धि होती है।

५९०—पाव कम्मं नेव कुज्जा न कारवेज्जा । (उपदेश ३६)

५९१—पावदिट्ठी विहन्नई । (अनिष्ट २९)

५९२—पावाइं कम्माइं करंति रुद्दा, तिव्वाभितावे नरए पडंति ।
(अनिष्ट २४)

५९३—पावाइं मेधावी अज्झप्पेण समाहरे । (उपदेश ८९)

५९४—पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा । (उपदेश १५)

५९५—पावोवगा य आरंभा, दुक्खं फासा य अंतसो ।
(अनिष्ट २५)

५९६—पास ! लोए महब्भयं । (संसार ९)

५९७—पासे समिय दंसणे, छिन्दे गेहिं सिणेहं च । (उपदेश ८६)

५९८—पिट्ठि मंसं न खाइज्जा । (सत्यादि ३५)

५९९—पियं करे पियंवाई, से सिक्खं लद्धु मरिहई । (सत्यादि ३२)

६००—पियं न विज्जई किंचि, अप्पियं पि न विज्जई ।
(महापुरुष २१)

६०१—पियमाप्पियं कस्सइ णो करेज्जा । (उपदेश १२)

६०२—पिय मप्पियं सव्वं तितिक्खएज्जा । (क्षमा ४)

६०३—पिहियासवस्स दंतस्सतस्स पाव कम्मं न बंधई । (उपदेश २६)

६०४—पुढवि समे मुणी हविज्जा । (श्रमण-भिक्षु २५)

६०५—पुढो य छंद। इह माणवा उ । (प्रकी. १७)

६०६—पुणो पुणो गुणासाए, वंक समायारे । (भाग १०)

६०७—पुरिमा उज्जु जड्डा उ, वक्क जडा य पच्छिमा ।
(प्रकी. १४)

५९०—पाप कर्म न तो करे और नहीं करावे ।

५९१—पाप दृष्टि वाला विनष्ट हो जाता है ।

५९२—रौद्र भावना वाले पाप कर्म करते हैं और तीव्र ताप वाले नरक में पड़ते हैं ।

५९३—मेधावी आत्म ध्यान द्वारा ही पापों को दूर कर देता है ।

५९४—पाप से आत्मा को लौटा लो ।

५९५—आरंभ के काम पाप को पैदा करने वाले हैं और अंतमें दुःख का स्पर्श कराने वाले ही हैं ।

५९६—देखो ! लोक महान् भय वाला है ।

५९७—सम्यक् दर्शनी विचार करे, और आसक्ति तथा मोह को दूर करे ।

५९८—निंदा मत करो ।

५९९—जो प्रिय करने वाला है और प्रिय बोलने वाला है, वही शिक्षा ग्रहण करने की योग्यता रखता हैं ।

६००—महात्मा के लिये न कोई प्रिय होता है और न कोई अप्रिय होता हैं ।

६०१—किसी का भी प्रिय अप्रिय (राग द्वेष के कारण से) मत करो ।

६०२—प्रिय अप्रिय सभी शांति पूर्वक सहन करो ।

६०३—जिसने आश्रव का रोक दिया है और जो इन्द्रियों का दमन करने वाला है, उसके पाप कर्म नहीं बंधा करते हैं ।

६०४—मुनि पृथ्वी के समान धैर्यशाली होवे ।

६०५—इस संसार में मनुष्य अनेक प्रकार के अभिप्राय वाले होते हैं ।

६०६—जो बार बार इन्द्रियों के भोगो का आस्वादन करता है, वह कुटिल आचरण वाला है ।

६०७—प्रथम तीर्थंकर के युग में जनता सरल और जड़ थी, जब कि अंतिम तीर्थंकर के युग में जनता वक्र और जड़ है ।

६०८—पुरिसा ! अत्ताण मेवं अभिणिगिज्झ, एवं दुक्खा पमुच्चसि । (उपदेश ४८)

६०९—पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्त मिच्छसि । (उपदेश ४७)

६१०—पुरिसा ! सच्च मेव समभि जाणाहि । (सत्यादि ३)

६११—पूयणट्ठा जसो कामी बहुं पसवइ पावं । (अनिष्ट १०)

६१२—पूयणा पिट्ठतो कता, ते ठिया सुसमाहिए । (महापुरुष ३४)

६१३—पेज्जवत्तिया मुच्छा दुविहा, माए चेव लोहे चेव । (कषाय १३)

६१४—पंच ठाणाइं समणाणं जाव अब्भणुन्नायाइं भवंति, सच्चे, संजमे, तवे, चियाए, बभ चेर वासे । (धर्म ३७)

६१५—पंच णिही, पुत्त णिही, मित्तणिही, सिप्पणिही, धणणिही धन्नणिही । (प्रकी. ४३)

६१६—पंच निग्गहणा धीरा । (योग १)

६१७—पच विहे आयारे, णाणायारे, दंसणायारे, चरित्तायारे, तवायारे, वीरियायारे । (सद्गुण २३)

६१८—पंच विहे काम गुणे निच्चसो परिवज्जए । (काम ३३)

६१९—पंचविहे ववहारे, आगमे, सुए, आणा, धारणा, जीए । (प्रकी ४२)

६२०—पंचविहे सोए, पुढवि सोए, आउ सोए, तेउ सोए मंत सोए, बंभसोए । (प्रकी. ४१)

६२१—पंडिया पवियक्खणा, विणियट्टन्ति भोगेसु । (महापुरुष ३)

६२२—पंतं लूहं सेवंति वीरा समत्त दंसिणो । (महापुरुष ४५)

६०८—हे पुरुष ! अपनी आत्मा में ही अनुरक्त होओ और इसी रीतिसे मुक्त हो सकोगे।

६०९—हे पुरुष ! तुम ही तुम्हारे मित्र हो; बाह्य मित्र की इच्छा क्यों करते हो ?

६१०—हे पुरुष ! सत्य का ही सम्यक् प्रकार से ज्ञान प्राप्त करो।

६११—पूजा का आकांक्षी और यश का कामी बहुत पाप का उपार्जन करता है।

६१२—जिसने पूजा से मुँह मोड़ लिया है, वही सुसमाधि में स्थित है।

६१३—राग वृत्ति से संबंधित मूर्च्छा दो प्रकार की है:—माया संबंधी और लोभ संबंधी।

६१४—साधुओं के लिये पाँच प्रकार के स्थान कर्त्तव्य रूप से कहे गये हैं:—सत्य, संयम, तप, त्याग और ब्रह्मचर्य।

६१५—निधियाँ पांच हैं:—पुत्रनिधि, मित्रनिधि, ज्ञाननिधि, धननिधि और धान्य निधि।

६१६—पांचों इन्द्रियों का निग्रह करने वाले ही धीर पुरुष कहलाते हैं।

६१७—आचार पांच प्रकार का कहा गया है:—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार।

६१८—पांच प्रकार के काम-भोगों को सदैव के लिये छोड़ दो।

६१९—व्यवहार पांच प्रकार का है:—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत।

६२०—पवित्रता पांच प्रकार की कही गई है, पृथ्वी मिट्टी से जनित पवित्रता, पानी से, अग्नि से, मंत्र से और ब्रह्मचर्य से।

६२१—पंडित और प्रवीण पुरुष भोगों से निवृत्त ही होते हैं।

६२२—सम्यक्त्व दर्शी वीर पुरुष नीरस और निस्वाद भोजन का आहार करते हैं।

फ

६२३—फासेसु जो गिद्धि मुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं। (योग. २१)

ब

६२४—बद्धे विसय पासेहिं, मोह मावज्जइ पुणो मंदे। (बाल २१)

६२५—बहिया उड्ढमादाय, नाव कंखे कयाइ वि, (काम ३९)

६२६—बहु कम्म लेव लित्ताणं, बोही होइ सु दुल्लहा। (दुर्लभ १५)

६२७—बहु दुक्खा हु जन्तवो। (संसार १०)

६२८—बहुं पि अणुसासिए जे तहच्चा, समेहु से होइ अझंझपत्ते। (महापुरुष ४०)

६२९—बहु मायाओ इत्थिओ। (प्रकी. १६)

६३०—बाल जणो पगब्भइ। (बाल १२)

६३१—बाल भावे अप्पाणं नो उव दंसिज्जा। (बाल १)

६३२—बालाणं मरणं असइं भवे। (बाल ३)

६३३—बाला वेदंति कम्माइं पुरे कडाइं। (कर्म २४)

६३४—बालुया कवले चेव, निरस्साए उ संजमे। (श्रमण-भिक्षु २१)

६३५—बाले पापेहिं मिज्जती। (बाल १३)

६३६—बाले य मन्दिए मूढे, बज्झई मच्छिया व खेलम्मि। (बाल २)

फ

६२३—जो स्पर्श इन्द्रिय के भोगों में तीव्र गृद्धि भाव रखता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है।

ब

६२४—मूर्ख आत्मा विषय-पाश से बंधी हुई होकर बार बार मोह-ग्रस्त होती है।

६२५—महत्वाकांक्षी उच्च स्थिति प्राप्त करके फिर कभी भी भोगों की आकांक्षा नहीं करे।

६२६—बहुत कर्मों के लेप से लिप्त प्राणियों के लिए सम्यक् ज्ञान दर्शन की प्राप्ति सुदुर्लभ होती है।

६२७—संसारी जीव निश्चय ही विविध दुःख वाले होते हैं।

६२८—बहुत प्रकार से अनुशासित किया जाने पर भी जो विचारों में विकार नहीं आने देता है, वह निश्चय में समता शील होता हुआ व्याकुलता से रहित होता है।

६२९—स्त्रियाँ बहुत माया वाली होती हैं।

६३०—बालजन ही अभिमानी होता है।

६३१—अपनी आत्मा को बाल भाव में नहीं दिखाना चाहिए।

६३२—मूर्खों की मृत्यु बार बार होती है।

६३३—मूर्ख आत्माएं पूर्व कृत कर्मों का फल भोगती हैं।

६३४—संयम पालना बालु-रेत के कौर के समान निस्स्वाद और कठोर है।

६३५—मूर्ख पापों से डूबता है।

६३६—बाल आत्मा, मन्द आत्मा, मूढ़ आत्मा इस प्रकार फंस जाती है, जैसे कि मक्खी नाक और मुख के कफ रूप मल में फंस जाती है।

६३७—बुद्धा धम्मस्स पारगा । (प्रशस्त २)

६३८—बुद्धामो ति य मन्नंता अंत ए ते समाहिए । (बाल १७)

६३९—बुद्धा हु ते अंत कडा भवंति । (ज्ञान १२)

६४०—बुद्धे परि निव्वुडे चरे, सन्ती मग्गं च बूहए ।
(उपदेश ६४)

६४१—बुद्धो भोगे परिच्चयई । (महापुरुष ४)

६४२—बंभयारिस्स इत्थी विग्गहओ भयं । (शील २)

भ

६४३—भद्दं सव्व जगुज्जोयगस्स, भद्दं जिणस्स वीरस्स ।
(प्रा. मं. १७)

६४४—भद्दं सील पडागु सियस्स, तव नियम तुरय जुत्तस्स ।
(प्रा. मं. २१)

६४५—भद्दं सुरासुर नमंसियस्स भद्दं धुय रयस्स । (प्रा. मं. ११)

६४६—भय वेराओ उवरए । (सात्विक १८)

६४७—भव त[illegible] लया वुत्ता भीमा भीम फलोदया ।
(लोभ ७)

६४८—भवे अकामे अझंझे । (सात्विक १०)

६४९—भायणं सव्व दव्वाणं, नहं ओगाह लक्खणं ।
(प्रकी. २२)

६५०—भारस्स जाता मुणि भुंज एज्जा । (श्रमण-भिक्षु ४८)

६३७—बुद्ध, ज्ञानी धर्म के पार पहुँचे हुए होते हैं ।

६३८—"हम ज्ञानी हैं" ऐसा जो अपने आप को मानते हैं, वे समाधि से बहुत दूर हैं ।

६३९—जो निश्चय में ज्ञानी हैं, वे संसार का अन्त करने वाले होते हैं ।

६४०—ज्ञान शाली होकर, सब प्रकार से परिनिवृत्त होकर विचरे, तथा शांति के मार्ग की वृद्धि करता रहे ।

६४१—ज्ञानी ही भोगों को छोड़ता है ।

६४२—ब्रह्मचारी के लिये स्त्री के शरीर से भय रहा हुआ है ।

६४३—संपूर्ण संसार में उद्योत करने वाले जिन देव वीर-प्रभु का शासन भद्र हो, कल्याणकारी हो ।

६४४—जिसमें शील रूप पताका फरक रही है, और जिसमें तप, नियम रूप घोड़े जुते हुए हैं, ऐसे श्री संघ रूप रथ के लिए भद्र हो, मंगल हो ।

६४५—जिनको सुर और असुर सभी नमस्कार करते हैं और जिन्होंने कर्म रूप रज को धो डाली हैं, ऐसे श्री वीर प्रभु मंगलकारी हैं ।

६४६—भय और वैर से दूर रहो ।

६४७—तृष्णा एक प्रकार की सांसारिक भयंकर लता कही गई है, जिससे भीषण फल प्राप्त होते हैं ।

६४८—निष्कामना वाला राग रहित होवे ।

६४९—आकाश सभी द्रव्यों का भाजन है और "स्थान देना" ही इसका लक्षण है !

६५०—संयम रूपी यात्रा के निर्वाह के लिये ही मुनि भोजन करे ।

६५१—भावणा जोग सुद्धप्पा, जले णावा व आहिया । (योग ३)

६५२—भाव विसोहीए निव्वाण मभि गच्छइ । (प्रशस्त १५)

६५३—भासमाणो न भासेज्जा । (सत्यादि २७)

६५४—भासियव्वं हियं सच्चं । (सत्यादि ६)

६५५—भिक्खवत्ती सुहावहा । (श्रमण ५१)

६५६—भिक्खू सुसाहुवादी । (श्रमण-भिक्षु २६)

६५७—भुज्जो भुज्जो दुहा वासं, असुहत्तं तहा तहा । (अनिष्ट २६)

६५८—भुत्ताण भोगाणं परिणामो न सुन्दरो । (भाग ३)

६५९—भुंजमाणो य मेहावी कम्मणा नोवलिप्पइ । (महापुरुष २६)

६६०—भुंजिज्जा दोष वज्जिअं । (सद्गुण २२)

६६१—भूएहिं न विरुज्झेज्जा । (उपदेश ४१)

६६२—भूओ व घाइणि भासं नेवं भासिज्ज पन्नवं । (सत्यादि १९)

६६३—भोगा इमे संग करा हवंति । (काम १२)

६६४—भोगा भुत्ता विसफलोवमा, कडुय विवागा अणुबंध दुहावहा । (भोग २)

६६५—भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई । (भोग ८)

म

६६६—मग्गं कुसीलाण जहाय सव्वं, महा नियंठाण वए पहेणं । (उपदेश ३३)

६५१—भावना के योग से शुद्ध आत्मा जल में नाव की तरह कहा गया है ।

६५२—भावों की विशुद्धि से निर्वाण को प्राप्त होता है ।

६५३—कोई दूसरा बोलता हो तो बीच में नहीं बोले ।

६५४—हितकारी और सत्य ही बोलना चाहिए ।

६५५—भिक्षा वृत्ति सुखों को लाने वाली है ।

६५६—भिक्षु सत्य और मधुर बोलने वाला होता है ।

६५७—(भोगों की तल्लीनता) बार बार दुःखों का ही घर है, और ज्यों ज्यों दुःख, त्यों त्यों अशुभ (विचार बढ़ते ही रहते हैं) ।

६५८—भोगे हुए भोगों का परिणाम सुन्दर नहीं होता है ।

६५९—अनासक्त रूपसे भोजन करता हुआ मेधावी कर्मों से लिप्त नहीं होता है ।

६६०—दोष से वर्जित भोजन करो ।

६६१—भूतों के साथ याने प्राणियों के साथ वैर–भाव मत रक्खो ।

६६२—प्रज्ञ पुरुष जीवघातिनी (मर्मान्तक) भाषा नहीं बोले ।

६६३—ये भोग कर्मों की संगति कराने वाले होते हैं ।

६६४—भोगे हुए भोग विष फल के समान हैं, कड़ुए परिणाम वाले हैं और निरन्तर दुःखों को लाने वाले हैं ।

६६५—भोगी संसार में भ्रमण करता है और अभोगी मुक्त हो जाता है ।

म

६६६—(मुमुक्षु) कुशीलों के संपूर्ण मार्ग का परित्याग करके महा निर्ग्रंथों के मार्ग–अनुसार बोले ।

६६७—मच्चुणा ऽब्भा हओ लोगो जराए परिवारिओ । (वैराग्य १३)

६६८—मच्चू नरं नेइ हु अन्त काले, नइ तस्स माया व पिया व भाया अंस हरा भवन्ति । (वैराग्य १५)

६६९—मज्ज मंसं लसुणं च भोच्चा अनत्थ वासं परिकप्पयंति । (अनिष्ट २१)

६७०—मज्झत्थो निज्जरा पेही, समाहि मणु पालए । (तप २४)

६७१—मज्झिमा उज्जु पन्ना उ । (प्रकी. १५)

६७२—मण गुत्तो वय गुत्तो काय गुत्तो जिइंदिओ जावज्जीवं दढव्वओ । (योग ६)

६७३—मणसा काय वक्केणं, णारंभि ण परिग्गही (योग २५)

६७४—मणो साहस्सिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावई । (योग ५)

६७५—मन वय कायसु संवुडे स भिक्खू । (श्रमण-भिक्षु ६)

६७६—ममाइ लुप्पई बाले । (बाल २६)

६७७—महप्पसाया इसिणो हवन्ति । (महापुरुष १९)

६७८—महब्भयाओ भीमाओ, नरएसु दुह वेयणा । (संसार ७)

६७९—महुगार समा बुद्धा । (श्रमण-भिक्षु १)

६८०—माणुस्सं खु सु दुल्लहं । (दुर्लभ १७)

६८१—माणो विणय नासणो । (कषाय १७)

६८२—माणं मद्दवया जिणे । (सद्‌गुण ४)

६८३—मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा । (सत्यादि २५)

६६७—यह संसार मृत्यु से पीड़ित है और बुढ़ापे से घिरा हुआ है।

६६८—अंतिम काल में मृत्यु मनुष्य को निश्चय ही ले जाती है, उसके माता, पिता, भाई, कोई भी अंश रूप से भी रक्षक नहीं होते हैं।

६६९—(मूर्ख) मद्य, मांस, लशुन खा करके अनर्थ वास का (नीच गति की) परिकल्पना करते हैं।

६७०—निर्जराप्रेक्षी मध्यस्थ (तटस्थ) रहता हुआ समाधि का अनुपालन करे।

६७१—दूसरे तीर्थंकर से लगा कर तेइसवें तार्थंकर तक के शासन काल की जनता-सरल और बुद्धिशालिनी थी।

६७२—जीवन पर्यंत दृढ़ व्रत शाली हाता हुआ मनगुप्ति, वचन गुप्ति और काया गुप्ति वाला एवं जितेन्द्रिय हावे।

६७३—मन, वचन और काया द्वारा न तो आरंभी हो आर न परिग्रही हो।

६७४—यह मन साहसिक और भयंकर दुष्ट घोड़ा रूप है, जो कि निरंतर दौड़ता रहता है।

६७५—जो मन, वचन और काया द्वारा संवृत्त है, व्रत शील है, वही भक्षु है।

६७६—बाल—आत्मा ममता से डूबता है।

६७७—ऋषि महान् प्रसन्न होते हैं, वे शोक रहित होते हैं।

६७८—नरकों दुःख वेदनाऐं महान् भयंकर और भीषण होती हैं।

६७९—ज्ञानी मधुकर के समान होते हैं।

६८०—मनुष्यत्व निश्चय ही सुदुर्लभ है।

६८१—मान विनय का नाश करने वाला है।

६८२—मान को मृदुता जाते

६८३—छल कपट के स्थान को छाड़ दो।

६८४—माया गई पडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं।
(कषाय १२)

६८५—माया पिया ण्हुसा भाया नालं ते मम ताणाए।
(वैराग्य १६)

६८६—माया मित्ताणि नासेइ। (कषाय ११)

६८७—माया मुसं वड्ढइ लोभ दोसा। (सत्यादि ३०)

६८८—माया मोसं विवज्जए। (सत्यादि ३६)

६८९—माया मोसं विवज्जए। (कषाय १०)

६९०—मायाहिं पियाहिं लुप्पइ, नो सुलहा सुगई य पेच्चओ।
(दुर्लभ १८)

६९१—मायं अज्जव भावेण। (सद्गुण ५)

६९२—मायं च वज्जए सया। (कषाय १४)

६९३—मायं न सेवेज्ज पहेज्ज लोहं। (उपदेश ४४)

६९४—मा वंतं पुणो वि आविए। (कर्त्तव्य ५)

६९५—मिच्छ दिट्ठी अणारिया। (अनिष्ट २७)

६९६—मिच्छा दिट्ठी अणारिया, संसारं अणु परियट्टंति।
(बाल १०)

६९७—मितिं भूएसु कप्पए। (सात्विक १)

६९८—मियं कालेण भक्खए। (उपदेश ४२)

६९९—मिहो कहाहिं न रमे। (उपदेश २९)

७००—मुच्छा परिग्गहो वुत्तो। (अपरिग्रह २)

७०१—मुणी ण मज्जई। (श्रमण-भिक्षु ४३)

७०२—मुणी! महब्भयं नाइवाइज्ज कंचणं। (अहिंसा १५)

६८४—माया उच्च गति का प्रतिघात करने वाली है और लोभ से दोनों लोक में भय रहा हुआ है।

६८५—माता, पिता, पुत्र, वधु, भाई, कोई भी मेरी रक्षा के लिये समर्थ नहीं है।

६८६—माया मित्रों का नाश करती है।

६८७—माया-मृषावाद लोभ के दोषों को बढ़ाता है।

६८८—माया–मृषावाद को छोड़ दो।

६८९—माया–मृषावाद को छाड़ दो।

६९०—जो माता पिता द्वारा मोह ग्रस्त हो जाता है, उसके लिये पर लोक में सुगति सुलभ नहीं हाता है।

६९१—माया को सरल भाव से जीतो।

६९२—सदा के लिये माया को छोड़ दो।

६९३—(विवेकी) माया की सेवना नहीं करे और लाभ को छोड़ दे।

६९४—त्यागी हुई (भोग्य वस्तुओं) को पुनः भोगने की इच्छा मत करो।

६९६—मिथ्या दृष्टि वाले अनार्य होते हैं और वे ससार में चक्कर लगाया ही करते हैं।

६९७—प्राणियों पर मैत्री–भावकी कल्पना करो।

६९८—समयानुसार परिमित भोजन क

६९९—परस्पर में कथा–वार्त्ताओं द्वारा मनोरंजन नहा करे।

७०१—मुनि अहंकार नहीं करता है।

७०२—हे मुनि ! किसी की भी हिंसा मत करो, इसमें महान् भय रहा हुआ है।

७०३—मुणी मोणं समायाय, धुणे कम्म सरीरगं ।
(श्रमण ५३)

७०४—मुसा भासा निरत्थिया । (सत्यादि ३१)

७०५—मुसावायं च वज्जिज्जा, अदिन्नादाणं च वोसिरे ।
(सत्यादि २८)

७०६—मूसं न बूया मुणि अत्तगामी । (सत्यादि ४०)

७०७—मुसं परिहरे भिक्खू । (सत्यादि २२)

७०८—मुहा दाई मुहा जीवी दो वि गच्छंति सुग्गइं ।
(प्रशस्त ८)

७०९—मूलमेय महमस्स । (काम ६)

७१०—मेधाविणो लोभ मयावतीता । (महापुरुष ५)

७११—मेरुव्व वाएण अकम्पमाणो, परीसहे आयगुत्ते सहिज्जा ।
(महापुरुष ३०)

७१२—मेहावि समिक्ख धम्मं दूरेण पावं परिवज्जएज्जा ।
(उपदेश १४)

७१३—मेहावी अप्पणो गिद्धि मुद्धरे । (महापुरुष २७)

७१४—मेहावी जाणिज्ज धम्मं । (सद्गुण से१५)

७१५—मोक्ख सब्भूय साहणा, नाणं च दंसणं चेव चरित्तं चेव ।
(मोक्ष १६)

७१६—मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पयोग काले य दुही दुरन्ते ।
(सत्यादि २९)

७१७—मोहाय यणं खु तण्हा । (लोभ ५)

७१८—मोहेण गब्भं मरणाइं एइ । (कषाय ३२)

७१९—मोहं चतण्हाय यणं । (लोभ ६)

७०३—मुनि मौन को ग्रहण करके शरीर में रहे हुए (आत्मास्थ) कर्मों को कंपित कर दे।

७०४—झूठ वाली भाषा निरर्थक है।

७०५—झूठ का वर्जन कर दो और अदत्ता दान को (चोरी को) छोड़ दो।

७०६—आत्मा को मोक्ष में ले जाने की इच्छा वाला मुनि झूठ नहीं बाले।

७०७—भिक्षु झूठ का परिहार कर दे।

७०८—निर्दोष भिक्षा देने वाला और निर्दोष भिक्षा पर जीवन निर्वाह करने वाला, दोनों ही सुगति को जाते हैं।

७०९—यह काम-भोग नीचता की जड़ है।

७१०—मेधावी पुरुष (ज्ञान शाला) लोभ से और मद से अतीत होते हैं, (रहित होते हैं)।

७११—आत्मा का गोपने वाला (दमन करने वाला) वायु द्वारा मेरू के अकंपन की तरह परिषहों को अविचलित होकर सहन करे।

७१२—मेधावी धर्म की समीक्षा करके पाप को दूर से ही छोड़ दे।

७१३—मेधावी अपने गृद्धि-भाव को हटावे।

७१४—मेधावी धर्म को जाने।

७१५—मोक्ष के सद्भूत (यथार्थ) साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र हैं।

७१६—दुष्ट आत्मा झूठ के पीछे और पहिले एवं प्रयाग-काल में (तीनों ही काल में) दुःखी होता है।

७१७—तृष्णा निश्चय ही मोह का घर है।

७१८—मोह से गर्भ को और मृत्यु को प्राप्त होता है।

७१९—मोह हा तृष्णा का स्थान है।

७२०—मंदस्साविचाणओ । (बाल २४)

७२१—मंदा नरयं गच्छन्ति, बाला पावियाहिं दिट्ठीहिं ।
(बाल २५)

७२२—मंदा मोहेण पाउडा । (बाल १६)

७२३—मंदा विसीयंति उज्जाणंसि व दुब्बला । (बाल २०)

७२४—मंदा विसीयंति, मच्छा विट्ठा व केयणे । (भोग १५)

र

७२५—रक्खिज्ज कोहं विणएज्ज माणं । (उपदेश ४३)

७२६—रमइ अज्ज वयणम्मि, तं वयं बूम माहणं । (प्रकी. १)

७२७—रयाइं खेवेज्ज पुराकडाइं । (उपदेश ८१)

७२८—रसगिद्धे न सिया । (उपदेश ६२)

७२९—रसाणुरत्तस्स नरस्स एवं कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ।
(अनिष्ट २२)

७३०—रसा पगामं न निसेवियव्वा । (भोग ६)

७३१—रसेसु जो गिद्धि मुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं ।
(योग २०)

७३२—राईभोयण विरओ जीवो भवइ अणासवो । (धर्म १६)

७३३—राग दोस भयाईयं, तं वयं बूम माहणं । (प्रकी. २)

७३४—रागदोसस्सिया बाला पावं कुव्वंति ते बहुं । (बाल २२)

७३५—रागद्दोसादओ तिव्वा, नेह पासा भयंकरा । (कषाय ३)

७२०—**मद पुरुष के लिये (ज्ञान भी) अज्ञान ही होता है ।**

७२१—मंद बुद्धि वाले और मूर्ख बुद्धि वाले पाप दृष्टि के कारण स नरक को जाते हैं ।

७२२—मंद बुद्धि वाले ही मोह से ढंके हुए होते हैं !

७२३—जैसे दुर्बल बैल ऊँची जमीन पर चढ़ते हुए कष्ट पाते हैं, वैसे ही मूर्ख आत्माएे भी विषाद (खेद) पाती है ।

७२४—जैसे जाल मे फंसी हुई मछली (विषाद) खेद अनुभव करती हैं, वैसे ही मूर्ख आत्माएें भी खेद अनुभव करती हैं ।

र

७२५—क्रोध को हटा दो और मान को विनष्ट कर दो ।

७२६—जा आर्य वचनों में रमण करता है, उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं ।

७२७—पूर्व कृत कर्मों की रज को फेंक दो ।

७२८—रस में गृद्धि वाले मत बनो ।

७२९—रस मे अनुरक्त मनुष्य के लिए कभी भी थोडा सा भी सुख कैसे हो सकता है ?

७३०—अत्यधिक मात्रा में दूध, घी, तेल आदि रसों का सेवन नहीं किया जाना चाहिए ।

७३१—जो रसों में तीव्र गृद्धि भाव रखता है वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है ।

७३२—रात्रि-भोजन से विरक्ति करने वाला जीव अनाश्रव वाला होता है ।

७३३—जो राग, द्वेष और भय से अतीत है, उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं ।

७३४—राग द्वेष के आश्रित होकर बाल जन विविध पाप किया करते हैं।

७३५—राग द्वेष आदि रूप मोह पाश तीव्र है और भयंकर है ।

७३६—रागस्स हेउं समणुन्न माहु, दोसस्स हेउ अमणुन्न माहु ।
(कषाय २)

७३७—रागो य दोसोऽवि य कम्म बीयं । (कर्म १)

७३८—रायणिएसु विणयं पउंजे । (कर्त्तव्य ७)

७३९—रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो न लिप्पए भवमज्झेऽवि-
सन्तो । (शील ३१)

७४०—रूवेसु जो गिद्धि मुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं ।
(योग १८)

७४१—रूवेहिं लुप्पंति भया वहे हिं । (काम ४)

७४२—रोइअ नायपुत्त वयणे, पंचासव संवरे जे स भिक्खू ।
(श्रमण-भिक्षु ३)

ल

७४३—लज्जा दया संजम बंभचेरं कल्लाण भागिस्स विसोहि
ठाणं । (कर्त्तव्य ८)

७४४—लद्धे कामे ण पत्थेज्जा । (शील २७)

७४५—लद्ध विपट्ठी कुव्वइ से हु चाइ । (श्रमण-भिक्षु १५)

७४६—लुप्पन्ति बहुसो मूढ़ा, संसारम्मि अणन्तए । (बाल ४)

७४७—लेसं समाहट्टु परिवएज्जा । (उपदेश १३)

७४८—लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते (प्रा. मं. ५)

७४९—लोगे तं सव्वं दुपडीआरं, जीवाचेव अजीवा चेव ।
(प्रकी. २८)

७५०—लोभं संतोसओ जिणे । (सद्गुण ६)

७५१—लोभो सव्व विणासणो । (लोभ १)

७३६—समनोज्ञ (रमणीयता) राग का हेतु कहा गया है, और अमनोज्ञ द्वेष का हेतु कहा गया है ।

७३७—राग और द्वेष ही कर्म के बीज हैं ।

७३८—रत्नाधिक पुरुषों के प्रति (ज्ञान दर्शन और चारित्र में वृद्ध पुरुषों के प्रति) विनय रखना चाहिए ।

७३९—रूप मे विरक्त एवं शोक रहित मनुष्य संसार में रहता हुआ भी लिप्त नहीं होता है ।

७४०—जो रूप में तीव्र गृद्धि रखता है, वह अकाल में विनाश को प्राप्त होता है ।

७४१—भय लाने वाले रूप द्वारा ही प्राणी लुप्त होते हैं, विनाश को प्राप्त होते हैं ।

७४२—ज्ञातपुत्र महावीर के वचन में रुचि लाकर जो पांचो आश्रवों का संवर करता है, वही भिक्षु है ।

ल

७४३—कल्याण की कामना वाले के लिये लज्जा, दया, संयम और ब्रह्म-चर्य विशुद्धि के स्थान हैं ।

७४४—(विवेकी) भोगों के प्राप्त होने पर भी उनकी बांछा नहीं करे।

७४५—प्राप्त भोगों से भी जो मुख मोड़ लेता है, वही सच्चा त्यागी है।

७४६—मूढ़ आत्माएं अनेक बार इस अनंत संसार में लुप्त होती रहती हैं ।

७४७—(अशुभ) लेश्या का परिहार करके संयम शील होवे ।

७४८—श्रमण ज्ञातपुत्र महावीर लोक में उत्तम हैं ।

७४९—इस संपूर्ण लोक को दो रूप में समावेश किया जा सकता है:—जीव और अजीव ।

७५०—लोभ को संतोष से जीते ।

७५१—लोभ सब का विनाश करने वाला है ।

व

७५२—वईसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा। (प्रकी. ४)

७५३—वज्जए इत्थी विस लित्तं व कंटगं नच्चा। (काम २७)

७५४—वण्ण रस गंध फासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं।
(प्रकी. १९)

७५५—वण्णं जरा हरइ नरस्स। (उपदेश ५३)

७५६—वत्तणा लक्खणो कालो। (प्रकी. २३)

७५७—वन्दणएणं नीया गोयं कम्मं खवेइ, उच्चा गोयं कम्मं निबन्धइ। (सदगुण २०)

७५८—वमे चत्तारि दोसे उ इच्छंतो हिय मप्पणो।
(कषाय ६)

७५९—वसे गुरु कुले निच्चं। (ज्ञान २०)

७६०—वायणाए निज्जरं जणयइ। (सद्गुण २१)

७६१—वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि वेराणु बंधीणि महब्भयाणि।
(सत्यादि १७)

७६२—विगय संगामो भवाओ परिमुच्चए। (महापुरुष ४३)

७६३—विज्जाचरणं पमोक्खं। (चारित्र ३)

७६४—विणि अट्टिज्ज भोगेसु, आउं परिमि अप्पणो।
(वैराग्य १०

७६५—विणियट्टंति भोगेसु, जहा से पुरिसुत्तमो।
(महापुरुष २)

७६६—विणीअ तिण्हो विहरे। (लोभ १४)

व

७५२ —आचरण अनुसार ही वैश्य होता है और आचरण अनुसार ही शूद्र होता है ।

७५३—ब्रह्मचारी स्त्री को कांटों वाली विष लता जान कर छोड़ दे ।

७५४—पुद्गलों का लक्षण. "वर्ण, रस, गंध और स्पर्श वाला" होना कहा गया है ।

७५५ बुढापा मनुष्य के वर्ण को हरण कर लेता है ।

७५६—काल वर्तना लक्षण वाला है ।

७५७—वन्दना से नीच-गोत्र कर्म नष्ट होता है और उच्च गोत्र कर्म का बंध पड़ता है ।

७५८—अपनी आत्मा का हित चाहने वाला चारों दोषों को (क्रोध, मान, माया, लोभ को) छोड़ दे ।

७५९— नित्य गुरुकुल में (ज्ञानियों की संगति में) रहे ।

७६०—वाचना से (पठन पाठन से) निर्जरा उत्पन्न होती है ।

७६१—दुष्ट रीति से बोले जाने वाले वचन बड़ी कठिनाई से भूले जाने वाले होते हैं, वैर का बंधन लाने वाले होते हैं, तथा महान् भय पैदा करने वाले होते हैं ।

७६२—विकारों के साथ किया जाने वाला संग्राम संसार से मुक्ति दिलाने वाला होता है ।

७६३—ज्ञान और चारित्र ही मोक्ष है ।

७६४—भोगों से निवृत्त हो जाओ, क्योंकि अपनी आयु परिमित है ।

७६५—जो भोगों से निवृत्त होते हैं, वे ही पुरुषोत्तम हैं ।

७६६—ज्ञानी तृष्णा को हटाकर के विचरे ।

७६७—विति गिच्छ समावन्नेणं, अप्पाणेणं नो लहइ समाहिं।
(दर्शन ११)

७६८—वित्ते गिद्धे य इत्थिसु, दुहओ मलं संचिणइ।
(काम २१)

७६९—वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते। (उपदेश ८४)

७७०—वित्तं पसवो य नाइओ, तं बाले सरणं ति मन्नइ।
(बाल १८)

७७१—विद्धंसण धम्म मेव तं इति, विज्जं कोऽगार मावसे।
(उपदेश ३४)

७७२—विप्पमायं न कुज्जा। (उपदेश १९)

७७३—विभज्ज वायं च वियागरेज्जा। (महापुरुष ४१)

७७४—वियागरेज्जा समयासुपन्ने। (श्रमण-भिक्षु ३७)

७७५—विरए वहाओ। (अहिंसा १३)

७७६—विरत्ता उ न लग्गन्ति जहा से सुक्क गोलए।
(वैराग्य २४)

७७७—विरते सिणाणाइसु इत्थियासु। (शील १९)

७७८—विवत्ती अविणीअस्स, संपत्ती विणिअस्स अ।
(प्रकी. ६)

७७९—विवित्त वासो मुणिणं पसत्थो। (श्रमण-भिक्षु २७)

७८०—विसएसणं झिया यंति, कंका वा कलु साहमा।
(काम ३१)

७८१—विसएसु मणुन्नेसु पेमं नाभि निवेसए। (शील १५)

७८२—विसन्ना विसयं गणाहिं, दुहओऽ विलोयं अणुसंचरन्ति।
(काम ३०)

७६७—जिस आत्मा को ज्ञान, दर्शन, चारित्र में शंकाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, ऐसी आत्मा समाधि नहीं प्राप्त कर सकती है ।

७६८—जो वन में और स्त्रियों में गृद्ध हो जाता है, वह इस लोक और परलोक दोनों ओर से कर्म-मल को संचय करता है ।

७६९—प्रमादी धन से शरण भूत रक्षा नहीं प्राप्त कर सकता है ।

७७०—यह धन, पशु और ज्ञाति जन मेरे शरण रूप रक्षक हैं, ऐसा बालआत्मा (मूर्ख जन) मानता है ।

७७१—ये सब विध्वंस धर्म वाले हैं, ऐसा जानता हुआ कौन भोग रूप घर में रहेगा ?

७७२—प्रमाद नहीं करना चाहिए ।

७७३—अपेक्षा वाली—स्याद्वाद वाली भाषा बोलनी चाहिए ।

७७४—तीव्र बुद्धि वाला समयानुसार व्याख्या करे ।

७७५—वध से—(हिंसा) विरक्त होवे ।

७७६—जैसे सूखे गोले पर कुछ चिपक नहीं सकता है, वैसे ही विरक्त आत्माएँ कर्म मल से संलग्न नहीं हुआ करती हैं !

७७७—स्नान आदि शृंगारिक कार्यों से और स्त्रियों से विरक्त रहो ।

७७८—अविनीत के लिये विपत्तियां हैं और विनीत के लिये संपत्तियाँ हैं ।

७७९—मुनियों के लिए एकान्त वास ही प्रशंसनीय है ।

७८०—जो विषयों का, भोगों का ध्यान किया करते हैं, वे कंक पक्षी के समान पापी और अधम हैं ।

७८१—मनोज्ञ विषयों में मोह का अभिनिवेश मत करो । मोहग्रस्त मत होओ ।

७८२—विषयों में लीन आत्माएँ [illegible] से दोनों ही लोक में विविध रीति से दुःखी होती है ।

७८३—विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं, समयं गोयम ! मा पमाए। (वैराग्य ३)

७८४—विहरेज्ज समाहि इंदिए, अत्त हियं खु दुहेण लब्भई। (योग २४)

७८५—वीरा असमत्त दंसिणो, असुद्धं तेसिं परक्कंतं। (अनिष्ट ३१)

७८६—वीरा सम्मत्त दंसिणो, सुद्धं तेसिं परक्कंतं। (दर्शन ६)

७८७—वीरे आगमेण सया परक्कमेज्जा। (उपदेश ५५)

७८८—बुज्झइ से अविणी अप्पा, कट्ठं सोअगयं जहा। (अनिष्ट ५)

७८९—वेएज्ज निज्जरा पेही। (तप १२)

७९०—वेयावच्चेणं तित्थयर नामगोत्तं कम्मं निबन्धइ। (तप २१)

७९१—वेराणु गिद्धे णिचयं करेति। (कषाय ९)

७९२—वेराणु बद्धा नरयं उवेंति। (अनिष्ट १६)

७९३—वेराणु बंधीणि महब्भयाणि। (कषाय ८)

७९४—वोच्छिद सिणेह मप्पणो। (काम ३८)

७९५—वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे। (उपदेश ४९)

७९६—वंतं नो पडि आयइ जे स भिक्खू। (श्रमण-भिक्षु ४)

स

७९७—सउणी धंसयई सियं रयं, एवं कम्मं खवइ तवस्सि माहणे। (महापुरुष ३२)

७९८—सएण दुक्खेण मूढे विप्परियास मुवेइ। (बाल ३३)

७८३—हे गौतम ! यह तुम्हारा शरीर टूट जाने वाला है, विध्वंस हो जाने वाला है, इसलिए समय मात्र का भी प्रमाद मत करो ।

७८४—(मुमुक्षु) समाधि मय इन्द्रियों वाला होता हुआ विचरे, क्योंकि आत्म-हित निश्चय ही बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है ।

७८५—जो वीर होते हुए भी असम्यक्त्वदर्शी हैं, उनका पराक्रम अशुद्ध है ।

७८६—जो वीर हैं और सम्यक्त्व दर्शी हैं, उन्हीं का पराक्रम शुद्ध है ।

७८७—वीर आत्मा सदा आगम अनुसार ही पराक्रम करता रहे ।

७८८—जैसे समुद्र में (अथवा जल-स्रोत में) सूखा काठ चक्कर खाया करता है, वैसे ही अविनीत आत्मा भी संसार-समुद्र में डूब जाता है ।

७८९—निर्जरा का आकांक्षी सहनशील होवे ।

७९०—वैयावृत्य (सेवा-भाव) से तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म का बंध पड़ता है ।

७९१—वैर-भाव में अनुगृद्ध आत्मा कर्मों का समूह आकर्षित करता है ।

७९२—वैर-भावना में बंधे हुए नरक को प्राप्त करते हैं ।

७९३—वैर का अनुबंध महान् भय वाला होता है ।

७९४—अपने मोह को विछिन्न कर दो ।

७९५—वमन किए को पुनः भोगना चाहता है, इसकी अपेक्षा तो तुम्हारा मरना श्रेयस्कर होगा ।

७९६—त्यागे हुए को जो पुनः नहीं ग्रहण करता है, वही भिक्षु है ।

स

७९७—जैसे शकुनि पक्षी अपनी लगी हुई धूल को झाड़ देता है वैसे ही तपस्वी साधु भी कर्मों का क्षय कर देता है ।

७९८—स्वदुःख से ही मूढ़ विपरीत स्थिति को प्राप्त करता है ।

७९९—सक्के देवाहिवई, एवं हवइ बहुस्सुए । (ज्ञान १५)

८००—सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो, न दीसई जाइ विसेस कोई । (तप २३)

८०१—स कम्म बीओ अवसो पयाइ, परं भवं सुंदर पावगं वा । (कर्म १४)

८०२—सकम्मुणा विप्परियासुवेइ । (कर्म २५)

८०३—सच्चस्स आणाए से उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ । (सत्यादि ४)

८०४—सच्चा वि सा न वत्तव्वा जओ पावस्स आगमो । (सत्यादि २०)

८०५—सच्चे तत्थ करेज्जु वक्कमं । (सत्यादि ९)

८०६—सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति । (सत्यादि १०)

८०७—सच्चंमि धिइं कुव्वहा । (सत्यादि २)

८०८—सज्झायंमि रओ सया । (ज्ञान १८)

८०९—सड्ढी आणाए मेहावी । (महापुरुष १)

८१०—सत्त भयट्ठाणा, इह लोग भए, पर लोग भए, आदाण भए, अकम्हा भए, वेयणा भए, मरण भए, असिलोग भए । (प्रकी. ४५)

८११—सत्त विहे आउ भेदे, अज्झवसाण, निमित्ते, आहारे, वेयणा, पराघाए, फासे, आणापाणू । (प्रकी. ४६)

८१२—सत्तविहे वयण विकप्पे, आलावे, अणालावे, उल्लावे, अणुल्लावे, संलावे, पलावे, विप्पलावे । (सत्यादि ४७)

८१३—सत्ता कामेसु माणवा । (काम १७)

८१४—सत्ता कामे हि माणवा । (बाल २७)

७९९—जैसे शक्र (इन्द्र) देवताओं का अधिपति होता है, वैसे ही बहुश्रुत विद्वान् भी (जनता में प्रमुख) होता है ।

८००—प्रत्यक्ष रूप से तप की ही विशेषता निश्चयपूर्वक देखी जाती है, किसी भी जाति की विशेषता नहीं देखी जाती है ।

८०१—कर्म बीज सहित होता हुआ और विवश अवस्था में पड़ा हुआ प्रत्येक आत्मा सुन्दर अथवा पापकारी परभव को जाता है ।

८०२—(प्रत्येक आत्मा) कर्म के कारण से ही विपरीत स्थिति को प्राप्त होता है ।

८०३—सत्य के पालन उपस्थित मेधावी ही कामदेव को जीतता है ।

८०४—जिससे पाप का आगमन होता हो, तो सत्य होती हुई भी ऐसी वाणी नहीं बोलना चाहिये

८०५—सत्य हो, उसी में पराक्रम बतलाओ ।

८०६—(महापुरुष) सत्य युक्त निर्दोष वाणी को ही बोलते हैं ।

८०७—सत्य में ही बुद्धि को संयोजित करो ।

८०८—सदैव स्वाध्याय में ही रत रहो ।

८०९—मेधावी आज्ञा-पालन में ही श्रद्धाशील होता है ।

८१०—सात भय स्थान कहे गये हैं :—इस लोक का भय, परलोक का भय, चोरी का भय, अकस्मात् पैदा होनेवाला भय, वेदना भय, मृत्यु भय और अपकीर्ति का भय ।

८११—सात प्रकार से आयु टूटती है :—संकल्प विकल्प से; निमित्त कारण से, आहार से, वेदना से, पराघात से, स्पर्श से और श्वासोच्छ्वास से ।

८१२—सात प्रकार के वचन विकल्प हैं :—आलाप, अनालाप, उल्लाप, अनुल्लाप, संलाप, प्रलाप और विप्रलाप ।

८१३—मानव समाज काम भोगों में आसक्त है ।

८१४—मनुष्य काम-भोगों में निश्चय ही आसक्त है ।

८१५—सत्थार भत्ती अणु वीइ वायं। (कर्त्तव्य २०)

८१६—सद्दहइ जिणभिहियं सो धम्म रुइ। (धर्म ३१)

८१७—सद्दहणा पुणरा वि दुल्लहा। (दुर्लभ ३)

८१८—सदा जए दंते, निव्वाणं संधए मुणी। (श्रमण-भिक्षु ३२)

८१९—सद्दाणु गासाणु गए य जीवे, चराचरे हिंसइ ऽणेग रूवे।
(भोग ४)

८२०—सद्देसु जो गिद्धि मुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
(योग १७)

८२१—सद्धा परम दुल्लहा। (दुर्लभ ४)

८२२—सन्ती सन्तिकरो लोए। (प्रा. मं. ३)

८२३—सन्नाइह काम-मुच्छिया, म हं जंति नरा असंवुडा।
(काम २५)

८२४—सप्पहासं विवज्जए। (अनिष्ट १९)

८२५—सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे।
(प्रशस्त ११)

८२६—सम्म दिट्ठि सया अमूढे। (दर्शन ८)

८२७—समत्त दंसी न करेइ पावं। (दर्शन १)

८२८—समता सव्वत्थ सुव्वते। (क्षमा ७)

८२९—समयाए समणो होइ, बम्भ चेरेण बम्भणो।
(श्रमण-भिक्षु २४)

८३०—समया सव्व भूएसु, सत्तु मित्तेसु वा जागे। (उपदेश ७६)

८३१—समयं गोयम ! मा पमायए। (उपदेश २)

८३२—समयं तत्थु वेहाए अप्पाणं विप्पसायए। (कर्त्तव्य १०)

८१५—आचार्य की भक्ति विचारपूर्वक वाणी में रही हुई है।

८१६—जिन वचनों में श्रद्धा करना, यही धर्म रुचि है।

८१७—पुन: पुन: श्रद्धा प्राप्त होना दुर्लभ है।

८१८—सदा जितेन्द्रिय और संयमशील होता हुआ मुनि निर्वाण की साधना करे।

८१९—शब्दों के विषय में आसक्त जीव अनेक प्रकार से त्रस स्थावर जीवों की हिंसा करता है।

८२०—जो शब्दो में तीव्र गृद्धि भाव रखता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है।

८२१—श्रद्धा परम दुर्लभ है।

८२२—शान्तिनाथ इस लोक में शान्ति करनेवाले हैं।

८२३—यहां पर काम-भाग में मूर्च्छित और आहार आदि संज्ञावाले पुरुष आश्रव सहित होते हुए मोह को प्राप्त होते हैं।

८२४—हंसीवाली (पाप क्रिया को) छोड़ दो।

८२५—जिन भगवान का कहा हुआ मार्ग ही सच्चा मार्ग ह, और यही उत्तम मार्ग है।

८२६—सम्यक् दृष्टि सदैव अमूढ़ होता है।

८२७—सम्यक्त्वदर्शी पाप नहीं करता है।

८२८—सुव्रती सर्वत्र समता रक्खे।

८२९—समता से ही श्रमण होता है और ब्रह्मचर्य से ही ब्राह्मण होता है।

८३०—संसार में शत्रु अथवा मित्र, सभी प्राणियों पर समता भाव रक्खो।

८३१—हे गौतम ! समय भर का भा प्रमाद मत करो।

८३२—(अवांछनाय पदार्थों के प्रति) उपेक्षा के साथ समता धर्म के अनुसार अपनी आत्मा को प्रफुल्लित करो।

८३३—समयं सया चरे । (क्षमा ८)

८३४—सम सुह दुक्ख सहे अ जे स भिक्खू । (श्रमण-भिक्षु २)

८३५—समाहि कामे समणे तवस्सी । (तप १३)

८३६—समियं ति मन्न माणस्स समिया, वा असमिया वा समिआ होइ । (दर्शन ५)

८३७—समुप्पेह माणस्स इक्कायवण रयस्स, इह विप्पमुक्कस्स नत्थि मग्गे विरयस्स । (सद्‌गुण १९)

८३८—समो निन्दा पसंसासु तहा माणावमाणओ । (प्रशस्त १६)

८३९—सया सच्चेण संपन्ने मित्तिं भूएहिं कप्पए । (सत्यादि २३)

८४०—सयं सयं पसंसन्ता, गरहंता परं वयं, संसारं ते विउस्सिया । (बाल ३८)

८४१—सरीर माहु नावत्ति जीवो वुच्चइ नाविओ । (योग १५)

८४२—सल्लं कामा विसं कामा कामा आसी विसोवमा । (काम ७)

८४३—सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं । (प्रशस्त ५)

८४४—सव्वओ पमत्तस्स भयं । (भोग १४)

८४५—सव्वओ संवुडे दंते, आयाणं सु समाहरे । (तप ८)

८४६—सव्वत्थ विणीय मच्छरे । (कर्त्तव्य १७)

८४७—सव्वत्थ विरतिं कुज्जा । (सद्‌गुण, १७)

८४८—सव्वत्थ विरतिं कुज्जा । (उपदेश ७४)

८३३—सदैव समता का आचरण करो।

८३४—जो सुख दुःख सहने में समभाव रखता है, वही भिक्षु है।

८३५—जो श्रमण समाधि की कामना करता है; वही तपस्वी है।

८३६—सम्यक् दृष्टि आत्मा के लिये सत्य और असत्य सभी सत्य रूप से ही परिणित हो जाया करता है।

८३७—विवेकपूर्वक देखने वाले के लिये, ज्ञान आदि गुणों में प्रवृत्ति करने वाले के लिये, आश्रव रहित के लिये, और व्रतधारी के लिये, (संसार में घूमने का और अधिक) मार्ग नहीं रह जाता है।

८३८—निन्दा और प्रशंसा में तथा मान और अपमान में समभाव वाला होओ।

८३९—सदा सत्य से संपन्न होते हुए प्राणियों के साथ मैत्री भाव रक्खो।

८४०—अपनी अपनी ही प्रशंसा करनेवाले और दूसरे के वचनों की निन्दा करनेवाले; ऐसे वे मूर्ख संसार में डूबे हुए ही होते हैं। वे मिथ्या पक्षपाती ही हैं।

८४१—शरीर तो नाव कही गई है और जीव "नाविक" कहा गया है।

८४२—ये काम-भोग शल्य के समान है, विष के समान हैं और विष वाले सर्प के समान हैं।

८४३—जो सभी प्रकार से अप्रमत्त है, उसके लिये भय नहीं है।

८४४—प्रमादी के लिये सभी ओर से भय है।

८४५—सभी तरह से संव्रतशील होता हुआ, संयमी आदान समिति का भलीभांति आचरण करे।

८४६—सर्वत्र ईर्षा-मत्सर भाव को हटा दो।

८४७—सर्वत्र विरति करो।

८४८—सब जगह विरति (संवर-निर्जरा) का आचरण करो।

८४९—सव्व धम्माणु वत्तिणो देवेसु उववज्जई।
(महापुरुष ३८)

८५०—सव्व मणागय मद्धं चिट्ठंति सुहं पत्ता। (मोक्ष ७)

८५१—सव्व लोयंसि जे कामा तं विज्जं परिजाणिया।
(काम ३२)

८५२—सव्व संग विनिम्मुक्को सिद्धे भवइ नीरए। (मोक्ष ५)

८५३—सव्व संगावगए अ जे स भिक्खू। (श्रमण १०)

८५४—सव्वारम्भ परिच्चागो निम्ममत्तं। (अपरिग्रह १)

८५५—सव्विंदियाभि निव्वुडे पयासु। (शील २२)

८५६—सव्वे अणट्ठे परिवज्जयंते, अणाउले या अकसाइ भिक्खू।
(श्रमण-भिक्षु १२)

८५७—सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा।
(उपदेश ५१)

८५८—सव्वे पाणा पियाउया। (अहिंसा ६)

८५९—सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया, उवमा न विज्जए। (मोक्ष २)

८६०—सव्वेसिं जीवियं पियं। (अहिंसा ७)

८६१—सव्वेसु काम जाएसु पासमाणो न लिप्पई ताई।
(महापुरुष २५)

८६२—सव्वेहिं भूएहिं दयाणु कंपी, खंतिक्खमे संजय बंभयारी
(अहिंसा १७)

८६३—सव्वं अप्पे जिए जियं। (आत्म १०)

८४९—विविध धर्म-मार्ग का अनुसरण करनेवाला देवताओं में उत्पन्न होता है।

८५०—(मुक्त आत्माऍ) सभी सुख प्राप्त करती हुई अनागत मार्ग में (शाश्वत् स्थान में) स्थित हो जाती हैं।

८५१—सम्पूर्ण संसार में जो काम-भोग हैं, उनको पंडित पुरुष भली-भांति समझे।

८५२—सभी प्रकार के संग से विनिर्मुक्त होती हुई सिद्ध आत्मा रज रहित (सर्वथा कर्म रहित) हो जाती हैं।

८५३—जो सभी प्रकार की संगति से दूर है, वही भिक्षु है।

८५४—सभी प्रकार के आरम्भ का परित्याग करना ही निर्ममत्व है।

८५५—स्त्रियों से सभी इन्द्रियों द्वारा अभिनिवृत्त (दूर ही) रहना चाहिये।

८५६—सभी अनर्थों को छोड़ता हुआ, आकुलता रहित होता हुआ भिक्षु कषाय रहित होवे।

८५७—सभी आभूषण भार रूप हैं और सभी काम-भोग दुःख का लानेवाले हैं।

८५८—सभी प्राणियों को अपनी आयु (जीवन) प्रिय है।

८५९—(मोक्ष-वर्णन में) सभी स्वर (शब्द) शक्ति हीन हो जाते हैं, तर्क वहाँ प्रवेश नहीं कर सकता है, बुद्धि वहाँ अग्राहिका हो जाती है और कोई उपमा भी उसके लिये विद्यमान नहीं है।

८६०—सभी प्राणियों को अपना जीवन प्यारा है।

८६१—मोक्ष में जाने की इच्छावाला सभी काम-विषयों को देखता हुआ उनमें लिप्त नहीं होता है।

८६२—सभी भूतों के साथ (जीवों के साथ) दया वाला और अनुकम्पा वाला होता हुआ संयमी ब्रह्मचारी और क्षमाशील होवे।

८६३—आत्मा को जीत लेने पर सब कुछ जीता हुआ ही है। (सब पर विजय प्राप्त की जा चुकी है।

८६४—सव्व जगं तू समयाणुपेही । (उपदेश ८)

८६५—सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं । (लाभ १६)

८६६— सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडम्बियं ।
(बाल ३२)

८६७—सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं । (कर्तव्य २)

८६८—सातागार वणिहुए, उवसंते णिहे चरे । (उपदेश ८८)

८६९—सादियं ण मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमओ ।
(सत्यादि २८)

८७०—सामण्णं दुच्चरं । (श्रमण-भिक्षु ४२)

८७१—सामाइएणं सावज्ज जोग विरइं जणयइ । (तप १६)

८७२—सामाइय माहु तस्स जं, जो अप्पाणं भए ण दंसए ।
(चारित्र ६)

८७३—सारीर माणसा चेव, वेयणा उ अणंतसो ।(संसार ६)

८७४—सावज्ज जोगं परिवज्जयंतो, चरिज्ज भिक्खू सुसमाहि इंदिए । (योग १८)

८७५—सावज्जं न लवे मुणी । (सत्यादि ३३)

८७६—सासय मव्वा बाहं चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता ।
(मोक्ष १३)

८७७—सासयं परिणिव्वुए । (प्रशस्त २०)

८७८—सिक्खं सिक्खेज्ज पंडिए । (सद्गुण १६)

८६४—(हे आत्मज्ञ !) सम्पूर्ण संसार के प्रति तू समतापूर्वक देखने वाला हो।

८६५—सभी (कौटुम्बिक प्राणी) तुम्हारी रक्षा करने के लिए अपर्याप्त हैं—असमर्थ है, और तुम भी उनकी रक्षा करने के लिये समर्थ नहीं हो।

८६६—सभी प्रकार के गायन विलाप स्वरू। सभी प्रकार के नृत्य-खेल विडम्बना रूप हैं।

८६७—सभी सुकृत्य मनुष्यों के लिये (अच्छा) फल लाने वाले होते हैं।

८६८—सुख शीलता युक्त होता हुआ, क्रोध नहीं करता हुआ एवं माया प्रपंच रहित होता हुआ विचरे।

८६९—झूठ (से शुरु होने) वाला वाक्य नहीं बोले, यही जितेन्द्रिय वालों का धर्म है।

८७०—श्रमण-धर्म का आचरण करना अति कठिन है।

८७१—सामायिक से सावद्य-योग की विरति होती है।

८७२—जो (महात्मा) अपनी आत्मा के लिये किसी भी प्रकार का भय नहीं देखता है, यही उसके लिये सामायिक कही गई है।

८७३—(इस संसार में) शरीर सम्बन्धी और मन सम्बन्धी अनन्त प्रकार की वेदनाएं हैं।

८७४—सावद्य-योग का परित्याग करता हुआ और इन्द्रियों पर सुसमाधि वाला होता हुआ भिक्षु विचरे।

८७५—मुनि सावद्य (पापकारी) नहीं बोले।

८७६—(मुक्त जीव) शाश्वत् अव्याबाध सुख को प्राप्त करके सुखी रूप से स्थित हैं।

८७७—(हे उच्च पुरुषों !) शाश्वत् रूप से परिनिवृत्त होओ।

८७८—पंडित पुरुष व्याकरण आदि विद्या का अध्ययन करें।

८७९—सिद्धाणं सोक्खं अव्वा बाहं। (मोक्ष १२)

८८०—सिद्धो हवइ सासओ। (मोक्ष ६)

८८१—सीयंति अबुहा। (बाल १८)

८८२—सीयन्ति एगे बहु कायरा नरा। (बाल ३६)

८८३—सोहे मियाण पवरे, एवं हवइ बहुस्सुए। (ज्ञान १४)

८८४—सुअ लाभे न मज्जिज्जा। (कषाय २०)

८८५—सुई धम्मस्स दुल्लहा। (दुर्लभ २)

८८६—सुत्ता अमुणी, सया मुणिणो जागरंति। (सात्विक १५)

८८७—सुदुल्लहं लहिउं बोहि लाभं, विहरेज्ज। (दुर्लभ १६

८८८—सुद्धेण उवेति मोक्खं। (मोक्ष ३)

८८९—सुद्धे सिया जाए न दूसएज्जा। (श्रमण-भिक्षु-३६)

८९०—सुपरिच्चाई दमं चरे। (कर्त्तव्य १९)

८९१—सुबंभचेरं वसेज्जा। (शील ६)

८९२—सुय महिट्ठिज्जा उत्तमट्ठ गवेसए। (ज्ञान १७)

८९३—सुयस्स आराहणयाए अन्नाणं खवेइ, न य संकिलिस्सइ। (उपदेश ८०)

८९४—सुयस्स पुण्णा विउलस्स ताइणो, खवित्तु कम्मं गइ मुत्तमं गया। (ज्ञान १९)

८९५—सुव्वते समिते चरे। (महापुरुष ३५)

८९६—सुविणी अप्पा दीसंति सुह मेहंता। (सात्विक ४)

८७९—सिद्ध आत्माओं का सुख अव्याबाध (निरन्तर बाधा रहित) होता है ।

८८०—सिद्ध प्रभु शाश्वत् (नित्य, अक्षय) होते हैं ।

८८१—अज्ञानी, मूर्ख दुःखी होते हैं ।

८८२—अनेकानेक मनुष्य कायर होते हुए दुःखी होते हैं ।

८८३—जैसे सिंह मृगों में श्रेष्ठ होता है; वैसे ही बहुश्रुत व्यक्ति (जनता में श्रेष्ठ) होता है ।

८८४—(आत्म-हितैषी) ज्ञान प्राप्त हो जाने पर अहंकार नहीं करे ।

८८५—धर्म सुनने का प्रसंग मिलना दुर्लभ है ।

८८६—अमुनि सोये हुए हैं और मुनि सदैव जागृत हैं ।

८८७—(सेवा व्रती)सुदुर्लभ बोधि लाभ की प्राप्ति के लिये (सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के लिये) विचरे । (ज्ञान-प्राप्ति का प्रयत्न करे) ।

८८८—शुद्ध आत्मा (कर्म रहित आत्मा) मोक्ष को प्राप्त करती है ।

८८९—परोपकारी अच्छी तरह से शुद्ध होता हुआ समय व्यतीत करे और दूषित नहीं होवे ।

८९०—सुपरित्यागी इन्द्रिय-दमन रूप धर्म का आचरण करे ।

८९१—सुब्रह्मचर्य रूप धर्म में (ब्रह्मचारी) रहे। (ब्रह्मचर्य का पालन करे)

८९२—श्रुत-शास्त्र का अध्ययन करके (ज्ञान में सुस्थित हो करके) उत्तम अर्थ की (मोक्ष की) गवेषणा करे; (अनंतता की) खोज करे ।

८९३—जो श्रुत-ज्ञान की आराधना से अज्ञान का नाश करता है; वह संक्लेश नहीं प्राप्त करेगा ।

८९४—विपुल श्रुत ज्ञान से पूर्ण, स्वपर रक्षक महात्मा कर्म को क्षय करके उत्तम गति को प्राप्त हुए हैं ।

८९५—सुव्रती समितियों का परिपालन करता हुआ विचरे ।

८९६—सुविनीत आत्मा सुख प्राप्त करती हुई देखी जाती है ।

८९७—सुस्सूसए आयरि अप्पमत्तो ।   (कर्त्तव्य ९)

८९८—सुहावहं धम्म धुरं अणुत्तरं धारेह निव्वाण गुणावहं महं ।
(धर्म. २७)

८९९—सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे, विउमंता पयहिज्ज संथवं ।
(कषाय २९)

९००—सूरा दृढ़ परक्कमा ।   (महापुरुष १४)

९०१—सेणे जह वट्टयं हरे, एवं आउखयंमि तुट्टई ।
(उपदेश ५८)

९०२—से यं खु मेयं ण पमाय कुज्जा ।   (प्रशस्त ९)

९०३—से सोयई मच्चु मुहोवणीए धम्मं अकाऊण परंमि लोए ।
(धर्म १९)

९०४—से हु चक्खू मणुस्साणं, जे कंखाए य अंतए ।
(महापुरुष ७

९०५—सोयं परिण्णाय चरिज्ज दंते ।   (उपदेश, ८५

९०६—संकट्ठाणं विवज्जए ।   (उपदेश २७

९०७—संगाम सीसे व परं दमेज्जा ।   (सद्‌गुण, १०

९०८—संघ नगर ! भद्दं, ते ! अखंड चारित्त पागारा ।
(प्रा. मं, १८

९०९—संघ पउमस्स भद्दं, समण गण सहस्स पत्तस्स ।
(प्रशस्त, २५

९१०—संजम-तव-तुंबा रयस्स, नमो सम्मत्त पारियल्लस्स ।
(प्रा, मं, १९

८९७—(शिष्य) अप्रमादी होता हुआ आचार्य की सेवा-भक्ति करे।

८९८—जो सुख का लानवाली है, अनुत्तर-श्रेष्ठ है और निर्वाण के गुणों को देनेवाली है, ऐसी महान् धर्म-धुरा को धारण करो।

८९९—विद्वान् "अति परिचय" को सूक्ष्म शल्य रूप और कठिनाई से दूर करने योग्य समझ कर उसे छोड़ दे, सम्बन्ध-विच्छेद कर ले।

९००—शरवीर दृढ़ पराक्रमशील होते हैं।

९०१—जैसे श्येन पक्षी (बाज पक्षी) बटेर को पकड़ लेता है, वैसे ही आयुष्य का क्षय होते ही यह जीवन टूट जाता है।

९०२—यह मेरे लिये निश्चय ही कल्याण कारी है, ऐसा समझ कर प्रमाद याने असत् आचरण नहीं करे।

९०३—जा बिना धर्म किये ही मृत्यु के मुख मे चला गया है, वह पर-लाक में दुःखा होता है।

९०४—वहा मनुष्यों के लिये चक्षु रूप है, ज्ञान रूप है, जो कि अभिला-षाओं का (इच्छाओं का) अंत करने वाला है।

९०५—संयमी निरवद्य आचार का ज्ञान करके तदनुसार आचरण करे।

९०६—शंका के स्थान को छोड़ दो।

९०७—जैसे संग्राम के अग्र भाग पर शत्रु का दमन किया जाता है, वैसे ही इन्द्रियों के विषयों का भी दमन करो।

९०८—अखंड चारित्र रूप प्राकार (कोट, गढ़) वाले हे श्री संघ रूप नगर! तुम्हारा कल्याण हो! मंगल हो!!

९०९—जिसके साधु साध्वी रूप हजारों पत्र हैं, ऐसे श्री संघ रूप कमल का भद्र हो, कल्याण हो, जय विजय हो।

९१०—संयम और तप ही जिसके मध्य भाग के गोल अवयव हैं, ऐसे सम्यक्त्व रूप चक्र वाले श्री. संघ को नमस्कार हो।

९११—संजया सुसमाहिया । (महापुरुष १६)

९१२—संतप्पती असाहु कम्मा । (अनिष्ट, १)

९१३—संतोष पाहन्न रए स पुज्जो । (महापुरुष १०)

९१४—संतो सिणो नोप करेंति पावं (लाभ, १२)

९१५—संबोही खलु दुल्लहा । (दुर्लभ ६)

९१६—संमिस्स भावं पयहे पयासु । (शाल १४)

९१७—संवेगेणं अणुत्तरं धम्म सद्धं जणयइ । (वैराग्य, २२)

९१८—संसरइ सुहा सहेहिं कम्मेहिं । (कर्म १०)

९१९—संसारो अण्णवो वुत्तो । (संसार ५)

ह

९२०—हम्ममाणो ण कुप्पेज्ज, वुच्चमाणो न संजले ।
(उपदेश ९)

९२१—हसंतो नाभिगच्छेज्जा । (उपदेश ६७)

९२२—हिंडंति भयाउला सढा, जाइ जरा मरणेहिं अभिदुता ।
(बाल १५)

९२३—हिरिमं पडि संलीणे सुविणीए । (महापुरुष, २०)

९२४—हिंसगं न मुसं वूआ । (सत्यादि ४३)

९२५—हिंसन्नियं वा ण कहं करेज्जा । (हिंसा ४)

९११—संयमी सुसमाधि वाले होते हैं।

९१२—असाधुकर्मी (दुष्ट काम करने वाला) महान् ताप भोगता है।

९१३—जो सर्वोच्च संतोष से अनुरक्त है, वही पूजनीय है।

९१४—संतोषी महापुरुष पाप नहीं करते हैं।

९१५—संबोधि याने सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दृष्टि निश्चय ही दुर्लभ है।

९१६—स्त्रियों के प्रति संमिश्र भाव को (चल विचल भावों को) छोड़ दो।

९१७—संवेग भावना से— (वैराग्य भावना से) श्रेष्ठ धर्म रूप श्रद्धा उत्पन्न होती है।

९१८—शुभ कामों से साता रूप सुख-शांति प्रवाहित होती हैं।

९१९—संसार (एक प्रकार का) समुद्र कहा गया है।

ह

९२०— (कर्त्तव्य शील पुरुष) मारा जाता हुआ भी क्रोध नहीं करे, तथा गाली आदि का उच्चारण किया जाता हुआ भी द्वेष नहीं लावे।

९२१—हंसता हुआ नहीं चले।

९२२—शठ पुरुष जन्म, जरा और मृत्यु से पीड़ित होते हुए, एवं भय से व्याकुल होते हुए संसार समुद्र में चक्कर लगाया करते हैं।

९२३—लज्जा वाला और एकान्त वासी जितेन्द्रिय पुरुष "सु विनीत" होता है।

९२४—हिंसा पैदा करने वाला झूठ मत बोलो।

९२५— (आत्म हितैषी) हिंसा को पैदा करने वाली कथा करे नहीं।

★

परिशिष्ट संख्या २

पारिभाषिक-शब्द

सूची

—·**00**·—

जिन शब्दों की परिभाषा और व्याख्या "अकार आदि क्रम" से आगे दी है; उन शब्दों की अकार आदि क्रम से

सूची

—*०*—

नोट:—कुल शब्द संख्या २४६ है

परिशिष्ट संख्या ३

टीका में आये हुए पारिभाषिक और आवश्यक शब्दों की अकार आदि क्रम से व्याख्या, टिप्पणी और अर्थ ।

अ

१—अकाम निर्जरा

(१) निष्काम या अनियाणा वाली निर्जरा। अर्थात् किसी भी प्रकार के फल अथवा बदले की भावना और इच्छा नहीं रखते हुए एकान्त आत्म हित के लिये की जाने वाली तपस्या और सेवा कार्य आदि।

(२) अनिच्छा पूर्वक सहा जाने वाला कष्ट भी जैन दर्शन में "अकाम-निर्जरा" कहलाता है।

२—अणगार

साधु अथवा महापुरुष, जो किसी भी प्रकार का परिग्रह नहीं रखता हो एवं अहिंसा, सत्य, अचार्य, ब्रह्मचर्य और निष्परिग्रह आदि व्रतों का मन, वचन और काया से परिपूर्ण रीति से पालन करन वाला हो।

३—अतिचार

ऐसी सामग्री इकट्ठी करना अथवा ऐसा परिस्थिति पैदा करना, जिससे कि लिये हुए व्रत में आर ग्रहण किये हुए त्याग में दाष पैदा होने की संभावना हो, अथवा अंश रूप से दोष पैदा हो गया हो।

४—अधर्मास्ति काय

जिन छः द्रव्यों से यह संपूण ब्रह्मांड अथवा लोकाकाश बना है, उनमें से एक द्रव्य। यह द्रव्य जावां का आर पुद्गलों को "उनकी ठहरने की स्थिति" में ठहरने के लिये मदद करता है।

५—अनार्य

मनुष्यों की ऐसी जाति, जिनमें मद्य, मांस, शिकार आदि व्यसनों की भरमार हो और जो दया, सत्य आदि में धर्म नहीं मानते हों।

६—अनासक्ति

नीति और कर्त्तव्य की ओर पूरा पूरा ध्यान देते हुए जीवन में कुटुम्ब, परिग्रह, यश, सन्मान और अपने कार्य में जरा भी माह ममता नहीं रखना तथा किसी भी प्रकार से प्रतिफल की भावना नहीं रखना।

७—अनुकंपा

सताये जाते हुए और मारे जाते हुए, पीड़ित प्राणी के प्रति दया लाना।

८—अनुभाव

प्रत्येक जीव में होने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ के कारण जीव के साथ बंधने वाले कर्मों में फल देने की जो शक्ति पैदा होती है, वह अनु-भाव है।

९—अनुभूति

परिस्थितियों से और काल-क्रम से पैदा होने वाला ज्ञान। पांचों इन्द्रियों और मन से उत्पन्न होने वाला अनुभव रूप ज्ञान।

१०—अनुमान

कारणों को देखकर अथवा जानकर उनके आधार से मूल कार्यों का ज्ञान कर लेना। जैसे धुंऐ द्वारा दूर से ही आग का होना जान लेना।

११—अनंत

जिसकी कोई सीमा नहीं हो, अथवा जिसका तीनों काल में भी अन्त नहीं आवे। अनन्त के तीन भेद हैं :— १ जघन्य अनन्त, २ मध्यम अनन्त और ३ उत्कृष्ट अनन्त।

१२—अप्रतिपाति दर्शन

ईश्वर, आत्मा, पाप, पुण्य आदि धार्मिक सिद्धान्तों के प्रति पूर्ण विश्वास रखना "दर्शन" है, और ऐसा दर्शन प्राप्त होकर फिर कभी भी नष्ट न हो, मोक्ष के पाने तक बराबर बना रहे, वह अप्रतिपाति दर्शन है।

१३—अविनाभाव संबंध

दो पदार्थों का अन्योन्याश्रय-संबंध, पारस्परिक संबंध, अर्थात् एक के होने पर दूसरे का होना, दूसरे के नहीं होने पर पहले का भी नहीं होना। अग्नि और धुंए का "अविनाभाव संबंध" कहलाता है।

१४—अभक्ष्य

ऐसे पदार्थ जो अहिंसा प्रेमी के खाने पीने के योग्य नहीं होते हैं, वे अभक्ष्य हैं।

१५—अमूढ़

जो आत्मा विवेक और ज्ञान के बल पर अपनी इन्द्रियों और मन को विषय, विकार से हटा लेता ह और निष्कपट रीति से जीवन के व्यवहार को चलाता है, वह "अमूढ़" कहलाता है।

१६—अमूर्त्त

जिन द्रव्यों में रूप, रस, गंध, स्पर्श, नहीं पाया जाता है।

१७—अरति

क्रोध, मान, माया, लाभ और ईर्षा द्वेष के कारण से किसी पर भी घृणा, धिक्कार, बेपर्वाही, अरुचि आदि के भाव होना "अरति" है।

१८—अरिहंत

जिनकी आत्मा पूर्ण विकास कर चुकी है, जो अखंड और परिपूर्ण ज्ञान को प्राप्तकर चुके हैं; जा ईश्वर रूप हो चुके हैं, ऐसे असाधारण महात्मा "अरिहंत' हैं। जैन-परिभाषा के अनुसार जिन्होंने चार कर्मों का सर्वथा जड़ मूल से नाश कर दिया है, वे "अरिहंत" हैं।

१९—अरूपी

जो वर्ण से, गंध से, रस से और स्पर्श से रहित है।

२०—अलोक

सम्पूर्ण ब्रह्मांड का वह अनन्त और असीम शून्य स्थान, जहाँ कि जीव, पुद्गल आदि कोई द्रव्य नहीं है। इसे अलोकाकाश भी कहते हैं।

२१—अवधिज्ञान

ज्ञान का वह रूप है, जो कि आत्मा की शक्ति के आधार से ही इन्द्रियों और मन की सहायता नहीं लेते हुए भी कुछ मर्यादा के साथ तीनों काल के रूपी पुद्गलों को जान सके-समझ सके।

२२—अव्रत

किसी भा प्रकार का त्याग, प्रत्याख्यान अथवा मर्यादा नहीं करना।

२३—अविवेको

समय, स्थान और परिस्थिति एवं मर्यादा का ध्यान नहीं रखते हुए बेपर्वाही के साथ कार्य करनेवाला।

२४—अशुभ-योग

मन को बुरे विचारों में लगाना, भाषा को कषाय वाला रूप देना, और शरीर को आलस्य, प्रमाद और व्यर्थ के कामों में तथा क्लेशकारी कामों में लगाना। मन-योग, वचन-योग और काया-योग इस प्रकार इसके तीन भेद हैं।

२५—असंयमी

जिसका अपनी इन्द्रियों और मन पर काबू नहीं हो और जिसका जीवन-व्यवहार किसी भी प्रकार की नैतिक मर्यादा से बंधा हुआ नहीं हो, ऐसा प्राणी "असंयमी" है।

२६—असंविभागी

दूसरों के सुख-दुख का और हित अहित का ख्याल नहीं रखनेवाला। एकान्त स्वार्थी।

आ

१ आकाश—

जीवों को, पुद्‌गलों का, पदार्थों को ठहरने के लिये स्थान देने वाला द्रव्य। मूल में यह शून्य रूप है, निराकार है और केवल शक्ति स्वरूप है। अखिल ब्रह्मांड व्यापी है, संपूर्ण लोक अलोक में फैला हुआ है।

२—आगम

अरिहंतो के प्रवचन को, गणधरों के ग्रंथों का और पूर्वधर आचार्यों के साहित्य का आगम कहा जाता है। मोटे रूप में शास्त्रों को, सूत्रों को आगम कहा जाता है।

३—आचार्य

साधु-साध्वियों को सुनिश्चित परम्परा के अनुसार संचालन करने वाले नेता, अथवा विशेष शास्त्रों के महान् ज्ञाता, असाधारण उद्‌भट विद्वान् पुरुष ।

४—आत्मा

चेतना वाला द्रव्य, अथवा जीव । ज्ञान-शील पदार्थ ही आत्मा है ।

५—आत्यंतिक

"अत्यंत" का ही विशेषण रूप "आत्यंतिक" है । अर्थात् अत्यंत वाला ।

६—आध्यात्मिक

"आत्मा" से संबंध रखने वाले सिद्धान्तों और बातों का एक पर्याय वाचा विशेषण ।

७—आर्त्त-ध्यान

शोक करना, चिन्ता करना, भय करना, रोना, चिल्लाना, सांसारिक सुख और धन-वैभव का ही चिन्तन करते रहना ।

८—आरंभ

सांसारिक-सुख-सुविधा बढ़ाने के लिये, वैभव का सामग्री इकट्ठी करने के लिये विविध प्रकार का प्रयत्न करना । अथवा ऐसे काम करना, जिनसे जीवों की हिंसा की सम्भावना हो ।

९—आर्य

मनुष्यों में ऐसी श्रेष्ठ जाति, जो कि दया, दान, पुण्य, पाप, आत्मा, ईश्वर आदि धार्मिक सिद्धान्तों में पूरी तरह से श्रद्धा रखते हुए मद्य, मांस, जुआ, शिकार आदि व्यसनों से और अभक्ष्य पदार्थों से परहेज करती हो । सात्विक और नैतिक प्रवृत्ति वाली मनुष्य-जाति ।

१०—आराधना

शास्त्रों के वचनों के अनुसार चलना; वैसा ही व्यवहार जीवन में रखना ।

११—आलोचना

ग्रहण किये हुए व्रतों में दोष लग जाने पर, भूल भरी बातें हो जाने पर, व्रत के विरुद्ध आचरण हो जाने पर गुरु के समक्ष अथवा आदरणीय बन्धु के समक्ष ईश्वर की साक्षी से दोषों का, भूलों का, विरोधी-आचरण का स्पष्ट रीति से बयान करना और क्षमा मांगना।

१२—आश्रव

मन, वचन और काया की प्रवृत्ति से "कर्म" नाम से बोले जाने वाले सूक्ष्म से सूक्ष्म पुद्गल-वर्गणाओं का आत्मा के साथ दूध पानी की तरह संबंधित होने के लिये आत्म-प्रदेशों की ओर आना आश्रव है। शुभ-प्रवृत्ति से शुभ-आश्रव होता है और अशुभ-प्रवृत्ति से अशुभ-आश्रव होता है।

१३—आसक्ति

मोह को, ममता को, गृद्धि-भाव को आसक्ति कहते हैं। किसी पदार्थ के प्रति मूर्च्छित होना; अपने अच्छे कामों का फल चाहना।

१४—आस्तिकता

पाप, पुण्य, पुनर्जन्म, आत्मा, ईश्वर, दया, दान, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि सिद्धान्तों में और धार्मिक क्रियाओं में पूरा पूरा विश्वास रखना।

१५—आसातना

अविनय करना; अनादर करना; उपेक्षा करना।

इ

१—इच्छा

इन्द्रियों और मन की अतृप्त भावना। तृष्णा मय आकांक्षा। विषय और विकार के प्रति रुचि होना।

२—इन्द्रिय

आंख, कान, नाक, मुंह और शरीर-इन पांचों का सम्मिलित नाम इन्द्रिय है।

उ

१—उपभोग

ऐसे पदार्थ जो एक से अधिक बार भोगे जा सकें, जैसे कि वस्त्र, मकान आभूषण, आदि ।

२—उपयोग

"ज्ञान और दर्शन" का सम्मिलित अर्थ । जानने, अनुभव करने, सोचने समझने की शक्ति । आत्मा का मूल लक्षण उपयोग ही है ।

३—उपसर्ग

ग्रहण किये हुए व्रतों के परिपालन के समय में आने वाले हर प्रकार के कष्ट; ये कष्ट चाहे प्राकृतिक हों अथवा देव-मनुष्य कृत हों अथवा पशु कृत हों ।

४—उपाधि

(१) कष्ट, क्लेश, अथवा परिग्रह रूप संग्रह (२) पदवी, खिताब ।

ऋ

१—ऋषि

ऐसे संत ज्ञानी महात्मा, जो कि अपने ज्ञान बल से और चारित्र बल से भविष्य का ठीक ठीक अनुमान कर सकें आर दार्शनिक गहन सिद्धान्तों का सही रूप से अनुभव कर सकें ।

क

१—क्रोध

चार कषाय में से पहला कषाय, इसके कारण से आत्मा विवेक शून्य होकर बेभान हो जाता है । बोलने में और व्यवहार में पूरा पूरा अज्ञान छा जाता है । अपना भान भूलकर अविवेक के साथ क्लेशकारी तथा कटु वचन बोलना ही क्रोध है ।

२—कर्म

क्रोध, मान, माया और लोभ के कारण आत्मा के प्रदेशों पर जा एक कार का सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणुओं का पटल दूध पानी की तरह छा जाता और आत्मा को मलिन संस्कारों से आबद्ध कर देता है, ऐसे पुद्गलों से ने हुए वर्गणाओं का समूह।

३—कर्म—योगी

ज्ञानी और भक्त होने पर भी जो निरन्तर बिना किसी भी प्रकार के ल की इच्छा किये अपने कर्त्तव्य मार्ग पर आरूढ़ रहे तथा जीवन को र्मण्यता मय ही बनाया रक्खे, ऐसा पुरुष।

४—कषाय

क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्षा, द्वेष आदि की भावनाऐं कषाय हैं। षाय के १६ भेद हैं—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान माया, लोभ
अप्रत्याख्यानावरण " " " "
प्रत्याख्यानावरण " " " "
संज्वलन " " " "

५—कामना

इच्छा, आकांक्षा, सांसारिक भावना।

६—काम—भोग

स्त्री-पुरुष संबंधी मैथुन-भावनाऐं। ब्रह्मचर्य को तोड़ने संबंधी इच्छाऐं।

७—कायोत्सर्ग

मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को रोक कर चित्त की वृत्ति को किसी एक पर ही केन्द्रित करना, चित्त की वृत्ति को सुस्थिर करना।

८—काय—गुप्ति

शरीर के कामों को और प्रवृत्तियों को अशुभ मार्ग से हटा कर शुभ-मार्ग में लगाना, एवं प्राणीमात्र के हित में शारीरिक-शक्तियों को जोड़ना।

९—कार्य–कारण संबंध

एक की उत्पत्ति में अथवा संपादन में दूसरे का मुख्य रूप से सहायक होना, परस्पर में जन्य-जनक संबंध होना। उत्पन्न-उत्पादक संबंध होना, जैसे आटा और रोटी।

१०—काल

समय, छः द्रव्यों में से एक द्रव्य, द्रव्यों की पर्यायों के परिवर्तन में जो सहायक है। दिन, मास, वर्ष, पल्योपम, सागरोपम, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी आदि इसके ही भेद हैं। जैनाचार्यों ने "काल" को एक प्रदेशी ही माना है।

११—कूट शाल्मली वृक्ष

एक प्रकार का वृक्ष, जो कि हर प्रकार से कष्ट दायक होता है। इसकी उत्पत्ति नरक-स्थान में मानी जाती है।

१२—केवल ज्ञान

परिपूर्ण और अखंड ज्ञान। इस ज्ञान की प्राप्ति के बाद आत्मा "अरिहंत" अवस्था प्राप्त कर लेता है। इस ज्ञान के बल पर तीनों काल की घटनाओं का सही सही और पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। सभी द्रव्यों का और उनका सभी पर्यायो का परिपूर्ण स्वरूप इसके द्वारा जाना जा सकता है। ईश्वरीय ज्ञान ही केवल ज्ञान है।

ग

१—गणधर

जैन-धर्म के मुख्य संस्थापक तीर्थंकरों के अग्रगण्य शिष्य, साधु-समुदाय के मुख्य संचालक। ये तीर्थंकरों के प्रवचनों को, उपदेशों का, आज्ञाओं को व्यवस्थित रूप से संग्रहित करते हैं।

२—गृद्धि

पुद्गल संबंधी सुखों में, इन्द्रियों के भोग में, सांसारिक वासनाओं में और धन-वैभव, यश, पद-लोलुपता में एक दम मूर्च्छित हो जाना, मोह ग्रसित हो जाना और आत्म-भान भूल जाना।

३—ग्रंथि

मोह की गांठ, पदार्थों के प्रति मूर्च्छा-भावना, बाह्य और आभ्यंतरिक ममता, बाह्य ममता याने भौतिक-सुख का वांछा और आभ्यंतरिक ममता याने क्रोध, मान, माया और लाभ का खजाना।

४—गुप्ति

गोपना, मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्तियों को दूर कर शुभ-प्रवृत्तियों में संलग्न होना, मन, वचन और काया पर नियंत्रण करना।

५—गोचरी

गाय जैसे थोड़ा थोड़ा घास हर स्थान से चूंटती जाती है—खाती जाता है, वैसे ही थोड़ा थोड़ा आहार निर्दोष रीति से योग्य घरों मे लेना।

६—गोत्र कर्म

कर्म-वर्गणाओं का ऐसा समूह, जिसके बल पर सम्माननीय और असम्माननीय कुल की अथवा जाति की प्राप्ति हुआ करती है, जैसे कि सिंह और कुत्ते की जाति, आर्य और अनार्य का कुल।

घ

१—घन-घाती कर्म

जैन दर्शन में मूल आठ कर्म बतलाये गये हैं, उनमें से चार अघाती कर्म हैं और चार घन घाती कर्म हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म घन घाती हैं। नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय अघाती कर्म हैं। आत्मा के गुणों पर जो पूरा पूरा सघन और कठिन एवं दुष्परिहार्य पटल डाल देता है, गुणों को सर्वांग रूप से ढंक देता है, ऐसे कर्म-वर्गणा घनघाती कर्म हैं।

२—घ्राण–इन्द्रिय

प्राणियों की सूंघनें की शक्ति का नाम घ्राण इन्द्रिय है, यह कार्य नाक द्वारा होता है। पाँच इन्द्रियों में इसकी गणना तीसरे नम्बर पर है।

च

१—चतुर्विध संघ

साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका का सम्मिलित नाम "चतुर्विध संघ" है। चतुर्विध संघ की स्थापना श्री तीर्थकरों द्वारा की जाती है।

२—चारित्र

आचार्यों और महापुरुषों द्वारा स्थापित धार्मिक-सिद्धान्तों के अनुसार अच्छा आचरण ही चारित्र है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अममता के आधार पर किया जाने वाला अच्छा व्यहार ही चारित्र है। चारित्र पांच प्रकार का कहा गया है :— १ सामायिक, २ छेदोपस्थापनीय, ३ परिहार-विशुद्धि, ४ सूक्ष्म साम्परायिक, और ५ यथाख्यात।

३—चेतना

ज्ञान-शक्ति का नाम ही चेतना है। चेतना ही जीव का लक्षण है। चित्त का, मन का विकास ही चेतना है।

४—चौरासी लाख जीव-योनि।

जीवों के उत्पन्न होने का स्थान, जीवों के शरीर धारण करने का स्थान जीव-योनि कहलाता है। स्थानों की कुल संख्या चौरासी लाख कही गई है। वह इस प्रकार हैं :—

पृथ्वी काय (पृथ्वी के जीव-केवल शरीर वाले)	७ लाख
अपकाय (जल का पिण्ड रूप-केवल शरीर वाले)	७ लाख
तेउ काय (अग्निका पिंड रूप— " ")	७ लाख
वायु-काय (हवा के पिंड रूप— " ")	७ लाख
प्रत्येक वनस्पति काय— " ") (डाली-पौधे पर लगने वाले फल फूल)	१० लाख
साधारण वनस्पति काय (जमींकंद, आलू आदि)	१४ "
दो इन्द्रिय जीव (शरीर और मुंह वाले)	२ "

तीन इन्द्रिय जीव (शरीर, मुँह, नाक वाले)	२	लाख
चार इन्द्रिय " (शरीर, मुँह, नाक, आँख वाले)	२	"
देवता जीव (पांच इन्द्रिय वाले ऊपर की ४, कान)	४	"
तिर्यंच " (पशु, पक्षी, जलचर पांच इन्द्रिय वाले)	४	"
नारकी " (नरक के पांच इन्द्रिय वाले)	४	"
मनुष्य " (" ")	१४	"

ज

१—जघन्य

संख्या की दृष्टि से "कम से कम," ।
विशेषण की दृष्टि से "हलका, नीच" ।

२—जड़

ऐसे द्रव्य, जो कि ज्ञान से रहित हैं, अजीव तत्त्व । ये जड़ द्रव्य अथवा अजीव तत्त्व दो प्रकार के होते हैं, १ रूपी जड़ और २ अरूपी जड़ । जिनमें रूप, रस, गंध, स्पर्श, सडन, गलन, विध्वंसन आदि पाये जाते हैं; वे रूपी जड़ हैं । हमें जो कुछ भी दिखाई देते हैं, सभी रूपी जड़ द्रव्य हैं । इनका दूसरा नाम पुद्गल भी है । अरूपी जड़ में रूप रस, गंध, और स्पर्श आदि नहीं पाये जाते हैं, इनकी संख्या ४ है और ये चारों अखिल ब्रह्मांड व्यापी हैं । इनके नाम इस प्रकार है :—१धर्मास्तिकाय, २ अधर्मास्तिकाय, ३ आकाशास्तिकाय और ४ काल ।

३—जागरुकता

मन और इन्द्रियों को पाप से बचाने के लिये सदैव सावधान रहना । इन्द्रिय-वृत्ति पर और चित्त-वृत्ति पर प्रत्येक क्षण नियंत्रण रखना ।

४—जिन-शासन

जिन्होंने क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, काम वासना, विषय-विकार आदि सभी भीतरी शत्रुओं को सर्वथा जड़ मूल से हमेशा के लिये नाश कर दिया है और इन शत्रुओं की पुनः उत्पत्ति का जरा भी कारण बाकी जिनके नहीं रहा

है, एवं जिन्होंने पूर्ण और अखंड ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो जैन-भाषा में "अरिहंत" कहलाते हैं, उन्हें ही "जिन" कहा जाता है। ऐसे "जिन" का चलाया हुआ धर्म ही, इनकी आज्ञा ही "जिन-शासन" है।

५—जिनेन्द्र

"जिन-शासन" की उपरोक्त व्याख्या के अनुसार जिन्होंने राग द्वेष को पूरी तरह से जीत लिया है, ऐसे "जिनों" में, ऐसे "अरिहंतों" में जो तीर्थंकर हैं, चार प्रकार के संघ की स्थापना करने वाले हैं वे "जिनेन्द्र" कहलाते हैं। "अरिहंतों" में मुख्य। "जिनों" में मुख्य महापुरुष।

६—जीव

जिसमें ज्ञान है, अनुभव करने की शक्ति है, वह द्रव्य ही जीव है। नये नये शरीर धारण करता है, वही जीव है। ऐसे जीव संपूर्ण लोकाकाश में अनंतानंत और अपरिमित संख्या में सर्वव्यापी हैं। सभी जीवों में मूल रूप में समान ज्ञान, समान गुण, समान धर्म है। कर्म के कारण से विभिन्नता दिखाई देती है। प्रत्येक जीव असंख्यात प्रदेशी है।

७—जैन

जो "जिन" का आज्ञा और आदेश को मानता है, "जिन" द्वारा बतलाये हुए धर्म मार्ग पर चलता है, वही जैन कहलाता है। "जिन" की व्याख्या "जिन-शासन" में देखें।

त

१—तत्त्व

पदार्थों के अथवा द्रव्यों के मूल स्वरूप को तत्त्व कहा जाता है। वस्तु का यथार्थ स्वभाव ही उसका तत्त्व है। मुख्य रूप से नौ तत्त्व कहे गये हैं, वे इस प्रकार हैं :— १ जीव, २ अजीव, ३ पुण्य, ४ पाप, ५ आश्रव, ६ संवर, ७ निर्जरा ८ बंध और ९ मोक्ष।

२—तत्त्वदर्शी

तत्त्वों की तह में पहुँच जाने वाले महात्मा, तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप समझ लेने वाले ऋषि।

३—तदुत्पत्ति-संबंध

पिता-पुत्र के समान, बीज वृक्ष के समान, जिन वस्तुओं का परस्पर में एक की दूसरे से उत्पत्ति हो, उनका परस्पर में "तदुत्पत्ति संबंध" माना जाता है, जैसे कि दूध से दही।

४—तप

आत्मा को पवित्र करने के लिये, आत्मा के गुणों का विकास करने के लिए इन्द्रियों और मन के विकार को और दुर्भावनाओं को समूल नष्ट करने के लिये जो इच्छा पूर्वक कष्ट सहन किया जाता है, उसे तप कहते हैं। आयंबिल उपवास करना, सामायिक संवर करना, पर सेवा करना आदि अनेक भेद तप के कहे जा सकते हैं।

५—तर्क

कार्य-कारणों की खोज करना, परस्पर में वस्तुओं के संबंध का अनुसंधान करना, अनुमान नामक ज्ञान में सच्चाई तक पहुँचने के लिये विभिन्न बातों की खोज करना।

६—तादात्म्य संबंध

"आत्मा और ज्ञान" "अग्नि और उष्णता" "पुद्गल और रूप" इन दृष्टान्तों के समान जिनका परस्पर में अभिन्न, सहचर, मौलिक और एक स्वरूप संबंध होता है, वह तादात्म्य संबंध कहलाता है।

७—तामसिक

क्रोध आदि कषाय संबंधी, मोह आदि विकार संबंधी और हिंसा आदि दुष्कृत संबंधी विचार और क्रियाएँ "तामसिक" कही जाती हैं।

८— तिर्यंच-गति

जलचर प्राणी, आकाश में उड़ने वाले प्राणी, पशु, पक्षी आदि पंचेन्द्रिय और एकेन्द्रिय से लगाकर चतुरिन्द्रिय प्राणी-तिर्यंच गति के जीव कहे जाते हैं।

९—तृष्णा

विस्तृत पैमाने वाली इच्छाएं, अति लोभ मय दुर्भावनाएं, अतृप्त महान् आकांक्षाएं।

१०—तीर्थ

एक प्रकार का धर्म—मार्ग, जो कि तीर्थंकरों द्वारा स्थापित किया जाता है। साधु-साध्वी संस्था और श्रावक-श्राविका-संस्था भी कही जाती है। तीर्थ पवित्र स्थान को भी कहा जाता है।

तीर्थ एक प्रकार का उच्च धार्मिक मार्ग, जिसका अवलम्बन लेकर आत्मा अपना विकास कर सकती है।

११—तीर्थंकर

केवल ज्ञान, केवल दर्शन सम्पन्न वे महापुरुष जो कि साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप तीर्थ की स्थापना करते हैं। जैन-शासन और जैन-धर्म का विस्तृत रूप से संचालन करनेवाले। प्रत्येक उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणी काल में २४-२४ तीर्थंकर हुआ करते हैं। ऐसे आज दिन तक अनन्तानन्त तीर्थंकर हो चुके हैं और भविष्य में भी होंगे।

द

१—दर्शन

१ दार्शनिक सिद्धान्तों पर, धार्मिक आचरणों पर, और नैतिक बातों पर पूरा पूरा विश्वास करना "दर्शन" है। आत्मा, ईश्वर, पाप, पुण्य आदि के प्रति पूरा पूरा आस्तिक रहना "दर्शन" है।

२ किसी वस्तु का पूरा पूरा ज्ञान होने के पहले उस वस्तु सम्बन्धी साधारण आभास होना भी 'दर्शन कहा जाता है।

३ धर्म-विशेष के साथ भी जोड़कर इसके द्वारा विशेषता बतलाई जाती है, जैसे कि जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन, वैदिक दर्शन आदि।

४ "आदरपूर्वक देखने" के अर्थ में भी दर्शन का उपयोग किया जाता है।

२—दर्शन मोहनीय

यह एक महान् अनिष्ट और घातक कर्म है, जो कि आत्मा के धार्मिक विश्वास को और सिद्धान्तों के प्रति आस्तिकता को उत्पन्न नहीं होने देता है। अच्छी और उच्च बातों के प्रति उत्पन्न होनेवाले विश्वास का यह कर्म नाश करनेवाला है। इसके तीन भेद हैं :—१ सम्यक्त्व मोहनीय, २ मिश्र मोहनीय, ३ मिथ्यात्वमोहनीय।

आत्मा के उच्च विकास के लिये, याने परमात्मपद की ओर बढ़ने के लिये सब से पहले इसी कर्म का नाश करना पड़ता है, इसका नाश हो जाने पर ही चारित्र की प्रगति होना और गुणों का विकास होना शुरु हो जाता है।

३—दुर्भावना

खराब विचार, अनिष्ट चिन्तन। भय, चिन्ता, शोक, तृष्णा, क्रोध, झूरना आदि सभी दुर्भावनाएं ही हैं।

४—दुर्वृत्ति

खराब आदतें, हलका और तुच्छ स्वभाव, अनिष्ट व्यवहार, निन्दा योग्य आचरण, तथा धिक्कारने योग्य जीवन का बर्ताव, ये सब दुर्वृत्तियाँ ही हैं।

५—देवाधिदेव

देवताओं के भी पूजनीय, इन्द्रों के भी आराधनीय महापुरुष। ईश्वर का एक विशेषण। देवताओं के भी देवता याने अरिहंत अथवा तीर्थंकर।

६—द्रव्य

जिसमें नई नई पर्यायें उत्पन्न होती रहती हैं, तथा फिर भी जिसकी मूल-सत्ता अथवा ध्रौव्यत्व तीनों काल में सदैव बना रहे, पर्यायों के उत्पन्न और नाश होने पर भी जिसकी मूलसत्ता का कभी भी नाश नहीं हो, वही द्रव्य है।

ऐसे द्रव्य कुल मिला कर सारे ब्रह्मांड में केवल ६ ही हैं, न अधिक हैं और न कम हैं। पांच अरूपी हैं और केवल एक ही रूपी है। वे छः इस प्रकार हैं :—१ जीवास्तिकाय, २ धर्मास्तिकाय, ३ अधर्मास्तिकाय ४ पुद्गलास्तिकाय, ५ आकाशास्तिकाय और ६ काल।

७—द्रव्य-आश्रव

कर्मों का आत्मा के साथ दूध-पानी की तरह मिलने के लिये आत्मा की ओर आकर्षित होना ही आश्रव है। यह आश्रव दो प्रकार का है :—१ भाव-आश्रव, २ द्रव्य आश्रव। क्रोध आदि १६ कषाय और रति अरति आदि ९ नो कषाय—ये २५ तो भाव-आश्रव हैं; इन्हीं भाव-आश्रवों के कारण जो रूपी, अति सूक्ष्म से अति सूक्ष्म पुद्गल-परमाणु आत्मा के साथ सम्मिलित होने के लिये आते हैं, वे ही परमाणु द्रव्य-आश्रव कहलाते हैं। इन्हीं द्रव्य-आश्रव रूप परमाणुओं में भाव-आश्रव के अनुसार सुख-दुःख देने की शक्ति तथा आत्मा के साथ अमुक समय तक रहकर गुणों को ढँक रखने की शक्ति पैदा हुआ करती है।

८—द्रव्य-शांति

जो शान्ति बाह्यकारणों पर निर्भर रहती है; जो अस्थायी होती है और जिसका सम्बन्ध आत्मा के गुणों के साथ नहीं रह कर केवल पुद्गलों के साथ ही रहे; भौतिक-सुखों के साथ ही जिसका सम्बन्ध रहे; वह द्रव्य शान्ति है।

९—द्वेष

अप्रिय और अरुचि वाले पदार्थों के प्रति क्रोध होना, नफरत होना, धिक्कार बुद्धि होना, अमान्य बुद्धि होना ही द्वेष है।

ध

१—ध्यान

मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों को नियन्त्रण करके, काबू में ले करके, किसी एक वस्तु पर उनको जमाना, किसी एक पदार्थ पर उन्हें स्थिर करना ध्यान है। ध्यान दो प्रकार का है :—१ अशुभ ध्यान

और २ शुभ ध्यान। अशुभ ध्यान के भी दो भेद हैं :—१ आर्त्त ध्यान और २ रौद्र ध्यान। शुभ ध्यान के भी दो भेद हैं :—१ धर्म ध्यान और २ शुक्ल ध्यान। रोने, चिल्लाने, स्व को अथवा पर को दुःखी करने, शोक करने, हिंसा आदि के विचार करने, इत्यादि अशुभ प्रवृत्तियों की ओर मन, वचन, काया की शक्ति को स्थिर करना अशुभ ध्यान है। आत्म-चिन्तन, ईश्वर-भजन, पर-सेवा, सुसिद्धान्त विचारना, अनिष्ट-हिंसक विचारों से निवृत्ति आदि सात्विक और श्रेष्ठ विचारधारा की ओर शरीर, वचन और मन की वृत्तियों को सुस्थिर करना ही शुभ ध्यान है।

२—धर्म

जो क्रियाएँ आत्मा को पाप से बचावें और आत्मा के गुणों का विकास करें, वे ही धर्म हैं। अहिंसा, संयम, तप, सत्य, ब्रह्मचर्य, अचौर्य, परिग्रह की मर्यादा और अममत्व एवं रात्रि में खान-पान का त्याग आदि सत्क्रियाएँ धर्म की ही अंग हैं।

३—धर्म-ध्यान

शरीर की और वचन की प्रवृत्ति को रोक कर चित्त की वृत्ति को धार्मिक चिन्तन में, सिद्धान्तों के विचारणा में और दार्शनिक बातों के मनन में एवं ईश्वरीय स्तुति में सुस्थिर करना, दृढ़ करना ही धर्म-ध्यान है।

४—धर्मास्तिकाय

जो द्रव्य जीवों को और पुद्गलों को इधर उधर घूमने फिरने के समय में सहायता करता है और जिसकी सहायता होने पर ही जीव अथवा पुद्गल चल फिर सकते हैं, वह द्रव्य धर्मास्तिकाय है। यह द्रव्य संपूर्ण लोकाकाश में फैला हुआ है, अरूपी है और शक्ति का पुंज रूप है। असंख्यात प्रदेशी है। "जल जैसे मछली को तैरने में सहायक है" वैसे ही जीव और पुद्गल की गति में यह द्रव्य सहायक होता है। "रेडियो में शब्द-प्रवाह" के प्रवाहित होने में अनेक कारणों में से एक कारण यह द्रव्य भी है।

न

१—नरकगति

महान् पापी, घोर दुष्कर्मी, महा आरंभी और महा परिग्रही जीव के लिये पाप कर्मों का फल भोगने का स्थान-विशेष। ऐसे स्थान सात कहे गये हैं। जहाँ अनंत भूख-प्यास के साथ अनन्त सर्दी गरमी के दुःख, एवं दूसरे नाना-प्रकार के दुःख भोगे जाते हैं।

२—नवतत्व

तत्त्व की व्याख्या पहले लिखी जा चुकी है। ये तत्त्व नौ होते हैं, वे इस प्रकार हैं :— १ जीव, २, अजीव, ३ पुण्य, ४ पाप, ५ आश्रव, ६ संवर, ७; निर्जरा ८, बध और ९ मोक्ष।

३—नाम कर्म

जिस कर्म के कारण से, शरीर, इन्द्रियाँ, गति, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, शरीर, बनावट, चाल, स्वर, आदि शारीरिक संपूर्ण व्यवस्था का योग प्राप्त होता है वह नाम कर्म है। जैसे चित्रकार संपूर्ण चित्र का निर्माण करता है, वैसे ही यह कर्म सभी प्रकार की शारीरिक बनावट का संयोग प्राप्त कराता है। इसके १०३ भेद कहे गये हैं।

४—नियाणा

अपनी की हुई धर्म-क्रियाओं का, अपनी तपस्या का, अपने पुण्य का इच्छानुसार फल माँगना अथवा मनोनुकूल फल की वांछा करना नियाणा है। नियाणा करना पाप माना गया है।

५—निर्ग्रंथ

जिसके न तो आंतरिक रूप से मोह, कषाय आदि की गाँठ है और न बाह्य रूप से किसी भी प्रकार का परिग्रह जिसके पास है, अर्थात् जो बाह्य और आभ्यंतर दोनों प्रकार से गांठ रहित है, वह साधु निर्ग्रंथ कहलाता है। दीर्घ तपस्वी भगवान महावीर स्वामी का यह एक विशेषण भी है।

६—निर्जरा

ऐसे पवित्र और सात्विक तथा धार्मिक काम, जिनसे आत्मा के साथ बंधे हुए पुराने कर्म दूर हो जाते हैं और आत्मा पवित्र हो जाती है। निर्जरा के १२ भेद कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं:— १ अनशन, २ ऊनोदरता ३ वृत्तिसंक्षेप, ४ रस त्याग, ५ काय-क्लेश, ६ संलीनता, ७ प्रायश्चित, ८ विनय, ९ वैयावृत्य, १० स्वाध्याय, ११ ध्यान और १२ उत्सर्ग।

७—निर्द्वंद्व

बाह्य और आभ्यंतर दोनों प्रकार के झगड़ों, क्लेशों, और मोह-ममत्व से रहित होना। हर प्रकार से अनासक्त और मस्त रहना।

८—निर्वेद

स्त्री-पुरुष संबन्धी भोगों की इच्छा का नहीं होना। पूर्ण ब्रह्मचर्य-भावना ही निर्वेद है।

९—निरवद्य-योग

मन की, वचन की और काया की ऐसी प्रवृत्ति, जो कि निर्दोष हो। मन द्वारा, वचन द्वारा, और काया द्वारा ऐसे काम करना, जिनसे कि व्रतों में, सम्यक्त्व में, चारित्र में दोष नहीं आवे, वह निरवद्य योग है।

१०—निष्काम भावना

जिन सुन्दर विचारों में किसी भी प्रकार के फल की आकांक्षा नहीं होती है, जो विचार-धारा मोह-ममता के कीचड़ से रहित होती है, जिस विचार-प्रवाह में एकान्त रूप से विश्व-हित की भावना ही प्रवाहित होती रहती है, उसे निष्काम-भावना कहते हैं।

११—नो कषाय

जो स्वयं क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय की श्रेणी में तो नहीं है, किन्तु जो कषाय की श्रेणी को उत्तेजित करता है, कषाय की श्रेणी को वेग देता है और इस प्रकार कषाय का जो छोटा भाई है, वही नोकषाय

है। नोकषाय के ९ भेद है, वे इस प्रकार हैं:—१ हास्य २ रति ३ अरति ४ भय ५ शोक ६ जुगुप्सा ७ स्त्री वेद ८ पुरुष वेद ९ नपुंसक वेद।

प

१—प्रकृति

(१) स्वभाव (२) संसार।

२—प्रकृति बंध

कषाय और योग के कारण से आत्मा के साथ दूध-पानी की तरह मिलने के लिये आने वाले कर्म-पुद्गलों का जा तरह तरह का स्वभाव भावनानुसार बनता है, वह प्रकृति बंध है।

प्रकृति बंध के आठ भेद कहे गये हैं, वे इस प्रकार हैं: १ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र और ८ अन्तराय।

३—प्रत्यभिज्ञान

स्मृति के बल पर किसी प्रत्यक्ष पदार्थ के सम्बन्ध में जा जोड़ रूप ज्ञान होता है, वह प्रत्यभिज्ञान है। जैसे-यह वही तालाब है, जिसका कल देखा था, यह आदमी तो उस मनुष्य के समान है, इत्यादि।

४—प्रतिक्रमण

जो व्रत, त्याग-प्रत्याख्यान, नियम, संयम ग्रहण किये हों, उनमें जो कुछ भी दोष अथवा त्रुटी मूर्खता वश या प्रमाद वश आ गई हो तो व्रत आदि को निर्मल करने के लिये उन दोषों को खेद पूर्वक प्रकट करते हुए, पाप से निवृत्त होना और पुनः दोष अथवा त्रुटी को नहा पैदा होने देने की भावना का पोषण करना ही प्रतिक्रमण है।

५—प्रदेश-बंध

योग और कषाय के कारण से जब कर्म-परमाणु आत्मा की ओर दूध-पानी के समान मिलने के लिए आते हैं, उस समय आने वाले कर्म-परमाणुओं की जो तादाद अथवा समूह होता है, उसे ही प्रदेश बंध कहते हैं।

मन, वचन आर काया की शुभ अथवा अशुभ प्रवृत्ति प्रत्येक क्षण होती रहती है। निद्रा लेना भी एक प्रवृत्ति ही है, अतएव भावनानुसार कर्म-परमाणुओं का आगमन आत्मा की ओर प्रत्येक क्षण होता ही रहता है, और प्रत्येक क्षण- इनकी तादाद अनंतानंत की संख्या में हा होती है। इसी प्रकार जिन कर्म परमाणुओं का कार्य-काल समाप्त हो जाता है और प्रत्येक क्षण ऐसा होता ही रहता है, इनकी भी तादाद अनतानत रूप से ही होती है।

इन प्रदेश बंध के परमाणुओं का आठ कर्मों के भिन्न २ स्वभाव के रूप में विभाजन भावनानुसार आत्मा के प्रदेशों के साथ मिलने के समय ही हो जाया करता है। इसी प्रकार इनकी कार्य-काल की अवधि और इनकी भावनानुसार फल देने की शक्ति, दोनों का निर्माण भी उसी समय आत्म-प्रदेशों के साथ मिलने के वख्त ही हो जाया करता है।

६—प्रमाद

धार्मिक कार्यों के करने मे यानी पर-मेवा के कामों म और अपने नैतिक उत्थान के कामों मे बेपर्वाही करना, आलस्य करना और उन्हे निश्चित किये हुए समय मे पूरा नही करना, "प्रमाद" कहलाता है।

७—प्रशम

चित्त के विकारों पर नियत्रण रखना, क्रोध, मान, माया और लोभ को काबू मे करना, विषयों को दबाना तथा नैतिकता का जीवन मे विकास करना ही "प्रशम" अवस्था है। सम्यक्त्व के मूल पाँच लक्षणों मे से यह पहला लक्षण है।

८—प्रायश्चित

लिए हुए व्रत, नियम, त्याग, प्रत्याख्यान, संयम में जो कोई दोष अथवा त्रुटा प्रमाद वश अथवा मूर्खता वश आ गई हो तो उसको स्पष्ट तौर पर गुरु

जन के आगे विनय पूर्वक निवेदन करके उसके लिए क्षमा मांगना और व्रत नियम आदि को पुनः पवित्र करने के लिए वे जो कुछ भी दंड दें, उसका सहर्ष पालन करना और आगे भविष्य में वैसा दोष पुनः नहीं करने की भावना करना ही प्रायश्चित है ।

९—पदार्थ

शब्दों द्वारा कही जा सकने वाली विस्तु, जसका शब्दों द्वारा बयान किया जा सके । "तत्त्व" शब्द का पर्यायवाची शब्द ।

१०—परमाणु

रूपवाला, रस वाला, गंध वाला, स्पर्श वाला आर पुद्गल का एक अंश । यह पुद्गल का इतना सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश है, कि जिसके यदि किसी भी प्रकार से टुकड़े करना चाहें, तो त्रिकाल में भी जिसके दो टकड़े नहीं हो सकें—ऐसा अति सूक्ष्म तम, स्वतंत्र पुद्गल का अंश परमाणु है ।

एक से अधिक परमाणुओं का समूह "देश" पुद्गल कहलाता है । एटम बम, और हाइड्रो एलेक्ट्रिक बम "देश" पुद्गलों के बने हुए होते हैं । देश-पुद्गलों से "परमाणु" पुद्गल को अलग करके केवल "परमाणु" पुद्गल से काम लेने की शक्ति वर्त्तमान विज्ञान को नहीं प्राप्त हुई है ।

सभी "देश-पुद्गलों" का सम्मिलित नाम "स्कंध" पुद्गल समूह है । यह समस्त लोकाकाश में फैला हुआ है ।

११—पर्याय

प्रत्येक द्रव्य में प्रत्येक क्षण में उत्पन्न होने वाली नई नई अवस्था अथवा नया नया रूप ही "पर्याय" कहलाता है । छः ही द्रव्यों में प्रत्येक क्षण–द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से कुछ न कुछ फर्क पड़ता ही रहता है, कोई भी क्षण ऐसा नहीं होता कि जिस में कुछ न कुछ फर्क नहीं पड़े, इस प्रकार हर द्रव्य में उत्पन्न होने वाली हर अवस्था ही "पर्याय" है । सिद्धों में भी ज्ञान की पर्यायों में परिवर्तन होता ही रहता है । इसी लिये जगत् को "संसार याने परिवर्तन होते रहने वाला" यह संज्ञा दी गई है ।

१२—परिग्रह

इस के दो भेद हैं:—१ भाव परिग्रह है; और दूसरा द्रव्य परिग्रह।

ममता अथवा मूर्च्छा तो भाव परिग्रह है; और धन-धान्य; पशु–पक्षी; मोटर, मकान, दास-दासी, स्त्री–पुत्र, भाई बन्धु, सोना–चांदी, और विभिन्न वैभव सामग्री द्रव्य परिग्रह है।

१३—परिणाम

फल अथवा नतीजा।

१४—परिषह

इच्छा पूर्वक लिये हुए व्रतों की रक्षा के लिये, नियम, तप, संयम की रक्षा के लिए और त्याग–प्रत्याख्यान का पवित्रता के साथ पालन करने के लिये जो कष्ट अथवा दुःख आकर पड़े उन्हें शांति के साथ और निर्मलता पूर्वक दृढ़ता के साथ सहन करना ही परिषह है। परिषहों का उत्पत्ति कुदरती कारणों से, मनुष्यों से, पशुओं से और देवताओं से हुआ करती है। परिषह के कुल २२ भेद शास्त्रों में बतलाये गये हैं।

१५—पल्योपम

काल का माप विशेष जो कि असंख्यात वर्षों का होता है।

१६—पाप

बुरी बात, जिन बुरे कामों के करने से आत्मा मर कर तिर्यंच गति में अथवा नरक गति में एवं दुर्गति में जाता हो। पाप के मुख्य १८ भेद कहे गये हैं और इनका फल ८२ प्रकार से-अशुभ रीति से भागा जाता है।

१७—पांच इन्द्रियाँ

शरीर, मुख, नाक आँख, और कान–ये पांच इन्द्रियां कहलाती हैं।

१८—पुण्य

भले काम, नैतिकता पूर्ण काम। जिन कामों को करने से आत्मा को अच्छी गति मिले, सुख–सुविधा, यश, सम्मान आदि की प्राप्ति हो; वे काम

पुण्य कहलाते हैं। संक्षेप में पुण्य के ९ भेद किये गये हैं और उनका फल ४२ प्रकार से भोगा जाता है।

१९—पुद्गल

जो द्रव्य अजीव याने जड़ रूप होता हुआ रूप वाला, रस वाला, गंध वाला और वर्ण वाला हो; तथा जो मिलने बिखरने, सड़ने गलने वाला हो, ऐसा पदार्थ–पुद्गल कहलाता है।

हमें नेत्रों द्वारा जो कुछ भी दिखलाई पड़ रहा है, वह सब पुद्गल का ही रूपान्तर है। सूर्य, चन्द्र, तारा, धूप, प्रकाश, छाया, चांदनी, शब्द, जल, पृथ्वी, हवा, वनस्पति, पहाड़, जीवों के शरीर, लोहा, सोना, चांदी, मिट्टी, सभी पुद्गल के ही विभिन्न रूप हैं। सारा स्थूल ब्रह्मांड पुद्गलों का ही बना हुआ है। उपरोक्त पदार्थों में विभिन्न जीव–समूह इन्हीं को शरीर बना कर रहते हैं। दृश्यमान सारा संसार पुद्गलों का ही बना हुआ है। पुद्गल तत्त्व को मुख्य रूप से चार भागों में बांटा है। १ स्कंध, २ देश, ३ प्रदेश, और ४ परमाणु।

विश्व–व्यापी पुद्गलों का संपूर्ण समूह "स्कंध" कहलाता है।

स्कंध के हिस्से "देश" कहलाते हैं। परमाणु का स्वरूप पहले लिखा जा चुका है। देश अथवा स्कंध में मिला हुआ "परमाणु" जितना ही अंश "प्रदेश" के नाम से बोला जाता है। स्वतंत्र अवस्था में जो परमाणु है, वही सम्मिलित अवस्था में "प्रदेश" के नाम से पुकारा जाता है।

२०—पूर्वधर

ऐसे ज्ञानी महात्मा और संत ऋषि, जो कि महान् ज्ञान के धारक हों। तीर्थंकरों और अरिहंतो द्वारा फरमाये हुए विशाल और विस्तृत ज्ञान के धारक "पूर्वधर" कहलाते हैं।

ब

१ बंध

योग और कषाय के कारण से आत्मा के प्रदेशों के साथ कर्म-परमाणुओं का दूध पानी की तरह मिल जाना ही "बंध" कहलाता है। बंध के चार

भेद कहे गये हैं :—१ प्रकृति-बंध, २ प्रदेश-बंध, ३ स्थिति-बंध और ४ अनुभाग-बंध, इनकी व्याख्या इसी कोष में यथास्थान पर दी जा चुकी है ।

२ बहुश्रुत

जिस ज्ञानी पुरुष का, शास्त्रों का वाचन, मनन, चिन्तन और विचारणा खूब ही गहरी, विस्तृत और प्रामाणिक हो, वह "बहुश्रुत" कहलाता है ।

३ बाल

विवेक और व्यवहार से हीन पुरुष, मूर्ख बुद्धि वाला और अनभिज्ञ पुरुष ।

४ बाल तप

"उपरोक्त स्थिति वाले बाल पुरुष" की तपस्या बाल तप कहलाती है । अज्ञान, अविवेक और मिथ्यात्व के आधार से बाल पुरुष की तपस्या "बाल-तप" ही है । बाल-तप शरीर को कष्ट देने वाला मात्र है, इसमे आत्म-गुणों का विकास नहीं हो सकता ह और न कर्मों की निर्जरा ही हो सकती है, अतएव शास्त्रों में इसे हेय, जघन्य और व्यर्थ कष्ट मात्र ही कहा गया है ।

भ

१ भव्य

जो जीव कभी भी ज्ञान, दर्शन और चारित्र का आराधन कर के मोक्ष जाने की स्वाभाविक शक्ति रखता हो, वह भव्य कहलाता है । भव्य प्राणी के लिये कभी न कभी एक दिन ऐसा अवश्य आता है, जब कि वह पूर्ण सम्यक्त्वी बन कर अवश्य ही मोक्ष में जाता है ।

किन्तु शास्त्रों में ऐसा भी उल्लेख है कि कई एक भव्य आत्माएें ऐसी भी हैं, जो कि भव्य-गुण वाली होती हुई भी सम्यक्त्व-प्राप्ति का संयोग उन्हें नहीं मिलेगा, और इसलिये वे मुक्त भी नहीं हो सकेंगी ।

२ भाव

आत्मा में समय-समय पर होने वाली विभिन्न प्रकार की विचार-धारा ही "भाव" है । भाव के ५ भेद कहे गये हैं :—१ औपशमिक-भाव, २ क्षायिक-

भाव, ३ क्षायोपशमिक-भाव, ४ औदयिक-भाव और ५ पारिणामिक-भाव।

१ कर्मों के शान्त रहने की हालत में आत्मा में पैदा होने वाले विचार "औपशमिक-भाव" हैं।

२ कर्मों के क्षय हो जाने पर अथवा निर्जरा होने पर आत्मा में पैदा होने वाले विचार "क्षायिक-भाव" हैं।

३ कुछ कर्मों के तो उपशम होने पर और कुछ के क्षय होने पर, इस प्रकार मिश्र स्थिति होने पर आत्मा में पैदा होने वाले विचार "क्षायोपशमिक-भाव" हैं।

४ कर्मों के उदय होने पर, कर्मों द्वारा अपना फल दिये जाने के समय में आत्मा में पैदा होन वाले विचार "औदयिक-भाव" हैं।

५ आत्मा की स्वाभाविक विचारधारा ही "पारिणामिक"-भाव है।

३ भावाश्रव

आत्मा में उत्पन्न होने वाले अच्छे अथवा बुरे विचार ही, शुभ-अशुभ अध्यवसाय ही, इष्ट-अनिष्ट भावना ही "भावाश्रव है।

सात्विक, पवित्र और निर्दोष भावना से तो शुभ-भावाश्रव होता है और कषाय से, नो कषाय से, एवं अनिष्ट विचार-धारा से अशुभ-भावाश्रव होता है।

भावाश्रव के बल पर ही कर्म-परमाणु आत्मा की ओर आकर्षित होते हैं और यही द्रव्याश्रव कहलाता है। शुभ द्व्याश्रव से सुख-सामग्री और वैभव-विपुलता की प्राप्ति होती है, जब कि अशुभ द्व्याश्रव से दुःख-दरिद्रता एवं वियोग-विपत्ति आदि की प्राप्ति हाती है।

४ भावना

आत्मा के सुन्दर, सेवामय, अनासक्ति वाले और पवित्र विचार ही भावना कहलाते हैं। शुभ-ध्यान, शुभ-लेश्या, शुभ-अध्यवसाय, ममता-रहित परिणाम, अविचल ईश्वर-भक्ति आदि "भावना" के ही अन्तर्गत समझे जाते हैं।

स्थूल रूप से भावना के ४ भेद और १२ भेद किये गये हैं, वे इस प्रकार हैं:—१ मैत्री-भावना, २ प्रमोद-भावना, ३ करुणा-भावना और ४ माध्यस्थ-भावना।

१ अनित्य, २ अशरण, ३ संसार, ४ एकत्व, ५ अन्यत्व, ६ अशुचित्व, ७ आस्रव, ८ संवर, ९ निर्जरा, १० लोक-स्वभाव, ११ बोधि-दुर्लभ और १२ धर्म-भावना।

५—भाव-शांति

अपनी आत्मा के गुणों में ही आनंद अनुभव करना, आत्मा के विकास में ही प्रफूल्लता की अनुभूति होना एवं सांसारिक सुख-सामग्री को हेय, तुच्छ अनुभव करते हुए उसमें दुःख ही दुःख समझना भाव-शांति है। सांसारिक सुख-शांति द्रव्य-शांति है।

६—भोग

जो वस्तु एक ही बार भोगी जा सके; जैसे—खाने पीने के पदार्थ, आदि।

७—भौतिक-सुख

पुद्गलों संबंधी सुख, इन्द्रियों संबंधी सुख, और सब प्रकार का सांसारिक सुख, भौतिक-सुख के ही अन्तर्गत है।

म

१—मति ज्ञान

पांचों इन्द्रियों की सहायता से और बुद्धि की सहायता से जो ज्ञान पैदा होता है, वह मतिज्ञान है। आज कल जितना भी सब प्रकार का साहित्यिक-ज्ञान उत्पन्न हुआ है, और हो रहा है तथा होगा; वह सब मति ज्ञान के ही अन्तर्गत समझा जाता है। मति ज्ञान के भेदानुभेद से ३६४ भेद किये गये हैं।

२—मधुकरी

जैसे भंवरा-प्रत्येक फूल से बिना उसे किसी भी प्रकार का कष्ट पहुँचाये थोड़ा सा शहद (फूल का अन्श) लेता है और इस प्रकार अनेकानेक फूलों से-सहज रीति में ही अपनी इच्छा पूरी कर लेता है, वैसे ही अपने जीवन को व्रतमय और आदर्श बनाने के लिये जो व्यक्ति थोड़ा थोड़ा आहार-पानी,

वस्त्र आदि सहज भाव से सुविधा पूर्वक गृहस्थो से ग्रहण करता रहता है, इसे ही "मधुकरी" कहते हैं ।

३—मन: पर्याय

आत्मा की शक्ति के आधार से ही बिना इन्द्रियो और मन की मदद लिए ही दूसरो के विचारो का जान लेना, दूसरों के मन की भावनाओं को समझ लेना ही मन: पर्याय ज्ञान है । यह ज्ञान सिर्फ उच्च चारित्र वाले और दृढ सम्यक्त्वी-मुनिराजो मे से किसी किसी को ही उत्पन्न हुआ करता है । आज कल तो इतना उच्च कोटि का ज्ञान किसी को भी नही हो सकता है । इसके दो भेद है;—१-ऋजुमति मन पर्याय और २ विपुलमति मन: पर्याय ।

४ मनो-गुप्ति

मन की चचलता को, अस्त-व्यस्तता को और बुरे विचार-प्रवाह को रोकना, एव इनके स्थान पर सद् विचारो के प्रवाह को प्रवाहित करना "मनोगुप्ति है ।"

५ ममता

किसी पदार्थ के प्रति मेरापन रखना, कुटुम्बी-जनो के मोह मे अंधा हो जाना, बाह्य आदर-प्रतिष्ठा-यश-सन्मान-पद की इच्छा रखना और अपने स्वार्थ को ही सब कुछ समझना "ममता" है ।

६ महात्मा

जिसकी आत्मा बुराइयो से और पापो से रहित हो गई हो और जिसके सारे जीवन का समय, प्रत्येक क्षण, परोपकार मे, पर-कल्याण मे, पवित्र विचारो मे तथा ईश्वर की भक्ति मे ही व्यतीत होता हो, वही महात्मा है ।

७ महाव्रत

जीवन भर के लिये जिस व्रत का परिपालन मन, वचन और काया की पूरी-पूरी संलग्नता के साथ किया जाता हो, कराया जाता हो और कराने की अनुमोदना की जाती हो, ऐसा व्रत "महाव्रत" कहलाता है ।

महाव्रत के पालक "साधु-अथवा साध्वी" ही होते हैं। महाव्रत की साधना तीन करण और तीन योग (मन, वचन, काया से पालना, पलवाना और ऐसी ही अनुमोदना करना) से की जाती है। महाव्रत 'सर्वविरति' रूप होता है। इसके पांच भेद हैं :— १ पूर्ण अहिंसा २ पूर्ण सत्य ३ पूर्ण-अचौर्य ४ पूर्ण ब्रह्मचर्य और ५ पूर्ण अनासक्त याने निष्परिग्रह।

८—माया

कपट, कषाय के चार भेदों में से तीसरा भेद अधिक ब्याज लेना, अधिक मुनाफा खोरी 'माया' के ही अन्तर्गत हैं। माया से अक्सर तिर्यंचगति की प्राप्ति हुआ करती है।

९—मिथ्यात्व

"आत्मा, ईश्वर, पुण्य, पाप" आदि मूलभूत सिद्धान्तों पर जिसका विश्वास बिल्कुल ही न हो, जो इनको केवल ढकोसला समझता हो तथा जिसका ध्येय एक मात्र संसार-सुख को ही भोगना हो वह मिथ्यात्वी कहलाता है और उसकी विचार-धारा मिथ्यात्व कही जाती है।

१०—मिथ्या दृष्टि

जिस आत्माका दृष्टि कोण ऊपर लिखे गये "मिथ्यात्व" की ओर संलग्न हो वह 'मिथ्या दृष्टि" कहलाता है।

११—मुक्त

जो आत्मा आठों कर्मों से रहित हो गई हो, जिसमें परिपूर्ण रीति से आत्मा के सभी गुणों का पूरा पूरा विकास हो गया हो और जैन मान्यतानुसार जो स्वयं ईश्वर रूप हो गई हो वह आत्मा "मुक्त" कही जाती है।

मुक्त आत्मामें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त निर्मलता, निराकारता अनन्त आत्मिक सुख, अखंड अमरत्व, सर्वोच्च विशेषता और निराबाध स्थिति की उत्पत्ति हो जाती है यही ईश्वरत्व है। इस स्थिति को प्राप्त करना हर सांसारिक आत्मा का अंतिम ध्येय है।

१२--मुनि

जा परमार्थी पुरुष अपनी इन्द्रियों आर मन पर पूरा पूरा नियंत्रण रखता हुआ, अहिंसा, सत्य, अचाय, ब्रह्मचर्य और निष्परिग्रह धर्म का परिपूण राति से पालन करता हा, वही "मुनि" है। "ईश्वर-प्राप्ति" नामक साधना का साधक महापुरुष ही मनि कहलाता है।

१३—मुमुक्षु

मोक्ष की इच्छा करन वाला और मक्ष-पंथ का पथिक ही मुमुक्षु है। कषाय-भावना से छुटकारा चाहने वाला "ममुक्ष" कहा जाता है।

१४—मूढ़

जो पुरुष मन ही मन में विषयों का चिन्तन करता रहता है, चित्त द्वारा भोगों की प्राप्ति की इच्छा करता रहता है, वह मूढ़ है।

१५--मूर्च्छा

विषयों के प्रति अन्धा हो जाना, मोह में डूब जाना, यही "मूर्च्छा" का लक्षण है।

१६--मोह

आत्मा में रहे हुए मुख्य और मूल गुणों को जो कषाय नष्ट कर देता है, वही "माह" है। सभी कषायों का और विषय-विकारों का सम्मिलित नाम "मोह" ही है।

१७—मोहनीय कर्म

जैसे मदिरा मनुष्य को बेभान कर देती है, स्थान भष्ट करके इधर उधर लुढ़का देती है, वैसे ही यह कर्म भी हर आत्मा को विषयों में, बिकारों में और कषायों में जकड़ देता है। इस कर्म के कारण से आत्मा का चारित्र और आत्मा की भावनाऐं पाप पूर्ण हो जाती हैं। इसके बलपर आत्मा भोगों में फँस जाती है। इसके मुख्य दो भेद हैं:—१दर्शन माहनीय और २ चारित्र

मोहनीय।

दर्शन मोहनीय के तीन भेद पहले लिखे जा चुके हैं। चारित्र मोहनीय के "१६ प्रकार के कषाय और ९ प्रकार के नो कषाय" इस प्रकार कुल २५ भेद होते हैं।

१८--मोक्ष

आत्मा का आठों कर्मो से छूट जाना ही और पुनः कर्मों से लिप्त नहीं होना ही मोक्ष है। आठों कर्मों के क्षय से आत्मा में सभी प्रकार के मूल गुण अपने सर्वोच्च रूप में विकसित हो जाते हैं। तथा सभी प्रकार के सांसारिक झंझट और सभी प्रकार के दुर्गुण हमेशा के लिये आत्मा से अलग हो जाते हैं। पूर्ण ईश्वरत्व-प्राप्ति ही "मोक्ष-अवस्था" है।

मोक्ष-प्राप्ति अथवा ईश्वरत्व-प्राप्ति प्रत्येक आत्मा का स्वाभाविक अधिकार है; तदनुसार हर आत्मा अपने ज्ञान-दर्शन, चारित्र द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकती है।

य

१—यतना

विवेक पूर्वक और सावधानी के साथ जीवन-व्यवहार चलाना, यतना है। अपने कर्त्तव्य का ध्यान रखते हुए, अपने उत्तरदायित्व को स्मृति में रखते हुए और अपनी पद-मर्यादा का ख्याल रखते हुए जीवन-व्यवहार चलाना "यतना" है।

२—यथाख्यात चारित्र

क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चारों कषायों के सर्वथा उपशम होने पर जिस सर्वोच्च चारित्र की प्राप्ति होती है, वह यथाख्यात चारित्र है! ग्यारहवें गुणस्थान में वर्त्तमान आत्मा को औपशमिक यथाख्यात चारित्र होता है; और १२ वें; १३ वें; तथा १४ वें गुणस्थान में वर्त्तमान आत्मा का क्षायिक यथाख्यात चारित्र होता है। पांचों चारित्रों में से यही चारित्र सर्वोच्च और श्रेष्ठ है।

३—योग-प्रवृत्ति

मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों का सम्मिलित नाम "योग-प्रवृत्ति" है। इनकी शुभ-प्रवृत्ति हो तो "शुभ-योग-प्रवृत्ति" और इनकी अशुभ-प्रवृत्ति हो तो "अशुभ योग-प्रवृत्ति" कही जाती है।

योग के मुख्य तीन भेद हैं:—१ मनो योग, २ वचन योग और ३ काया योग। इनके पुनः उपभेद १५ होते हैं। (१) सत्य मन योग; (२) असत्य मन योग, (३) मिश्र मन योग; (४) व्यवहार मन-योग। (१) सत्य भाषा, (२) असत्य भाषा; (३) मिश्र भाषा; और (४) व्यवहार भाषा (१)औदारिक योग; (२) औदारिक मिश्र योग; (३) वैक्रिय योग (४) वैक्रिय मिश्र योग (५) आहारक योग, (६) आहारक मिश्र योग (७) कार्मण योग।

र

१—रत्न त्रय

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, और सम्यक् चारित्र का सम्मिलित नाम "रत्न-त्रय" है!

"आत्मा, ईश्वर, पुण्य पाप" आदि मूल भूत सिद्धातों पर पूरा पूरा विश्वास करना और सांसारिक-सामग्री को अनित्य और अंत में दुख देने वाली विश्वास करना सम्यक् दर्शन है।

"सम्यक्-दर्शन" के अनुसार ही जगत् का तथा आत्मिक-सिद्धान्तों का ज्ञान करना अथवा स्वरूप समझना "सम्यक् ज्ञान" है।

"सम्यक् दर्शन" और "सम्यक् ज्ञान" के अनुसार ही अपने जीवन का व्यवहार रखना; जीवन का आचरण रखना, तथा इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार अपने आचरण का क्रमिक विकास करते हुए सर्वोच्च स्थिति को पहुँचना ही "सम्यक् चारित्र" है।

सम्यक् दर्शन होने पर ही "ज्ञान और चारित्र" की गणना सम्यक् रूप से होती है; अन्यथा-सम्यक् दर्शन के अभाव में "मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्र" समझा जाता है।

इन तीनों का सम्मिलित रूप से विकास होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति हुआ करती है, किसी भी एक के अभाव में मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता है।

२—रति

मोह के वश से इष्ट पदार्थो में; प्रिय पदार्थों में प्रेम रखना; उनकी वांछा करना, रति है। विषयों से संबंधित भौतिक-सुख में उत्सुकता रखना "रति" है। यह नोकषाय का एक भेद है।

३—रस

इन्द्रियों और मन द्वारा भोगे जाने वाले सांसारिक-सुख में जो "एक सुख रूप अनुभूति" होती है, वह रस है। खाने, पीने, देखने, सूंघने, के पदार्थों में तथा स्त्री-पुरुष को परस्पर में और सांसारिक विचार-धारा में,- इन्द्रियों द्वारा तथा मन द्वारा जो सुख अथवा आनंद का अनुभव होता है, उसे ही "रस" कहते हैं। स्थूल रूप से "रस" के पांच भेद दूसरे भी कहे गये हैं, वे ये हैं:—(१) तीखा (२) कडुआ (३) कषायला (४) खट्टा और (५) मीठा।

४—राग

माया और लोभ के सम्मिलित संयोग से आत्मा में जो विचार-धारा उत्पन्न होती है, वही "राग" है ! इन्द्रियों के तथा मन के इष्ट एवं प्रिय पदार्थों में जो एक प्रकार का मोह-भाव, अथवा उत्सुकता भाव या वांछा-भाव पैदा होता है, वही "राग" भाव है।

राग-भाव में कपट आर लालच का संमिश्रण रहता है।

५—राजस्

गृहस्थाश्रम और राज्य-व्यवस्था को चलाने के समय में जिस ढंग की मनोवृत्ति होती है, तथा जैसा जीवन का आचरण होता है, एवं जैसी जैसी कषाय की प्रवृत्ति होती है, वह सब "राजस्" भावना के अन्तर्गत समझा जाता है। प्रकृति से सम्बन्धित सांसारिक आत्मा के वैदिक साहित्य में तीन गुण बताये गये हैं:—१ तामस्, २ राजस् और (३) सात्विक।

कृष्ण लेश्या वाला और नील लेश्या वाला "तामस्" प्रकृति का होता है। कापोत लेश्या वाला और कुछ कुछ तेजो लेश्या वाला "राजस्" प्रकृति का होता है। इसी प्रकार कुछ कुछ तेजा लेश्या वाला और पद्म लेश्या वाला "सात्विक" प्रकृति का होता है।

जा आत्मा "राजस्, तामस् और सात्विक" तीनो गुणों से अतीत हो जाता है, इनसे रहित हो जाता है; वह जैन-परिभाषा में "शुक्ल लेश्या" वाला कहा जाता हैं, जिसे वेदान्त में "परब्रह्म" कहते हैं।

६—राजू

दूरी आर विस्तीर्णता मापने का एक माप दंड, जो कि करोड़ों और अरबों माइलों वाला होता है। खगोल विज्ञान वाले जैसे आलोक-वर्ष" नामक दूराका माप-दंड निर्धारित करते हैं, वैसा हा किन्तु उससे ज्यादा बड़ा यह माप-दंड है। विशेष उल्लेख इसी पुस्तक की भूमिका में देखें।

७—रूप

(१) सौन्दर्य;

(२) पुद्गलों का एक धर्म, जो कि आखों आदि इन्द्रियों द्वारा अथवा ज्ञान द्वारा देखा जाता है और जाना जाता है।

(३) रूप के ५ भेद किये गये हैं:—

(१) काला, (२) नीला, (३) लाल, (४) पीला और (५) सफेद।

इन पांचों के संमिश्रण से सैकड़ों प्रकार का रूप-रंग तैयार किया जा सकता है।

८—रूपी

रूप वाला, केवल पुद्गल ही रूपी होता है, बाका के सब द्रव्य रूप रहित ही होते हैं। रूपी दा प्रकार के होते हैं:—

१ स्थूल रूपी २ सूक्ष्म रूपी।

जो पुद्गल आंखों आदि इन्द्रियों द्वारा देखा जा सके, वह तो स्थूल रूपी है, और जो पुद्गल आंखों आदि इन्द्रियों द्वारा नहीं देखा जाकर केवल आत्मा की

शक्ति से ही याने अवधि ज्ञान, मन पर्याय ज्ञान, और केवल ज्ञान द्वारा जाना जा सकता हो, वह सूक्ष्म रूपी होता है।

पहाड़, नदी, सूर्य, चन्द्र, तारे, वृक्ष, जल, अग्नि, हवा, वनस्पति, शब्द, गंध, खाने पीने की वस्तुएं, मिट्टी, छाया धूप, आदि तो स्थूल रूपी पुद्गल हैं, और कर्म परमाणु, आहारक शरीर परमाणु, तैजस शरीर परमाणु इत्यादि विभिन्न प्रकार के परमाणु सूक्ष्म रूपी पुद्गल कहलाते हैं।

९—रौद्र ध्यान

हिंसा, निर्दयता, जुल्म, अत्याचार, शोषण, भयंकरता आदि दुष्ट आचरणों और नीच कृत्यों का ध्यान करना, इनका विचार करना रौद्र ध्यान है।

ल

१—लक्षण

जिस विशेष चिह्न के आधार से किसी की पहिचान की जाय, जो विशेष चिन्ह उसी पदार्थ में पाया जाय तथा अन्य में नहीं पाया जाय, ऐसे असाधारण धर्म को—विशेष चिह्न को "लक्षण" कहा जाता है, जैसे कि आत्मा का लक्षण ज्ञान, पुद्गल का लक्षण रूप, अग्नि का लक्षण उष्णता आदि।

२—लालसा

तीव्र इच्छा। ऐसी महती अभिलाषा कि जिसकी पूर्त्ति करने के लिये व्यग्र हो जाना। ऐसी असाधारण कामना कि जिसको परिपूर्ण करने के लिये अंधा हो जाना।

३—लेश्या

योग और कषाय के संयोग से आत्मा में जो विचारों की विशेष-विशेष तरंगे उत्पन्न हुआ करती हैं उन्हें ही लेश्या कहते हैं। यदि कषाय की कलुषित अवस्था बहुत ही तीव्र और भयानक हुई तो लेश्या की तरंगें भी बहुत ही अनिष्ट और निकृष्ट होंगी इसके विपरीत यदि कषाय की स्थिति सर्वथा नहीं

रही और केवल योग की सर्वोच्च अवस्था ही रही तो उस समय लेश्या की तरंगें अत्यंत विशुद्ध और प्रशस्त ही होंगी। योग और कषाय के अभाव में लेश्या का भी अभाव हो जाता है।

लेश्या के ६ भेद हैं :—१ कृष्ण २ नील ३ कापोत ४ तेजो ५ पद्म और ६ शुक्ल।

१ कृष्ण लेश्या में हिंसा, क्रोध, द्वेष, निर्दयता, वैर और दुष्टाचरण की प्रधानता होती है!

२ नील में आलस्य, मंद बुद्धि, माया, भोग-भावना; कायरता और अहंकार की प्रधानता होती है।

३ कापोत में शोक, पर निन्दा एवं कषाय की स्थिति बराबर बनी रहती है। कषाय का दबाव अपेक्षाकृत कम हो जाता है।

४ तेजो लेश्या में विद्या, प्रेम, दया, विवेक, हिताहित की समझ और सहानुभूति की भावना रहती है।

५ पद्मलेश्या में क्षमा, त्याग, देव-गुरु-धर्म में भक्ति, निष्कपटता और सदैव प्रसन्न भावना बनी रहती है।

६ शुक्ल लेश्या में राग द्वेष का सर्वथा विनाश हो जाता है, शोक और निन्दा से परे स्थिति हो जाती है एवं परमात्म-भाव के दर्शन हो जाते हैं।

प्रथम तीन लेश्याओं में कषाय की स्थिति न्यूनाधिक रूप से बराबर बनी रहती है जबकि चौथी और पांचवी लेश्या में कषाय का क्षय और उपशम अच्छी मात्रा में प्रारम्भ हो जाता है।

छट्ठी लेश्या में कषाय का सर्वथा क्षय हो जाता है।

४—लोक

जहाँ तक छः द्रव्यों की स्थिति है, वह सारा क्षेत्र लोक कहलाता है। लोक की लंबाई में ऊँचे से नीचे तक १४ राजू तक की मर्यादा कही गई है जब कि चौड़ाई में- केवल सात राजू तक की मर्यादा बतलाई है। इस क्षेत्र-फल के अतिरिक्त शेष आकाश में छः द्रव्यों का अभाव है अतएव उसे लोक

नहीं कहकर अलोकाकाश की संज्ञा दी गई है जो कि शून्य रूप ही है और जिसके क्षेत्रफल की मर्यादा का माप कोई भी यहां तक कि ईश्वर भी नहीं निकाल सकते हैं उसका क्षेत्रफल अनंतानंत राजू प्रमाण है।

लोक के तीन भाग किये गये हैं :—उच्च लोक, मध्य लोक आर नीचा-लोक।

५—लोकाकाश

आकाश लोक और अलोक दोनों स्थानों पर है ! लोक मर्यादित आकाश को अथवा छः द्रव्यों से संयुक्त आकाश को लोकाकाश कहते हैं और छः द्रव्यों से रहित आकाश को अलोकाकाश कहा जाता है। लोकाकाश के द्रव्यों का एक भी परमाणु अथवा प्रदेश अलोकाकाश में नहीं जा सकता है, क्योंकि धर्मास्तिकाय का वहाँ पर अभाव होने से किसी भी दशा में गति अथवा स्थिति नहीं हो सकती है।

व

१—व्यामोह

कषाय और मोह के उदय से जीव की ऐसी मूर्च्छित अवस्था जिसमें कि केवल भोगों का ही ध्यान रहे, पुद्गल-संबंधी सुखों का ही ख्याल रहे और आत्मा के हिताहित का विचार सर्वथा ही नहीं रहे।

२----वचन गुप्ति

भाषा के ऊपर नियंत्रण रखना, घातक और अनिष्ट भाषा का परित्याग करते हुए शिष्ट, मधुर और सत्य एवं आवश्यक भाषा ही बोलना, वचन-गुप्ति है।

३—वाचाल

बहुत बोलने वाला। आवश्यकता और अन-आवश्यकता का ख्याल नहीं रखते हुए बहुत अधिक बोलने वाला।

४—वासना

कषाय के कारण से आत्मा में जो अनिष्ट और नीच आदतों की जड़ जम

जाती है, आत्मा में जो कुसंस्कार दृढ़ीभूत हो जाते है, उन्हें ही "वासना" शब्द द्वारा पुकारा जाता है।

५—विकथा

जो कथा नैतिकता, चारित्र, और उच्च आचरण के विरुद्ध हो, जिस कथा के कहने से नैतिकता; चारित्र और उच्च आचरण में दोष आता हो अथवा पतन की शुरुआत होती हो, उसे "विकथा" कहते हैं। "विकथा" विपरीत कथा, घातक कथा !

विकथा के चार भेद कहे गये हैं :— १ स्त्री विकथा, २ भोजन विकथा ३ देश विकथा और ४ राजविकथा।

६—विकार

अच्छी बात में बुरी बात का पैदा हो जाना ही "विकार" कहलाता है। सम्यक् दर्शन का विकार "मिथ्या दर्शन" है; सम्यक्-ज्ञान का विकार "मिथ्या-ज्ञान" है और सम्यक् चारित्र का विकार "इन्द्रिय-भाग, कषाय का उदय, और सांसारिक सामग्री में ही शक्ति का अपव्यय करना" हैं। इन्द्रियों के भोग पदार्थों के लिहाज से विकारों के भेद २४० कहे गये हैं।

७—विपाक-शक्ति

कषाय के कारण से कर्मों में जो फल देने की शक्ति पैदा होती है, उसे ही विपाक शक्ति कहते हैं।

जिस तरह कोई लड्डू ज्यादा मीठा होता है और काई थोड़ा, कोई अधिक कड़ुआ होता है तो कोई कम, इसी प्रकार कोई ज्यादा तीखा होता है तो कोई अल्प, इत्यादि अनेक प्रकार के रस वाले होते हैं, उसी तरह से बंधे हुए कर्म-परमाणुओं में भी अनेक तरह का फल अथवा रस देखा जाता है, किसी का रस-फल ज्यादा शुभ देखा जाता है, तो किसी का कम, किसी का रस-फल अधिक अशुभ देखा जाता है, तो किसी का अल्प। इत्यादि रूप से कर्मों की जो फल-शक्ति है, वही "विपाक-शक्ति" के नाम से पुकारी जाती है। कर्मों के मूल भेद आठ कहे गये हैं, तदनुसार "विपाक-शक्ति" भी आठ प्रकार की हा है।

८—विरक्त

जो आत्मा-इन्द्रियों के भोगों से, और सांसारिक सुखों से, तथा मोह की पैदा करने वाली बातों से अथवा वातावरण से दूर ही रहे, वह "विरक्त" कहलाता है।

९—वियोग

किसी भी वस्तु का एक बार अथवा अधिक बार संयोग होकर, तत्पश्चात् उसका संबंध छूट जाना, "वियोग" कहलाता है संबंध-विच्छेद ही "वियोग" है।

१०—विराधना

तीर्थंकर, गणधर, स्थविर, आचार्य; बहुश्रुत आदि की आज्ञा के विपरीत चलना, शास्त्र-मर्यादा के खिलाफ आचरण का रखना "विराधना" है।

विराधना मिथ्यात्व का ही रूप है, जो कि आत्मा के लिये अहितकर है।

११—विवेक

हित और अहित का भान होना, अच्छे और बुरे की पहचान होना, व्यवहार योग्य और अव्यवहार योग्य बातों का ज्ञान होना।

१२—विषय

इन्द्रियों के भोग और परिभोग पदार्थ ही विषय कहलाते हैं। मन द्वारा भोग और परिभोग पदार्थों की जो मधुर कल्पना और भोग-कल्पना की जाती है, वही इस संबंध में "मन का विषय" कहा जा सकता है इन्द्रियों के विषय इस प्रकार हैं:—

१—कान के लिये:—जीव शब्द, अजीव शब्द और मिश्र शब्द!

२—आंख के लिये:—देखी जाने वाली वस्तुओं का रूप—काला, पीला, नीला, लाल और सफेद! नाटक आदि का अन्तर्गत इसामें हो गया है!

३—नाक के लिये:—सुगंध और दुर्गंध।

४—जिह्वा इन्द्रिय के लिये:—खट्टा, मीठा; कडुआ; कषायला और तीखा।

५—शरीर के लिये:—ठंडा, गरम; रूखा, चिकना; भारी, हलका, खुरदरा और सुंहाला। इस प्रकार पांचों इन्द्रियों के कुल २३ विषय हैं।

१३—वीतरागता

वीतरागता के दो भेद हैं; १ औपशमिक वीतरागता और २ क्षायिक वीतरागता।

जहाँ मोहनीय कर्म के २८ ही भेद, याने दर्शन मोहनीय के ३, कषाय के १६ और नो कषाय के ९, इस प्रकार कुल २८ ही प्रकृतियाँ पूर्ण रूप से शांत हो जांय; उस अवस्था को औपशमिक वीतरागता कहते है; और यह अवस्था ११ वे गुणस्थान की मानी जाती है।

जहाँ उपरोक्त २८ ही प्रवृत्तियों का जड़ मूल से आत्यंतिक क्षय हो जाता है, जो फिर कभी भी पुन: उत्पन्न होने वाली नहीं है, ऐसी क्षायिक अवस्था को "क्षायिक बीतरागता" कहते है। यह अवस्था बारहवे गुणस्थान से प्रारंभ हो जाती है जो कि मोक्ष-प्राप्ति के बाद भी बराबर कायम रहती है। क्षायिक वीतरागता ही अरिहंत अवस्था है, जो कि सिद्ध अवस्था के रूप में परिणित हुआ करती है। औपशमिक-वीतरागता अस्थायी होती है; जो कि शीघ्र ही पुन: कर्मों के उदय होते ही अवीतरागता के रूप मे परिणित हो जाती है।

राग और द्वेष पर विजय प्राप्त करना ही वीतरागता है। माया और लोभ से राग की उत्पत्ति होती है; तथा क्रोध और मान से द्वेष की उत्पत्ति हुआ करती है।

१४—वीतराग संयम

ग्यारहवें गुणस्थान में रहे हुए आत्मा का संयम औपशमिक वीतराग संयम है। तथा बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में रहे हुए आत्माओं

का संयम क्षायिक वीतराग संयम है। वीतराग-संयम का ही दूसरा नाम "यथाख्यात चारित्र" है।

१५—वृत्ति

व्यवहार अथवा स्वभाव।

१६—वैतरणी नदी

नरक से संबंधित नदी; जिसके लिये उल्लेख है कि, जिसमें खून, पीप, हड्डी, मांस आदि दुर्गंधित और बीभत्स पदार्थ ही भरे पड़े हैं, जिसके जलचर प्राणी बहुत ही तीक्ष्ण पीड़ा पहुंचाने वाले हैं! और जिसको पार करते समय पापी जीव को नाना विधि घोर कष्ट एवं तीक्ष्ण पीड़ाएं सहन करनी पड़ती है।

१७—वेदनीय-कर्म

जिस कर्म के कारण से संसार में जीव को सुख-अनुभव करने का अथवा दुःख-अनुभव करने का प्रसंग प्राप्त हो, वह वेदनीय कर्म है!

इसके दो भेद हैं, १ साता वेदनीय और २ असाता वेदनीय!

१८—वैभव

सभी प्रकार की विशाल और विस्तृत पैमाने पर सांसारिक सुख-सामग्री धन, मकान, यश आदि वैभव के ही अन्तर्गत हैं!

श

१—शब्द

कान इन्द्रिय का विषय है, यह शुभ और अशुभ दो प्रकार का होता है। यह पौद्गलिक है, रूपी है, अनित्य है। क्षण भर में संपूर्ण लोक में फैल जाने की शक्ति रखने वाला है।

२—श्रद्धा

"विश्वास" के अर्थ में प्रयुक्त होता है। सम्यक् दर्शन और श्रद्धा का एक ही अर्थ होता है। "आत्मा, ईश्वर, पाप, पुण्य" आदि मूल-भूत-आस्तिक सिद्धान्तों पर पूर्ण विश्वास करना श्रद्धा है!

श्रद्धा के पांच लक्षण हैं:—१ प्रशम, २ संवेग, ३ निर्वेद, ४ अनुकंपा, और ५ आस्तिकता।

३—श्रावक

जो मनुष्य श्रद्धा के साथ जिन वचनों को सुनता हो, उन पर विश्वास करता हो तथा शक्ति के अनुसार व्रत-नियमों की परिपालना करता हो; और अपनी श्रद्धा को निर्दोष रखता हो; वही श्रावक कहलाता है। श्रावक के १२ व्रत और २१ गुण होते हैं!

४—श्राविका

"श्रावक" शब्द में उल्लिखित गुणों वाली और वैसी ही श्रद्धा वाली तथा तदनुसार आचरण करने वाली, महिला, "श्राविका" है।

५—शील

"ब्रह्मचर्य धर्म" शील कहलाता है। मन, वचन, और काया से, शुद्ध और निर्दोष ब्रह्मचर्य पालना ही शील है।

६—श्रुत-ज्ञान

शास्त्रों के सुनने से, विविध साहित्य के पढ़ने से, चिन्तन से मनन से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह श्रुत ज्ञान है। चौदह पूर्वों का ज्ञान भी श्रुत ज्ञान के ही अन्तर्गत है। आज कल का उपलब्ध संपूर्ण ज्ञान, मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान के ही अन्तर्गत आता है।

७—शुक्ल-ध्यान

सर्व श्रेष्ठ ध्यान, इस ध्यान में केवल विशुद्ध आत्म तत्त्व का और ईश्वर तत्त्व का एवं तटस्थ भाव से लोक का गंभीर, अनुभव एवं चिन्तन मनन होता है। स्थितप्रज्ञ रूप से और अनासक्त भाव से असाधारण सुन्दर विचारों का प्रवाह चलता रहता है। उच्च कोटि के महात्मा को ही इस ध्यान की प्राप्ति हो सकती है। इसके ४ भेद कहे गये हैं:—१—पृथक्त्व

वितर्क सविचार; २ एकत्व वितर्क अविचार; ३ सूक्ष्म क्रिया–अप्रतिपाति और ४ व्युपरत क्रिया अनिवृत्ति।

८—शुभ–ध्यान

श्रेष्ठ, आदर्श, सात्विक विचार-प्रवाह को शुभ-ध्यान कहते हैं। धर्म-ध्यान आर शुक्ल–ध्यान को "शुभ-ध्यान" के अन्तर्गत गिना जा सकता है।

९—शुभ–योग

मन, वचन, और काया की अच्छी प्रवृत्ति को, निर्दोष भाषा–शैली को और सात्विक विचारों को ही शुभ योग कहते हैं! मन शुभ योग, वचन शुभ योग, और काया शुभ-योग; ये तीन इसके भेद कहे जाते हैं! शुभ–योग का विस्तृत और विकसित रूप ही पांच समिति एवं तीन गुप्ति हैं!

१०—शुभ–लेश्या

"लेश्या" का स्वरूप पहले लिखा जा चुका है। छः लेश्याओं में से कृष्ण, नील और कापोत ये तीन लेश्याएं तो अशुभ हैं और तेजो, पद्म आर शुक्ल ये तीन शुभ लेश्याएं कही जाती हैं।

ष

१—षट्–काय

पृथ्वो काय, अप काय, तेउ काय, वायु काय, वनस्पति काय और त्रस काय; ये षट्–काय कहलाते हैं। प्रथम से पाँचवें तक एकेन्द्रिय जीव ही हैं। इनके केवल शरीर ही होता है। त्रस काय में दो इन्द्रिय जीव से पाँच इन्द्रिय वाले जीवों की तथा मन संज्ञा वाले जीवों की गणना की जाती है।

२—षट् द्रव्य

१ धर्मास्तिकाय, २ अधर्मास्तिकाय,

३ आकाशास्तिकाय, ४ काल द्रव्य,

५ जीवास्तिकाय, और ६ पुद्गलास्तिकाय।

इन छः ही द्रव्यों का समूह "षट्-द्रव्य" कहलाता है। इन छः ही द्रव्यों की सामान्य परिभाषा यथास्थान पर इसी कोश में दे दी गई है।

स

१—सम्यक्त्व

नव तत्त्वों पर, षट्-द्रव्यों पर, जिन-वचनों पर, एवं "आत्मा, ईश्वर, पुण्य, पाप" आदि आस्तिक सिद्धान्तों पर पूरा पूरा विश्वास करना ही सम्यक्त्व है!

सम्यक्त्व के साधारण तौर पर दो भेद हैं:—

१. व्यवहार सम्यक्त्व (२) निश्चय सम्यक्त्व! निश्चय सम्यक्त्व के पांच भेद हैं:—

१ सास्वादन सम्यक्त्व, २ औपशयिक—सम्यक्त्व, ३ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, ४ वेदक सम्यक्त्व और ५ क्षायिकसम्यक्त्व।

(१) बाह्य लक्षणों को देखकर याने किसी के देव, गुरु और धर्म के प्रति विश्वास को देख कर उसके विश्वास को सम्यक्त्व के नाम से कहना—व्यवहार सम्यक्त्व है!

(२) निश्चित और निश्शंक रूप से देव, गुरु और धर्म पर विश्वास होना; अचल और अडोल श्रद्धा होना—निश्चय सम्यक्त्व है।

(३) उपशम सम्यक्त्व से गिरते समय एवं मिथ्यात्व का ओर आते समय; जब तक मिथ्यात्व नहीं प्राप्त हो जाय; तब तक मध्य वर्ती समय में जीव के जो परिणाम होतें हैं—उसे ही सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं।

(४) अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, और लोभ, सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय, इन सात मोहनीय प्रकृतियों के उपशम से होने वाले जीव के परिणाम को औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

(५) उपरोक्त सातों प्रकृतियों में से कुछ के उपशम होने पर एवं कुछ के क्षय होने पर जो परिणाम जीव के होते हैं; उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

(६) क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के पूर्व क्षण में जो परिणाम जीव के होते हैं; उसे वेदक सम्यक्त्व कहते हैं !

(७) उपरोक्त सातों प्रकृतियों का जड़ मूल से नाश होने पर याने आत्यंतिक क्षय होने पर; जो परिणाम जीव के होते हैं; उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं !

२—सम्यक् दर्शन

जो सम्यक्त्व की व्याख्या है; वही व्याख्या सम्यक् दर्शन की भी समझना चाहिये ! सम्यक् दर्शन दो प्रकार से पैदा होता है:—(१) स्वभाव से (२) परनिमित्त से !

(१) अनन्त काल से यह जीव नाना जीव-योनियों में भटक रहा है और अनन्त दुःख उठाता रहा है; तदनुसार भटकने से और दुःख उठाने से कर्मों की निर्जरा होती रहती है; और इस कारण से दैव-योग से मोहनीय कर्म के हल्का पड़ जाने पर जीव को बिना प्रयत्न के ही धर्म-मार्ग की रुचि और श्रद्धा पैदा हो जाया करती है; यही स्वभाव जनित सम्यक् दर्शन है !

(२) पर के उपदेश से; पर-प्रेरणा से; सांसारिक अनित्य पदार्थों को देख कर उन द्वारा उत्पन्न वैराग्य से; आदि कारणों से जो सम्यक् दर्शन पैदा होता है; वह पर-निमित्त जनित सम्यक् दर्शन है ।

३—सम्यक् ज्ञान

सम्यक् दर्शन उत्पन्न होने के बाद जीव का ज्ञान "सम्यक् ज्ञान" कहलाता है ।

सम्यक् ज्ञान के पांचों भेदों का "मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्याय और केवल" का स्वरूप यथास्थान पर लिखा जा चुका है । ज्ञान ही आत्मा का असाधारण और अभिन्न मूल लक्षण है । ज्ञान की विकृति को मिथ्या ज्ञान अथवा अज्ञान कहा जाता है । ज्ञान में विकृति मोह और कषाय से पैदा हुआ करती है ।

४—समाधि

मन, वचन और काया की प्रवृत्तिमय चंचलता को हटा कर इन्हें

सात्विक मार्ग म एव धार्मिक आचरण में शांत भाव से संलग्न करना ही समाधि है।

५—समारंभ

आरंभ परिग्रह की सामग्री जुटाना ही समारंभ है।

६—समिति

हिंसा, झूठ आदि पापों से सर्वथा दूर रहने के लिये विवेक और सावधानी के साथ जा जीवन–व्यवहार चलाया जाय; उसे समिति कहते हैं।

समिति के पांच भेद कहे गये हैं:—१ ईर्या समिति २ भाषा समिति ३ एषणा समिति ४ आदान निक्षेप समिति और ५ पारिष्ठापनिका समिति।

(१) कोई जीव पैर से नहीं दब जाय; इस प्रकार राह में सावधानी से चलना; "ईर्या समिति है।

(२) निर्दोष भाषा विवेक पूर्वक बोलना; "भाषा समिति" है!

(३) सब प्रकार से दोषों से रहित आहार पानी, औषधि आदि लेना "एषणा समिति" है।

(४) सावधानी और विवेक के साथ, वस्तुओं को रखना अथवा उठाना ही "आदान—निक्षेप' समिति है।

(५) कफ, मूत्र, मल आदि को ऐसे स्थान पर दीर्घ दृष्टि के साथ डालना कि जिससे किसी को भी हानि नहा हो, वह "पारिष्ठापनिका समिति" है।

"समिति" का नियमानुसार पालन करने से संवर होता है; निर्जरा भी होती है और समयानुसार "उत्तम पुण्य कर्म" का भी संचय होता है।

७—सराग संयम

पांच समिति और तीन गुप्ति के अनुसार जीवन-व्यवहार को चलाना; संयम है। जिस संयम में राग की याने लोभ आदि की थोड़ी सी भी स्थिति रह जाय, वह संयम, सराग संयम कहलाता है।

सराग संयम के चार भेद हैं :—१ सामायिक चारित्र, २ छेदोपस्थापनीय चारित्र. ३ परिहार विशुद्धि चारित्र और ४ सूक्ष्म संपराय चारित्र ।

(१) अमुक समय के लिये अथवा जीवन पर्यन्त के लिये ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करते हुए सदोष प्रवृत्ति का त्याग करके निर्दोष व्यवहार की आराधना ही 'सामायिक' है ।

(२) पांचों महाव्रतों की विशुद्ध परिपालना ही "छेदोपस्थापनीय" चारित्र है ।

(३) साधु अवस्था में शास्त्र की विधि अनुसार अठारह मास तक विशेष तप की आराधना करना ही "परिहार विशुद्धि" चारित्र है ।

(४) जिस साधु-स्थिति में केवल थोड़ा सा भी सूक्ष्म लोभ रह जाय, वह सूक्ष्म संपराय चारित्र है । सूक्ष्म संपराय चारित्र वाला साधु दशवें गुणस्थान का अधिकारी होता है ।

८—सहयोग सम्बन्ध

जहाँ दो पदार्थ साथ-साथ में रहते हों; ऐसी स्थिति परस्पर में "सहयोग-संबंध" कहलाती है ।

९—सागरोपम

असंख्यात वर्षों का एक पल्योपम होता है; और दस करोड़ा करोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम होता है । इस प्रकार अत्यन्त विस्तृत काल के पैमाने को "सागरोपम" कहते हैं !

१०—सात्विक

निर्दोष, श्रेष्ठ, उत्तम, एवं हितकारी ही "सात्विक" कहलाता है ।

११—साधना

इष्ट ध्येय की पूर्ति के लिये पूरी पूरी दत्तचित्तता के साथ उसमें संलग्न रहना ही "साधना" है ।

१२—साध्वी

वह आदर्श महिला, जो कि पांच समिति और तीन गुप्ति का निर्दोष रीति से परिपालना करती हुई अपने जीवन में ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करती हो।

१३ साधु

वह आदर्श पुरुष; जो कि पांच समिति और तीन गुप्ति का निर्दोष रीति से परिपालना करता हुआ अपने जीवन में ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करता हो।

१४—सामायिक

अमुक समय के लिये अथवा जीवन पर्यन्त के लिये ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करते हुए सदोष प्रवृत्ति का त्याग करके निर्दोष व्यवहार की आराधना ही "सामायिक" है। सामायिक दो प्रकार की कही गई है:—

(१) अमुक समय तक के लिये मर्यादित समय की; यह सामायिक गृहस्थों के लिये कही गई है। इसमें दो करण और तीन योग से पाप की निवृत्ति की जाती है।

(२) जो सामायिक जीवन पर्यन्त के लिये ग्रहण की जाती है; वह साधु-सामायिक कहलाती है और यह तीन करण और तीन योग द्वारा ग्रहण की जाती है।

१५—सावद्य-योग

मन, वचन और काया की दोष वाली प्रवृत्ति; एवं पापमय व्यवहार ही सावद्य-योग है।

(१) मन द्वारा अनिष्ट विचार किया जाना और पर के लिये हानिकारक विचारों को ही सोचते रहना "मन-सावद्य-योग" है।

(२) पर को हानि पहुंचानेवाली भाषा बोलना; झूठ बोलना, मर्म घातक शब्द बोलना; अनीतिपूर्ण बोलना; "वचन-सावद्य-योग" है।

(३) शरीर द्वारा पर को हानि पहुंचानेवाली प्रवृत्ति करना, हिंसा, चोरी, मैथुन, परिग्रह संग्रह आदि ढंग की पापपूर्ण प्रवृत्ति करना, गरीबों का

शोषण करना; गैर-जबावदारी के साथ अविवेकपूर्ण कार्य करना; "काय सावद्य-योग" है ।

१६—सिद्ध

जो महापुरुष "संवर और निर्जरा" की आराधना करके आठों ही कर्मों का परिपूर्ण क्षय कर देते हैं और यथाख्यात चारित्र के बल पर अरिहंत होकर मोक्ष में जाते हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं। इन्हें ही ईश्वर और परमात्मा कहा जाता है ।

पन्द्रह प्रकार से सिद्ध होते हैं; और वे इस प्रकार हैं :—

(१) तीर्थंकर होकर जो सिद्ध होते हैं; वे तीर्थकर सिद्ध हैं; जैसे कि—ऋषभ, महावीर आदि ।

(२) सामान्य केवली होकर जो सिद्ध होते हैं; वे अतीर्थंकर सिद्ध हैं :—जैसे कि–जंबू स्वामी आदि ।

(३) चतुर्विध संघ की स्थापना होने के बाद जो सिद्ध होते हैं, वे तीर्थ सिद्ध हैं । जैसे कि :—गौतम आदि गणधर ।

(४) चतुर्विध संघ की स्थापना से पूर्व ही जो सिद्ध होते हैं, वे अतीर्थ सिद्ध हैं; जैसे कि "मरुदेवी" आदि ।

(५) गृहस्थ के वेष में ही जिन्होंने सिद्धि पाई है, वे "गृहस्थलिंग सिद्ध" हैं, जैसे कि भरत चक्रवर्ती आदि ।

(६) सन्यासी आदि अन्य वेष द्वारा मुक्ति पानेवाले "अन्यलिंग-सिद्ध" कहलाते हैं । जैसे कि "बल्कल चीरी–साधु" आदि !

(७) जैन-परम्परा के अनुसार वेष धारण करते हुए मोक्ष पाने वाले "स्वलिंग सिद्ध" हैं; जैसे कि—गजसुकुमार आदि !

(८) "स्त्रीलिंग" में सिद्ध होने वाले "स्त्रीलिंग सिद्ध" हैं, जैसे कि चन्दन बाला आदि ।

(९) "पुरुषलिंग" में सिद्ध होने वाले "पुरुषलिंग सिद्ध" हैं; जैसे कि गौतम आदि !

(१०) "नपुन्सक लिंग" में सिद्ध होने वाले "नपुन्सक लिंग-सिद्ध" हैं; जैसे कि भीष्म आदि !

(११) किसी भा अनित्य पदार्थ को देख कर विचार करते करते ज्ञान प्राप्त हुआ और तत्पश्चात् केवल ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त हुए हों; ऐसे "प्रत्येक बुद्ध" सिद्ध कहलाते हैं; जैसे करकंडु राजा ।

(१२) स्वयमेव ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त किया हो, ऐसे "स्वयंबुद्ध सिद्ध" कहलाते हैं; जैसे कपिल आदि ।

(१३) गुरु उपदेश से ज्ञानी होकर सिद्ध हुए, वे "बुद्ध-बोधित सिद्ध" कहलाते हैं, जैसे अर्जुन माली आदि ।

(१४) एक समय में एक ही मोक्ष जाने वाले "एक सिद्ध" कहलाते है, जैसे महावीर स्वामी आदि ।

(१५) एक समय में अनेक मुक्त होने वाले "अनेक सिद्ध" कहलाते हैं, जैसे ऋषभदेव स्वामी आदि । ये उपरोक्त भेद संसारी स्थिति तक ही हैं, सिद्ध होने के पश्चात मोक्ष में पहुँच जाने के बाद किसी भी प्रकार का भेद वा अन्तर नहा रह जाता है ।

१७—सूत्र

अनेक शब्दों द्वारा कहे जाने वाले, विस्तृत और गंभीर अर्थवाले वाक्यों को बुद्धिमाना के साथ उसके संपूर्ण अर्थ की रक्षा करते हुए अति थोड़े शब्दों में ही, न्यून से न्यून शष्दों में ही गूथ देना अथवा संग्रंथित कर देना "सूत्र-रचना" है। ऐसी शब्द रचना सूत्र कहलाती है, जो कि अति थोड़े शष्दों वाली होती हुई भी विस्तृत और गंभीर अर्थ रखती हो !

संपूर्ण जैन-आगम शब्द-रचना की शैली से अति सूक्ष्म होते हुए भी अर्थ के दृष्टिकोण से विस्तृत और गंभीर हैं, इसीलिए इनका एक संज्ञा सूत्र भी समाज में प्रसिद्ध और रूढ़ हो गई है ।

१८—संत

महती शांति को धारण करने वाला ऋषि-मुनि संत कहलाता हैं

१९—-संयति

पांचों इन्द्रियों और मन के विकारों पर पूरी तरह से विजय प्राप्त करने वाला मुनि अथवा आदर्श पुरुष 'संयति' कहलाता है।

२०—संयम

पांचों इन्द्रियों और मन के विकारों पर पूरी तरह से अथवा अल्प तरह से विजय प्राप्त कर लेना ही संयम है। अथवा हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह, का त्याग करना भी 'संयम' ही कहलाता है।

२१—संयमासंयम

श्रावक और श्राविकाओं का चारित्र 'संयमासंयम' ही कहलाता है।

२२—संयोग

पुण्य के उदय से प्राप्त होनेवाला योग अथवा अच्छा प्रसंग।

२३—संलेखना

यह एक विशेष प्रकार की जीवन-पर्यंत की पाप-दोषों की स्पष्ट और खुली आलोचना और प्रायश्चित है। जब जीवन का अंत अति निकट आया जान लिया जाता है, तब इसका आचरण किया जाता है। इसमें सभी प्रकार के आहार, ममता और परिग्रह से पूर्णतया संबंध विच्छेद कर लिया जाता है. निर्दोष स्थान पर विधि अनुसार शैय्या बिछाकर शेष जीवन पर्यन्त के लिये आहार आदि का त्याग कर गुरु आदि के सम्मुख जीवन भर के पापों का साफ साफ बयान किया जाता है, उनके लिए क्षमा और पूरा पूरा खेद प्रकट किया जाता है। जीव-मात्र के साथ क्षमा मांगते हुए उनसे मैत्री संबंध जोड़ा जाता है। तीन कारण और तीन योग से आहार आदि सभी प्रवृत्तियों का त्याग करके शेष जीवन में ईश्वर-भजन और आत्म-चिंतन में पूरी पूरी तरह से संलग्न हो जाना पड़ता है। मृत्यु के प्रति सर्वथा अनासक्त और निरपेक्ष भावना रखते हुए समय व्यतीत करना पडता हैं। यहीं संलेखना व्रत है। इसके पांच दोष हैं जो कि जानने योग्य है किन्तु आचरण योग्य नहीं है। वे इस प्रकार हैं :—

(१) संलेखना के जीवन में न तो इस लोक संबंधी सुख-धन, राज्य और ऋद्धि की कामना करे।

(२) और न परलोक संबंधी देवता आदि से संबंधित सुख की भावना करे।

(३) यश आदि के लिये विशेष जीवित रहने की भावना भी नहीं रखे।

(४) संलेखना से जनित कष्ट उपसर्ग आदि से छुटकारा पाने के लिये शीघ्र मृत्यु की कामना भी नहीं करे।

(५) मेरी संलेखना तपस्या सच्ची हो तो मुझे आगे पांचों इन्द्रियों के भोगों की और सुख की प्र्प्ति होवे ऐसा नियाणा भा नहीं करे।

२४—संवर

आते हुए नवीन कर्म को रोकने वाले आत्मा के परिणाम को "भाव-संवर" कहते हैं और कर्म-पुद्गलों की रुकावट को "द्रव्य संवर" कहते हैं!

संवर के सत्तावन भेद कहे गये हैं; वे इस प्रकार हैं:—

पांच समिति, तीन गुप्ति, बाइस परिषह, दस प्रकार का यति धर्म, बारह भावना, और पांच प्रकार का चारित्र, इस प्रकार ५७ भेद हैं।

२५—संवेग

सांसारिक भोग, सुख-सामग्री के प्रति उनके घातक परिणामों पर विश्वास करते हुए मोक्ष की अभिलाषा रखना "संवेग" है।

२६—संस्कृति

देशगत, अथवा जाति गत, अथवा धर्म गत संपूर्ण व्यवहार, बिचार, जीवन-प्रणालि और सभी प्रकार की प्रवृत्तियों का सम्मिलित नाम ही "संस्कृति" है। जैसे कि भारतीय संस्कृति, जैन संस्कृति आदि।

२७—स्थविर

दीर्घ कालीन दीक्षित एवं वृद्ध, अनुभवी और योग्य साधु "स्थविर" कहलाते हैं।

२८—स्थावर

जो जीव एकेन्द्रिय हैं और केवल शरीर नामक इन्द्रिय से ही अपना सारा जीवन-व्यवहार चला लेते हैं; वे जीव स्थावर कहलाते हैं। स्थावर के ५ भेद हैं;—१पृथ्वी काय, २ अप काय, ३ तेज काय; ४ वायु, काय, ५ वनस्पति काय,।

२९—स्थित प्रज्ञ

जिसकी बुद्धि, मन, और इन्द्रियाँ चंचल नहा होती हो, जो विषय और विकार द्वारा आकर्षित नहीं होता हो, जो सदैव बिना यश-कीर्ति, और सन्मान की इच्छा रक्खे ही अनासक्त भाव से स्व-पर-हित में संलग्न रहता हो; वही स्थित प्रज्ञ कहलाता है।

३०—स्थिति बंध

आत्मा के प्रदेशों के साथ दूध पानी की तरह मिले हुए कर्म-प्रदेशों का आत्मा के साथ अमुक समय तक बने रहना, आत्म-प्रदेशों के साथ मर्यादित समय तक घुले मिले रहना अथवा बंधे रहना ही स्थिति बंध है। जैसे औषधि का बना हुआ लड्डू कई महिने तक रह सकता है; कोई छः महीने तक और कोई साल भर तक; वैसे ही कोई कर्म अन्तर्मुहूर्त तक रहता है; तो कोई ७० करोड़ाकरोड़ी सागरोपम तक रहता है; तो कोई वर्ष तक। इसी को स्थिति बंध कहते हैं।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय की; चारों की उत्कृष्ट स्थिति तीस करोड़ाकरोड़ी सागरोपम की है। मोहनीय की ७० करोड़ाकरोड़ी सागरोपम की है। नाम, गोत्र कर्म की बीस करोड़ाकरोड़ी सागरोपम की है और आयु की तेतीस सागरोपम की है।

जघन्य स्थिति इस प्रकार की है:—वेदनीय की बारह मुहूर्त्त की; नाम-गोत्र की आठ मुहूर्त्त की और शेष पांच कर्मों की अन्तर्मुहूर्त्त की है।

३१—स्पर्श

शरीर इन्द्रिय का धर्म और गुण; स्पर्श कहलाता है, और उसके आठ भेद हैं; वे इस प्रकार हैं:—१ गुरु, २ लघु, ३ मृदु, ४ खर, ५ शीत, ६ उष्ण, ७ स्निग्ध, और ८ रूक्ष।

३२—स्मृति

पांचों इन्द्रियों और मन द्वारा जाने हुए एवं अनुभव किये हुए पदार्थ का याद आ जाना ही "स्मृति" कहलाती है। स्मृति मतिज्ञान का ही भेद है।

३३—स्याद्वाद

एकान्त एक दृष्टि कोण से ही पदार्थों का विवेचन, ज्ञान और अनुभव नहीं करते हुए अनेक दृष्टि कोणों से पदार्थों का, और द्रव्यों का विवेचन करना, उनका ज्ञान करना और उनका अनुभव करना ही "स्याद्वाद" है।

स्याद्वाद को अपेक्षा वाद, अनेकान्त वाद भी कहते हैं। इसके सात भांगे "अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य" इन तीन शब्दों के आधार से बनते हैं। ज्ञान और नय का सम्मिलित नाम ही स्याद्वाद है। स्याद्वाद के संबंध में विशेष इसी पुस्तक की भूमिका से समझना चाहिये।

क्ष

१—क्षेत्र

क्षेत्र के दो भेद हैं:—१ द्रव्य क्षेत्र और २ भाव क्षेत्र।

(१) भौतिक पदार्थों और जड़ द्रव्यों की पृष्ठ-भूमि को ख्याल में रखकर कहा जाने वाली विवेचन प्रणालि "द्रव्य-क्षेत्र" से संबंधित मानी जाती है।

(२) आत्मा से संबंधित पृष्ठ भूमि को ख्याल में रखकर कही जाने वाली विवेचन प्रणाली "भाव-क्षेत्र" के नाम से बोली जाती है।

त्र

१—त्रस

जो जीव भूख, प्यास, सर्दी, गरमी आदि से अपनी रक्षा करने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकता हो; वह त्रस कहलाता है।

त्रस के ४ भेद हैं:—१ दो इन्द्रिय जीव-२ तीन इन्द्रिय जीव, ३ चार इन्द्रिय जीव और ४ पांच इन्द्रिय जीव !

शरीर और जीभ वाले जीव दो इन्द्रिय जीव हैं, जैसे केंचुआ, जोंक और शंख आदि। शरीर, जीभ और नाक वाले जीव तीन इन्द्रिय जीव हैं, जैसे कि चींटी, खटमल, जूं आदि। शरीर, जीभ, नाक और आंख वाले जीव चार इन्द्रिय हैं; जैसे कि बिच्छू, भौंरा, मक्खी, मच्छर आदि। पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं, एक तो मन वाले; जो कि संज्ञी कहलाते हैं और दूसरे बिना मन वाले, जो कि असंज्ञी कहलाते हैं।

पंचेन्द्रिय जीव के शरीर, जीभ, नाक, आंख और कान-ये पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं।

संज्ञी जीवों में नारकीय जीव, देवता, मनुष्य, और पशु पक्षी, तथा जलचर पंचेन्द्रिय जीव माने जाते हैं!

ज्ञ

१—ज्ञान

जिस शक्ति द्वारा पदार्थों का स्वरूप जाना जाता हो, पदार्थो का निश्चय किया जाता है; वह ज्ञान है। ज्ञान आत्मा का मूल और अभिन्न लक्षण है।

मिथ्या दृष्टि का ज्ञान "अज्ञान" कहा जाता है और सम्यक्-दृष्टि का ज्ञान "सम्यक् ज्ञान" बोला जाता है।

ज्ञान के पाँच भेद हैं:—१ मति ज्ञान, २ श्रुति ज्ञान ३ अवधि ज्ञान, ४ मनः पर्याय ज्ञान और ५ केवल ज्ञान। इनका स्वरूप यथा स्थान पर लिखा जा चुका है।

अज्ञान के ३ भेद हैं:—१ मति अज्ञान, २ श्रुति-अज्ञान और ३ कुअवधि अथवा विपरीत अवधि ज्ञान।

सम्यक् ज्ञान का ही नाम–प्रमाण है। प्रमाण के दो भेद किये हैं:— १ प्रत्यक्ष और २ परोक्ष।

उपरोक्त पाँचों भेद प्रत्यक्ष के ही समझना चाहिये। इसी प्रकार परोक्ष के भी जो पाँच भेद-स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम किये जाते हैं उनका भी मति ज्ञान और श्रुति ज्ञान में अन्तर्भाव समझ लेना चाहिए।

वीतराग-वचन

१. इच्छा हु आगास समा अणंतिया ।

२. रागो य दोसो ऽवि य कम्म बीयं ।

३. लोभो सव्व विणासणो ।

४. सव्वं अप्पे जिए जियं ।

५. काम भोगा विसं तालउडं ।

शब्दार्थ

१. इच्छा तृष्णाएं आकाश के समान अनंत हैं ।

२. राग और द्वेष ही कर्म के बीज हैं ।

३. लोभ सभी प्रकार से विनाश करने वाला है ।

४. आत्मा को भोगों से जीत लेने पर सब कुछ जीत लिया है ।

५. काम भोग ताल पुट यानी हलाहल विष ही है ।